

ओ३म्

ISSN 0974 - 8830

गुरुकुल-शोध-भारती

मूल्याङ्कित शोधपत्रिका

(A Refereed Research Journal)

अंक १३, मार्च २०१०



सम्पादक

प्रो. ज्ञानप्रकाश शास्त्री

प्रोफेसर एवं अध्यक्ष

श्रद्धानन्द वैदिक शोध-संस्थान

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार-249404

कुलपिता, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय



स्वामी श्रद्धानन्द जी

१८५६-१९३६

ओ३म्

गुरुकुल-शोध-भारती

मूल्याङ्कित शोधपत्रिका

(A Refereed Research Journal)

अंक १३, मार्च २०१०



सम्पादक

प्रो. ज्ञानप्रकाश शास्त्री

प्रोफेसर एवं अध्यक्ष

श्रद्धानन्द वैदिक शोध-संस्थान

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार-२४९४०४

सम्पादक-मण्डल

मुख्यसंरक्षक	प्रो. स्वतन्त्र कुमार, कुलपति, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार. (उत्तराखण्ड)
संरक्षक	प्रो. वेद प्रकाश शास्त्री, आचार्य एवं उपकुलपति, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार.
सम्पादक	प्रो. ज्ञान प्रकाश शास्त्री, प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, श्रद्धानन्द वैदिक शोध-संस्थान, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार. (उत्तराखण्ड) चलदूरभाष:-09219513135, gyanprakashshastri@gmail.com or gyanprakashshastri@live.com
परीक्षकत्वम्	प्रो. बलवीर आचार्य, प्रोफेसर संस्कृत-विभाग, महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक (हरयाणा)
व्यवसाय-प्रबन्धक	डॉ. जगदीश विद्यालङ्कार, पुस्तकालयाध्यक्ष, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार. (उत्तराखण्ड)
वित्तनिबन्धक	डॉ. देवराज खन्ना, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार. (उत्तराखण्ड)
प्रकाशक	प्रो. ए.के. चोपड़ा, कुलसचिव, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार. (उत्तराखण्ड)
एक प्रति का मूल्य	रु० ७५.०० पचहत्तर रुपये
वार्षिकमूल्य	रु० १५०.०० एक सौ पचास रुपये
पञ्च-वार्षिकमूल्य	रु० ५००.०० पाँच सौ रुपये (ग्राहक बनने हेतु पुस्तकालयाध्यक्ष, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार, से सम्पर्क अथवा कुलसचिव, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार, के नाम धनादेश प्रेषित करें।) दूरभाष:-01334-243037
प्रकाशनीय शोधलेख	शोधलेख विषयक दिशानिर्देश अन्तिम से पूर्व पृष्ठ में दिये गये हैं।

परामर्शदात्री समिति

१. प्रो. मनुदेव बन्धु, अध्यक्ष वेद-विभाग एवं अध्यक्ष प्राच्यविद्या संकाय, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार. (उत्तराखण्ड)
२. प्रो. ज्ञानचन्द्र शास्त्री, अध्यक्ष मानविकी संकाय, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार. (उत्तराखण्ड)
३. प्रो. ईश्वर भारद्वाज, अध्यक्ष योग-विभाग, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार. (उत्तराखण्ड)
४. प्रो. यू. एस. विष्ट, अध्यक्ष दर्शनशास्त्र-विभाग, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार. (उत्तराखण्ड)

विषय-सूची

१. ऐकपदिक पदों की निर्वचनशैली	प्रो. ज्ञान प्रकाश शास्त्री	१-५
२. वेदेषु मनस्तत्त्वमीमांसा	प्रो० वेद प्रकाशः शास्त्री	६-११
३. वैदिक वाङ्मय में स्व-प्रबन्धन	डॉ० वेदपाल	१२-१७
४. दयानन्दवेदभाष्यवैशिष्ट्यम्	डॉ. अरुणिमा रानी	१८-२७
५. महर्षि दयानन्द के वेद-भाष्य में अग्नि देवता-सूचक गृहस्थ-धर्म	डॉ० सुधीर कुमार आर्य	२८-३३
६. राजशेखर-साहित्य में वैदिक सन्दर्भ	प्रो० राजेश्वर मिश्र	३४-५२
७. ऋग्वेद के वनस्पति पद का अर्थविचार	डॉ. सत्यदेव निगमालंकार	५३-६४
८. वैदिक संहिताओं में विज्ञान जड़-चेतन के परिप्रेक्ष्य में	डॉ० अनिता सेनगुप्ता	६५-७०
९. अथर्ववेदीय नारी का स्वरूप	डॉ० नरेश कुमार	७१-७६
१०. विश्वहिताय वैदिकी अभयभावना	डॉ० विजयलक्ष्मी:	७७-८२
११. जन्द-अवेस्ता पर वेद का प्रभाव	डॉ० दिनेशचन्द्र शास्त्री	८३-८८
	डॉ० अमित कुमार	
१२. वैदिक वाङ्मय में आत्मदर्शन	डॉ० तुलसी देवी	८९-९३
१३. दास-दस्यु एवं शूद्र : वेद के सन्दर्भ में	डॉ० राजेन्द्र विद्यालंकार	९४-१०५
१४. जैन धर्म में मानव चेतना के विकास की प्रणाली	डॉ. ईश्वर भारद्वाज	१०६-११०
	डॉ. उषा लोहान	
१५. उपनिषदों में आर्थिक जीवन की झलक	प्रो० मनुदेव बन्धु	१११-११५
१६. गीता के कर्म सिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में कालिदास की कृतियों का मूल्यांकन	डॉ० बीना कुमारी गुप्ता	११६-१२१
१७. श्रीमद् भगवद्गीता में वर्णित युद्ध की नीतिगत मीमांसा	डॉ. (श्रीमती) सुरचना त्रिवेदी	१२२-१२८
१८. बौद्ध काल में वर्णित आर्थिक संगठन: एक विवेचनात्मक अध्ययन	डॉ० दीपा गुप्ता	१२९-१३३
१९. कबीर का औपनिषदिक दर्शन	डॉ. मृदुला जोशी	१३४-१३८
२०. आर्हतदर्शनगत सम्यक्-चारित्र की वर्तमान में आवश्यकता	डॉ. देवी सिंह	१३९-१४२

२१. शुक्रनीति में वर्णित न्याय व्यवस्था	डॉ० सन्ध्या कुमारी	१४३-१४७
२२. विस्तृत 'कैन्वस' पर अभिराजीय गजल के रंग	डॉ. मंजुलता शर्मा	१४८-१५८
२३. कालिदास का योग-विषयक प्रेम	डॉ. राकेश शास्त्री	१५९-१६५
२४. प्राचीन भारत में स्त्रियों का सम्पत्ति अधिकार	डॉ० रेखा सिंह	१६६-१७२
२५. प्रमुख स्मृतियों में नारी के आर्थिक अधिकारों का मूल्यांकन	डॉ० ऋतु शुक्ला	१७३-१७८
२६. संस्कृत वाङ्मय में राष्ट्रिय भावना	डॉ० मौहर सिंह	१७९-१८७
२७. महर्षिदयानन्दप्रतिपादितानां व्यक्तित्वविकासे योगदानम्	षोडशसंस्काराणां डॉ. कृष्णा आचार्य	१८८-१९७
२८. मनोविज्ञान : भारतीय संदर्भ	डॉ० ब्रजेश कुमार पाण्डेय	१९८-२०२
२९. अभ्यंगः उत्कृष्ट वात शमनोपाय	डॉ० सुनील कुमार जोशी	२०३-२१२
३०. आधुनिक शिक्षाव्यवस्था और वाल्मीकि रामायण	डॉ. ब्रह्मदेव	२१३-२२३
३१. The Basic Doctrines of Humanism in the Vedas & Upanisads	डॉ. रूपकिशोर शास्त्री	२२४-२३१
३२. Vedic Samskars in relation to modern Medical science	डॉ. नीतू मागो डॉ. विशाल मागो	२३२-२३८
३३. विद्वत्-परिचय		२३९-२४१

ऐकपदिक पदों की निर्वचनशैली

प्रो. ज्ञान प्रकाश शास्त्री^१

आचार्य दुर्ग के अनुसार नैगम-काण्ड के ऐकपदिक नामकरण करने में दो हेतु हैं:-प्रथम-अन्य प्राचीन आचार्य नैगम-काण्ड को ऐकपदिक नाम से अभिहित करते हैं। द्वितीय-पूर्व प्रकरण में एक अर्थ के वाचक अनेक शब्दों का पाठ किया गया था, परन्तु प्रस्तुत प्रकरण में अनेक अर्थों के वाचक एक शब्द का प्रतिपद पाठ किया गया है।^२ इससे पूर्व वाले नैघण्टुक प्रकरण में भी गौ, काश, निर्ऋति इत्यादि शब्दों के अनेक अर्थों का प्रतिपादन आचार्य ने किया है, परन्तु वहाँ उन शब्दों के अनेक अर्थ बताना गौण विषय है। नैघण्टुक शब्दों का सङ्कलन अनेकार्थक होने के कारण नहीं, प्रत्युत अमुक अर्थ के वाचक कितने शब्द हैं, इस आधार पर किया गया है।

प्रस्तुत प्रकरण की अपेक्षा नैघण्टुक प्रकरण को गौण माना जाता है और इसी आधार पर उस प्रकरण का नाम नैघण्टुक प्रकरण रखा गया है। नैघण्टुक प्रकरण के गौण होने का कारण यह है कि उसके शब्द सङ्ख्या की दृष्टि से अधिक होते हुए भी अर्थ प्रतीति की दृष्टि से उतने दुरूह नहीं हैं, जितने ऐकपदिक प्रकरण के। इसका कारण यह है कि वे प्रायः किसी एक अर्थ में प्रसिद्ध हैं। जबकि ऐकपदिक प्रकरण के शब्द अनेकार्थक हैं और इस कारण यह निश्चय करना कठिन हो जाता है कि कौन-सा अर्थ यहाँ अभिप्रेत है, इस प्रकार के शब्दों के अर्थ की प्रतीति कराना ही निरुक्त का लक्ष्य है। इसके अतिरिक्त प्रस्तुत प्रकरण में वे शब्द भी आते हैं, जो अनेकार्थक होने के साथ-साथ स्वर-संस्कार की दृष्टि से अनवगत हैं या अनेकार्थक न होते हुए भी अनवगत स्वर-संस्कारवान् हैं। इसलिये निष्कर्ष रूप में यह माना जा सकता है कि निरुक्त का वास्तविक प्रारम्भ यहीं से होता है। किसी भी दृष्टि से अनवगत शब्द के स्वरूप को अवगत बनाना ही निरुक्त का कार्य है और वह यहीं से प्रारम्भ होता है।

इस प्रकार प्रस्तुत प्रकरण में दो प्रकार के शब्द व्याख्या के लिये ग्रहण किये गये हैं, प्रथम-वे जो अनेकार्थक हैं, द्वितीय-वे जो अनवगत स्वर-संस्कारवान् हैं।^३ जहाँ इन दोनों प्रकार के शब्दों की व्याख्या होती है, उस प्रकरण का नाम ऐकपदिक है।

शब्द के अनवगत होने के कारण

शब्द का अर्थ किन-किन कारणों से मिथ्या ग्रहण होता है, इस विषय को स्पष्ट करने के लिये आचार्य दुर्ग बृहदेवता के निम्न श्लोक को उद्धृत करते हैं:-

‘शब्दरूपं पदार्थश्च व्युत्पत्तिप्रकृतिर्गुणः।

सर्वभेदनेकार्थं दशानवगमे गुणाः।’^४

दुर्ग के अनुसार अनवगत होने के निम्न दश कारण हैं:-१.पदजाति, २, अभिधेय, ३.स्वर, ४.संस्कार, ५.गुण, ६.विभाग, ७.क्रम, ८.विक्षेप, ९.अध्याहार, १०.व्यवधान।^५ परन्तु ये कारण उपर्युक्त बृहदेवता के वचन से

१ अध्यक्ष श्रद्धानन्द वैदिक शोधसंस्थान, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

२ दुर्ग, निरुक्तवृत्ति, पृ०, २९३.

३ दुर्ग, निरुक्तवृत्ति, पृ०, २९३.

४ बृह०, २.१०८. दुर्ग, निरुक्तवृत्ति, पृ०, ३०१.

स्पष्ट नहीं होते हैं। इसके अतिरिक्त उपर्युक्त श्लोक में अनवगत होने का सर्वप्रमुख कारण 'शब्दरूप' बताया गया है, दुर्गा ने अनवगत होने के कारणों में उसका परिगणन नहीं किया है।

१. पदजाति-नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात-इनमें से पद किस जाति का है, यह अनिश्चय भी पद के अनवगत होने में एक महत्वपूर्ण कारण है, जैसे-'त्व' यह निपात है या नाम।

२. अभिधेय-अनवगत होने का सर्वप्रमुख कारण पद के अर्थ का ज्ञात न होना है, जैसे-'शिताम' यहाँ अर्थ (भुजा, योनि यकृत तथा मेद इत्यादि) के अनवगत होने के कारण भिन्न-भिन्न अर्थ के आधार पर 'शिताम' पद को भिन्न-भिन्न प्रकार से व्युत्पन्न किया गया है। इसलिये अभिधेय भी शब्द के अनवगत होने का प्रमुख कारण है।

३. स्वर-पद का स्वर अनवगत रहने से भी पदार्थ अनवगत रहता है, जैसे-'वने न वायो'^६ यहाँ मन्त्रगत 'वायः' पद को आचार्य शाकल्य एक पद नहीं मानते, उनके अनुसार 'वा' तथा 'यः' ये दो पृथक्-पृथक् पद हैं, किन्तु यह उचित नहीं है, ऐसा विग्रह करने से प्रथम तो मन्त्र का अर्थ अपूर्ण रह जाता है तथा दूसरा 'न्यधायि' आख्यात पद उदात्त हो जाएगा।^७ इस प्रकार पद-स्वर के कारण भी पद अनवगत हो जाता है।

४. संस्कार-प्रकृति-प्रत्यय आदि का स्पष्ट न होना भी पद के अनवगत होने का एक कारण है, जैसे-'ईर्मान्तासः' इस पद के प्रकृति-प्रत्यय के स्पष्ट न होने के कारण दो अर्थ ग्रहण किये जा सकते हैं, प्रथम-'ईरयन्तीति ईर्माः विस्तृतः, ईर्माः समीरिताः अन्ताः येषां ते ईर्मान्तासः=सुनिर्मित लम्बे अन्तभाग वाले। द्वितीय-'ईर्मः ईरितः पुरोभागे उन्नतः अन्तो जघनो येषाम्=किं जिनके जघनों का अन्तिम भाग स्थूल है।'^८ इसलिये संस्कार की अस्पष्टता भी अर्थ अनवगत होने का कारण है।

५. गुण-गुण अर्थात् विशेषण के कारण भी अर्थ अनवगत हो जाता है, जैसे-'करुउती'। भग पद के समीप पठित होने से 'करुउती' को सामान्यतया 'भग' पद का विशेषण माना जाना चाहिये, पर पूषा विना दाँत का होता है और 'करुउती' का अर्थ भी यही है, इसलिये उसे पूषा का विशेषण माना जाता है। अतः, विशेषण के अवगत न होने के कारण भी अर्थ अन्वित नहीं हो पाता है।

६. विभाग-पद-विभाग के अवगत न होने पर भी अर्थ अनवगत हो जाता है, जैसे-'मेहना'। यह पद 'महि' वृद्धौ^९ धातु से 'मंहितुं वर्द्धितुं योग्यमिति मेहना' इस प्रकार व्युत्पन्न किया जा सकता है। द्वितीय-'म+इह+ना'=यन्म इह नास्तीति वा^{१०} इस प्रकार से भी निष्पन्न कर सकते हैं। ये दो प्रकार के अर्थ पद-विभाग के अवगत न होने के कारण हैं।

७. क्रम-जहाँ वाक्यार्थ किसी अन्य क्रम की आकाङ्क्षा से युक्त है तथा वाक्य का पदक्रम किसी अन्य क्रम में है, जैसे-'उपरमध्वं मे वचसे सोम्याय'^{११} मन्त्र में यह पदक्रम है, जबकि पदक्रम निम्न होना चाहिये-'मे सोम्याय वचसे उपरमध्वम्।' इस प्रकार पदक्रम के भङ्ग हो जाने से अर्थ अनवगत रह जाता है।

५ दुर्गा, निरुक्तवृत्ति, पृ०, ३०१-३०२.

६ ऋ०, १०.२९.१. दुर्गा, निरुक्तवृत्ति, पृ०, ३०२.

७ निरु०, ६.२८.

८ निरु०, ४.१३.

९ धातु०, १.६२३.

१० द्रष्टव्य, निरु०, ४.४. CC-0. JK Sanskrit Academy, Jammu. Digitized by S3 Foundation USA

११ ऋ०, ३.३३.५.

८.विक्षेप-क्वचित् समस्त रूप से प्रयुक्त होने वाले पद को विगृहीत करके दूर-दूर विक्षेप कर देते हैं, जैसे-‘द्यावा नः पृथिवी इमं सिन्धुमद्य’^{१२} इस मन्त्र में सामान्यतया समस्त रूप में पढ़े जाने वाले द्यावा, पृथिवी पदों का पृथक्-पृथक् पाठ किया गया है। इस कारण भी अर्थ अनवगत रह जाता है।

९.अध्याहार-क्वचित् अध्याहार करके अर्थ को अवगत करना पड़ता है, जैसे-‘दनो विश इन्द्र’^{१३} इस मन्त्र के प्रसङ्ग में आचार्य यास्क ने दकार के आधार पर ‘दानमनसः’ पद का अध्याहार किया है।^{१४} इस प्रकार क्वचित् विना अध्याहार किए भी अर्थ अनवगत रहता है।

१०.व्यवधान-कभी-कभी अर्थ की दृष्टि से समीपस्थ पद को व्यवधान देकर रखा जाता है, जैसे-‘वायु पूषा स्वस्तये नियुत्वान्’^{१५} यहाँ ‘वायु’ के साथ ‘नियुत्वान्’ पद का सम्बन्ध है, परन्तु ‘पूषा’ और ‘स्वस्तये’ इन दो पदों के मध्य में डालकर तब ‘नियुत्वान्’ शब्द को रखा गया है।^{१६} इस कारण भी अर्थ अनवगत हो जाता है।

आचार्य दुर्गा कहते हैं कि पद के अर्थ के अवगत करने के लिये निम्न युक्तियाँ और काम में लायी जाती हैं, जैसे-‘वयः प्रपतान् पुरुषादः’^{१७} मन्त्र में आये ‘पुरुषादः’ एक प्रतीत होने वाले पद को, आचार्य दो पद मानकर विग्रह करते हैं, १.पुरुषान्, २.अदनाय।^{१८}

२.कहाँ दो पदों को मिलाकर एक पद कर लेते हैं, जैसे-‘चकारगर्भं सनितुर्निधानम्’^{१९} इस मन्त्र में आये ‘गर्भम्’ और ‘निधानम्’ पदों को मिलाकर ‘गर्भनिधानम्’ एक पद कर लेते हैं।

३.कहीं आख्यात पद को भी नामपद मानकर अर्थ करते हैं, जैसे-‘विश्वेदिन्द्रस्य भक्षत’^{२०} इस मन्त्र में आये ‘भक्षत’ पद का आचार्य ने ‘विभक्ष्यमाणः’ नामपद रूप अर्थ किया है।^{२१}

आगे आचार्य दुर्गा कहते हैं कि पूर्वोक्त १० प्रकार से अर्थ अनवगत होने पर अभिधेय को ध्यान में रखकर निर्वचन करना चाहिये।^{२२} परन्तु दुर्गा ने यहाँ स्पष्ट नहीं किया है कि जहाँ अर्थ अनवगत हो, वहाँ किस विधि से अर्थ की प्रतीति होगी? वैसे दुर्गा इस समस्या का समाधान पीछे दे आये हैं। उनके अनुसार अनवगत अर्थ को अवगत करने के लिये निम्न उपाय अपनाये जाने चाहिये-१.प्रकरण, २.पूर्वोत्तरपदाविरोध, ३.शब्दसारूप्य।^{२३}

१.प्रकरण-अनवगत अर्थ को अवगत करने के लिये सर्वप्रथम प्रकरण को देखना चाहिये और जब प्रकरण का निश्चय हो जाये, तब-

१२ ऋ०, २.४१.२०.

१३ ऋ०, १.१७४.२.

१४ निरु०, ६.३१. दुर्गा, निरुक्तवृत्ति, पृ०, ५९९.

१५ ऋ०, ७.३९.२.

१६ निरु०, ५.२८. दुर्गा, निरुक्तवृत्ति, पृ०, ४८७.

१७ ऋ०, १०.२७.२२.

१८ निरु०, २.६. दुर्गा, निरुक्तवृत्ति, पृ०, ३०३.

१९ ऋ०, ३.३१.२.

२० ऋ०, ८.९९.३.

२१ निरु०, ६.८. दुर्गा, निरुक्तवृत्ति, पृ०, ३०३.

२२ दुर्गा, निरुक्तवृत्ति, पृ०, ३०१.

२३ दुर्गा, निरुक्तवृत्ति, पृ०, २९६.

२. पूर्वोत्तरपद अविरोध-उस अनवगत अर्थ वाले पद के लिये इस प्रकार के अर्थ की कल्पना करनी चाहिये कि जो प्रकरण के पूर्व तथा उत्तरपदों को देखते हुए असङ्गत प्रतीत न हो।

३. शब्दसारूप्य-प्रकरण तथा पूर्वोत्तरपद अविरोध के साथ-साथ इस बात का भी ध्यान रखना चाहिये कि जिस अर्थ की कल्पना उस अनवगत अर्थ वाले पद के लिये की जा रही है, उस अर्थ के वाचक शब्द (ध्वनिरूप) का भी अपने अर्थ के साथ अवश्य सामञ्जस्य होना चाहिये।

४. आकाङ्क्षित अर्थ-उपर्युक्त उपायों के अतिरिक्त अनवगत पदों की समस्या का समाधान करने के लिये आचार्य दुर्ग ने एक और महत्त्वपूर्ण युक्ति प्रस्तुत की है, वह यह है कि संस्कार की दृष्टि से अनवगत तथा अर्थ की दृष्टि से गौण पदों में उनकी सामर्थ्य के अनुसार आकाङ्क्षित अर्थ का अवस्थापन करना चाहिये।^{१४}

अर्थ को अवगत कराने के लिये उपर्युक्त दुर्गकृत प्रतिपादित उपायों पर आचार्य यास्क के निम्न वचनों का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है:- १. अर्थनित्यः परीक्षेत।^{१५} २. नैकपदानि निर्ब्रूयात्।^{१६} शब्द सारूप्य तथा आकाङ्क्षित अर्थ- ये दो उपाय आचार्य दुर्ग के चिन्तन का परिणाम हैं। अप्रत्यक्ष रूप से शब्द-सारूप्य का आधार यास्क का निर्वचन-सिद्धान्त है तथा आकाङ्क्षित अर्थ का आधार सम्भवतः, काव्यशास्त्र है।

निर्वचन करने के उपाय

उपर्युक्त पङ्क्तियों में शब्द अनवगत होने के दुर्ग ने १० कारण प्रतिपादित किये हैं, उनका समाधान आचार्य दुर्ग ने यह कहकर किया है कि अभिधेय को ध्यान में रखकर निर्वचन करना चाहिये। उसी क्रम में आचार्य दुर्ग कहते हैं:-

धातूपसर्गावयवगुणसत्त्वं द्विधातुजम्।

बह्वेकधातुजं वापि पदं निर्वाच्यलक्षणम्॥

धातुजं धातुजाज्ञातं समर्थार्थजमेव वा।

वाक्यं व्यतिकीर्णं च निर्वाच्यं पञ्चधा पदम्॥^{१७}

१. धातु-उपसर्ग-अवयवगुणसत्त्व, २. द्विधातुज, ३. बहुधातुज ४. एक धातुज, ५. केवल धातुजरूप (आख्यात में उस धातु का प्रयोग न होना), ६. धातुज से उत्पन्न अर्थात् तद्धित प्रत्ययान्त, ७. समर्थार्थज, ८. वाक्यज, ९. व्यतिकीर्ण।

इस प्रकार आचार्य दुर्ग ने बृहदेवता की उपर्युक्त कारिकाओं के माध्यम से यह प्रतिपादित किया है कि अनवगत शब्द को अवगत बनाने के लिये उपर्युक्त नव उपाय आवश्यकतानुसार अपनाये जा सकते हैं। 'विशयवत्यो हि वृत्तयो भवन्ति'^{१८} के प्रसङ्ग में आचार्य यास्क ने जिन शब्द प्रवृत्तियों का विवेचन किया है, उन्हीं को यहाँ आचार्य दुर्ग ने पुनः आचार्य शौनक के मुख से प्रस्तुत कराया है।

१४ दुर्ग, निरुक्तवृत्ति, पृ०, २९८.

१५ निरु०, २.१.

१६ निरु०, २.३.

१७ शौनक, बृहदे० २.१०३-४. दुर्ग, निरुक्तवृत्ति, पृ०, ३०१.

१८ निरु०, २.१.

ऐकपदिक शब्दों की व्याख्याशैली

ऐकपदिक प्रकरण की व्याख्या-शैली का स्वरूप दुर्ग निम्न श्लोक के द्वारा स्पष्ट करते हैं-

‘तत्त्वं पर्यायशब्देन व्युत्पत्तिश्च द्वयोरपि।
निगमो निर्णयश्चेति व्याख्येयं नैगमे पदे।’^{२९}

१. तत्त्वं पर्यायशब्देन-पर्यायवाची शब्द के द्वारा तत्त्व (वास्तविक अर्थ) की प्रतीति कराना, जैसे-‘निधा’ पद का अर्थ ‘पाश्या’ होता है।

२. व्युत्पत्तिश्च द्वयोरपि-दोनों शब्दों की व्युत्पत्ति, जैसे-‘निधा’ यन्निधीयते। पाश्या पाश- समूहः’ और इसके पश्चात् पदार्थ की व्युत्पत्ति बतलाते हैं:-पाशः पाशयतेर्विपाशनात्।^{३०}

३. निगमः-अमुक मन्त्र में अमुक अर्थ का वाचक अमुक शब्द प्रयुक्त होता है, जैसे-‘वयः सुपर्णा.....निध्येवबद्धान्’^{३१} इस मन्त्र में ‘निधा’ पद ‘पाश’ अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

४. निर्णयः-अन्त में निर्णय करना है कि अमुक शब्द का वस्तुतः अमुक अर्थ है, जैसे-निर्णय करना ‘पाश्या’ ही ‘निधा’ है।

आगे आचार्य दुर्ग कहते हैं कि इस प्रकरण में एक शब्द के अनेक अर्थ प्रतिपादित किये जायेंगे और वे अनेक अर्थ भी अनेक शब्दों के द्वारा वाच्य हो सकते हैं। इस प्रकार एक-दूसरे के विशेषण और विशेष्य होते हुए इनकी ऐकपदिक प्रकरण में व्याख्या की जायेगी।^{३२}

यह व्याख्या भी दो प्रकार की है-एक में पर्यायवाची शब्द के द्वारा अर्थ का प्रतिपादन तथा दूसरे में शब्द की व्युत्पत्ति प्रदर्शित की जाती है। इस प्रकार एक व्याख्या अर्थ का परिज्ञान कराती है और दूसरी शब्द का। इन दोनों व्याख्याओं को यथासम्भव एक ही मन्त्र में निर्दिष्ट करने का प्रयास किया जायेगा।^{३३}

इस प्रकार निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि आचार्य दुर्ग की निर्वचन शैली का स्वरूप यह है कि अनवगत पद में उस अर्थ की कल्पना करनी चाहिये कि जिस अर्थ को ग्रहण करने से पद समर्थ हो जाये तथा वाक्य के पदों के मध्य आकाङ्क्षा शेष न रह जाये।^{३४}

२९ दुर्ग, निरुक्तवृत्ति, पृ०, २९२.

३० निरु०, ४.२. दुर्ग, निरुक्तवृत्ति, पृ०, २९६.

३१ ऋ०, १०.७३.११. निरु०, ४.३.

३२ दुर्ग, निरुक्तवृत्ति, पृ०, २९२.

३३ दुर्ग, निरुक्तवृत्ति, पृ०, २९३.

३४ दुर्ग, निरुक्तवृत्ति, पृ०, २९८.

वेदेषु मनस्तत्त्वमीमांसा

प्रो० वेद प्रकाशः शास्त्री^१

चेतनाबद्ध निखिलं जगद् विद्यते। चेतनामेवाधारीकृत्य सर्वज्ञानं विज्ञानं च शब्दब्रह्मणा प्रकाशयते। परमात्मना मानवाभ्युदयार्थं यदपेक्षितं ज्ञानं तदेव वेदमाध्यमेन प्रदत्तम्। अत एवोच्यते-

अनादि निधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा।

आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः॥

मानव बुद्धि विनिर्मिते शास्त्रनिकरे मनोजगत बहुधा व्याख्यातं विद्यते। परं येनापि मतिमता मनीषिणा मनस्तत्त्व विचिन्तने या प्रतिभा प्रकटिता तन्मूले वेदविद्यैव विभासते। वेदेषु मनस्तत्त्वं यदाख्यातं तदेवाविकलतया सर्वाङ्गत्वेन विकलतयैकाङ्गत्वेन च मनस्तत्त्वविवेचन संपृक्तधिया धीमता समुदीरितम् अद्यत्वे वैज्ञानिके युगे मनोविज्ञानविद्भिर्मनोविषये यद्यद् महदूहनं क्रियते तत्सर्वं बीजत्वेन वेदे प्रविद्यते। मनोविज्ञान वेतारः सम्प्रति स्नायुमण्डलं, संवेदनां, प्रत्यक्षीकरणं, ध्यानं, शिक्षणं, स्मरणं, विस्मरणं, कल्पनां, चिन्तनं, अनुभूतिं, संवेगं, प्रेरणां, चेतनां, स्वप्नं, बुद्धिं योग्यतां, व्यक्तित्वं वंशानुक्रमतां सफलतां विफलताञ्च मनोविज्ञान विद्यया ध्यायन्ति। एतत् सर्वं चिन्तनं वेदेषु पदेपदे मन्त्रेषु विलोक्यते। अथर्ववेदस्यैकस्मिन् मन्त्रे यज्ञवेदिमधिष्ठितेन यज्ञकर्त्रा यजमानेन निगद्यते यद् यज्ञाग्नौ हव्यं प्रयच्छता मया मनसा मनन शक्तिरवाप्यते, प्रेरणात्मकगुणोऽनुगृह्यते, चेतसा चेतनानुचीयते, धिया अवधानत्वमवाप्यते आकूत्या संकल्पः संकल्प्यते, संवेगोऽभिवर्ध्यते, चित्तेन चिन्त्यते विचिन्त्यते स्मर्यते विस्मर्यते, मत्या बुद्धि व्यापारो वितन्यते ज्ञानशक्तिरुपचीयते, श्रुतेन श्रवणाध्ययनमभिवर्ध्यते चक्षसा परिवर्धनपुरःसरं प्रत्यक्षीकरणमनुभूयते। मन्त्रेऽस्मिन् मनसो विविधाः शक्तयः बहवश्च गुणा अष्टधात्वेन समाख्याता यार्थाध्यविधिना- यथा

मनसे चेतसे धिय आकूतय उत चिन्तये।

मत्तै श्रुताय चक्षसे विधेम हविषा वयम्॥^२

संकल्पशक्तिस्रोतोमनः-

मनुष्या मनसः प्रोद्भूतेन संकल्पजेन बलेन बलवतां प्रकटयन्तः शुभे वा अशुभे वा कर्मणि भवन्ति प्रवृत्ताः। सत्संकल्पेन सत्कर्मनिपुणा असत्संकल्पेन चासत्कर्म निपुणा भूत्वा सुखं वा दुःखं वा जनयन्ति। शिवसंकल्पी देवानपेत्य दिव्यतां प्रसारयन् प्रसरति पुरस्ताद्विर्वाधं, अशिवसंकल्पी रक्षांसि व्युपेत्य, अदिव्यतां प्रसारयन् प्रसरति पुरस्ताद् सबहुबाधमनुदिनम्। वेदे सत्संकल्पनाय मनुष्या दिव्यया वाचा निर्दिष्टाः यथा-

मनसा संकल्पयति तद् देवाँ अपि गच्छति।

अथोह ब्रह्माणो वशाम् उप प्रयन्ति याचितुम्॥^३

मनसः काममाकूति वाचः सत्यमशीया

पशूनाँ रूपमन्नस्य रसो यशः श्रीः श्रयतां मयि स्वाहा॥^४

१ आचार्य उपकुलपतिश्च गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालयः, हरिद्वारम्

२ अथर्व ६/४१/१

३ अथर्व १२, ४, ३१

वेदेमनो विद्यतेऽनश्चरम्-

अनश्चरं दिव्यं रूपम् अतित्वरया गत्या प्राप्तुं देवा यथा देवान् हविषा प्रीणयन्ति तथैव प्रसन्नेन मनसा मनुष्या मनुष्यान् सार्थयन्ति। वयं सर्वे मनुष्या मनसः शक्त्या शक्तिमन्तो भवेम। यथा मनो नास्ति परिमितम् तथैव संसाध्यमनः संसारे वयमप्यपरिमिता स्याम। यत् शक्त्या द्युलोकं द्युतिं वेति जनो यत् शक्त्या व्योम विलोकयति यत् शक्त्या पृथिवीप्रथितां पश्यति। येन मनोबलेन पुरुषो दूरस्थोऽप्यदूरस्थ इव अदूरस्थोऽपि दूरस्थ इव भवति तन्मनोबलं दिव्यमेव। सर्वादिव्यशक्तयो मनसि संस्थिताः।

यथा देवा देवान् हविषायजन्त अमर्त्यान् मनसाऽमर्त्येन।

मदेम तत्र परमे व्योमन् पश्येम तदुदितौ सूर्यस्य॥^४

अवः परेण पितरं यो अस्यवेद अवः परेण पर एनावरेण।

कवीयमानः क इह प्रवोचद् देवं मनः कुतो अग्निं प्रजातम्॥

वेद मन्त्र पठनानन्तरं विज्ञायते यत् सर्वासां शक्तीनां स्रोतो नु मन एव/मनस्विनो मनसि महान् वेगो भवति अत एव महद्भिर्वेदविद्भिर्मनसो वेगवत्ता वायोरपि वरीयसीति कथितम्। मनसा वायुना सप्तविंशति गन्धर्वैश्च मनुष्यरुपापन्नमश्वमाश्रित्य जवत्वमाहितम्-यथा-

वातो वा मनो वा गन्धर्वाः सप्तविंशतिः

ते अग्ने अश्वमयुञ्जन् ते अस्मिन् जवमादधुः।^५

न वै वातात् किञ्चन आशीयोऽस्ति न मनसः किञ्चन आशीयोऽस्ति तस्मादाह वातो वा मनो वेति॥^६

लोके मनसो गतिरतितीव्रा भवति, विचारैः सह मनो वा मनसा सह विचारा वा दूराद्दूरं प्रयान्ति। केनापि यन्त्रेणाश्वस्य वायोर्वागतिरनुमाप्यते परं मनसो गतिरननुमेयाननुमाप्या च कस्यचिदन्यस्य गतिरेकस्यांदिशि प्रभवति परं मनसो गति विश्वव्यापिनी भवति क्षणांशेनापि का लेन। यथा

यथा मनो मनस्केतैः परापतत्याशुमत्।

एवा त्वं कासे प्रपत मनसोऽनुप्रवाच्यम्॥^७

यत् ते दिवं पृथिवी मनो जगाम दूरकम्।

तत् त आवर्तयामसि इह क्षयाय जीवसे॥^८

यत् ते विश्वमिदं जगत् मनो जगाम दूरकम्।

तत् आवर्तयामसि इह क्षयाय जीवसे॥^९

आ ते मह इन्द्रोऽत्युग्र समन्यवो यत् समरन्त सेनाः।

पताति दिद्युन् नर्यस्य बाह्वोर्मा ते मनो विश्वदूरयन् विचारीत्॥^{१०}

४ यजु० २९/४

५ अथर्व ७/५/३

६ मनु९-७

७ शत-५/१/४/८

८ अथर्व ६/१०५/१

९ ऋक् १०/५८/२

१० ऋक् १०/५८/१० CC-0. JK Sanskrit Academy, Jammumu. Digitized by S3 Foundation USA

११ ऋग् ७/२५/१

सत्त्वगुणशालिभिर्मनीषिभि स्तपश्चर्या शमित किल्बिषैः सूक्ष्मतया मनसि वर्तमाना ज्ञान सत्ता संदृष्टा। ब्रह्मणः सत्तां मनस्यनुभूय तत्त्वविदा तपस्विना “मनो वै ब्रह्म इति निगद्य” “मनो ब्रह्मा इत्युदीर्य” “मनो वै प्रजापतिः” “मन एव सर्वम्” “अनन्तं वै मनः” “मनो देवः” “मनो वै समुद्रः” इत्यादीनि पीयूषवर्षीणि वाक्यानि प्रथितानि। शतपथ ब्राह्मणे मनसोऽग्निरुपमालोक्य मनो वै अग्निः” इति निगद्य अग्निसत्तया सह मनो वर्णनं कृतम्। यथा अग्निः सर्वत्र गच्छति सर्वं जीवयति सर्वेषु प्राणं सञ्चारयति तथैव मनुष्योऽपि मनसा आत्मसत्तां प्रसारयति दुर्भावं मनोबलेन नाशयति, ऋतस्य सूक्ष्मतां मनसः सूक्ष्मशक्त्या पश्यति। विश्व धारका ये शाश्वतिका ऋतस्य तन्तवः सन्ति तान् ऋतस्य तन्तून् मनसा मिमाति मनुष्यः। साधकः साधनां संसाध्य मनसि वर्तमानया चिन्तन शक्त्या भूतकाले यज्ञातं तत्सर्वं पश्यति वर्तमाने काले यज्ञायते तदपि जानाति यद् अद्य ना अपितु श्वो भविष्यति तत्सर्वं ज्ञातुं प्रभवति। मनसः सूक्ष्मतत्त्वज्ञातृतायां त्रिकालज्ञतायां मन्त्रद्वयी प्रस्तूयते। यथा-

अष्टधा युक्तो वहति वह्निरुग्रः पिता देवानां जनिता मतीनाम्।

ऋतस्य तन्तुं मनसा मिमानः सर्वा दिशः पवंते मातरिश्वाः।^{१२}

यत् ते भूतं च भव्यं च मनो जगाम दूरकम्।

तत् त आ वर्तयामसि इह क्षयाय जीवसे॥^{१३}

मनसि निर्देशान शक्तिः-

कदाचित् पुरुषाणां मनसि संकल्पा विकल्पाः प्रादुर्भवन्ति। कर्तव्याकर्तव्य विषये पुरुषो न भवति निश्चलः अतस्तस्य हृदयं दुःखावेष्टितं भवति तदा मनुष्य हृदयं ऋतस्य जिज्ञासायां मनः कथयति यन्मे मित्राणि सन्ति दुःखितानि कुर्वन्ति च विलपनम्। हर्षशोक चिन्ता क्षोभादि विषये यदा निर्देशनावश्यकता भवति तदा मन एव भवति निर्देशकः। हृदयगतं दुःखं द्रोहं शत्रुतां विपन्नतां क्षीणतां दीनतां मन एव सुखेन प्रेम्णा मैत्र्या-सम्पन्नतया-पूर्णतया साहसतया च यथासंख्येन परिणमयति। यस्मिन् काले पुरुष आत्मानं नाशयितुं मिच्छति तस्मिन्नेव काले मनसः शक्तिमवाप्य जीवितुमिच्छति। कदापि चिन्तयति यन्नष्टोऽहंजातः कदापि चिन्तयति हृष्टोऽहं पुष्टोऽहं पूर्णोऽहमस्मिजातः।

आ यन्मा वेना अरुहन्वृत्तस्यै, एकमासीनं हर्यतस्य पृष्ठे।

मनश्चिन्मे हृद आ प्रत्यवोचद् अचिक्रन्दन शिशुमन्तः सखायः॥^{१४}

ऋग्वेदस्यैकस्मिन् मन्त्रे दृश्यते यत् मन एव अक्षय्यं ज्ञानं विभर्ति। परमात्मना ज्ञानमयेन तपसा मनसा वेदत्रयी घृता। शरीरेवर्तमानः प्राणवायुरेव मनसा अभि हतेनाग्निना प्रेरितो भूत्वा भवति स्वरोत्पादकः। तेजस्विनीं ज्योतिष्मती वाचं मनसि संस्थाप्य तपोबलेन तामुदीर्य जगत्कल्याणाय प्रवर्तन्ते महामनीषिणाः। यथा-

पतङ्गे वाचं मनसा बिभर्ति तां गन्धर्वोऽवदद् गर्भेऽन्तः।

तां द्योतमानां स्वर्यं मनीषिणाम् ऋतस्य पदे कवयो नि पान्ति॥^{१५}

यत्र ऋग्वेदस्य यजुर्वेदस्य सामवेदस्याथर्वस्य च प्रत्यक्षपदवाच्याः परोक्षपदवाच्या आध्यात्मिक पदवाच्याश्च मन्त्रास्तिष्ठन्ति। सर्वाणि तपांसि विततानि रथनाभौ यथा अरा आश्लिष्टास्तथैव मनसा भवन्ति समाश्लिष्टा

सर्वे वेदाः। सर्वासां प्रजानां चित्तं यत्र सर्वथोतं प्रोतं भवति तदैव मन इति निगद्यते। मनस एव शिवां संकल्पशक्तिं प्रेरयितुं साधकस्तपस्वी प्रार्थयते सर्वज्ञं परमात्मानम्।

यस्मिन्नुचः साम यजुषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः।

यस्मिंश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥

जाग्रतः पुरुषस्य यथा मनो सुदूरमपि समीपमपि स्वर्गतिं करोति तथैव सुप्तस्यापि पाश्र्ववर्ति दूरवर्ति च भवति। एतन्मनः सर्वेषां ज्योतिषां ज्योतिर्विद्यते एतद् विना नहि किमपि विचारयितुं कर्तुं विकर्तुम् अपकर्तुं प्रभवति यथा-

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति।

दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु॥^{१६}

येन मनसा श्रद्धया कर्मवीराः सात्विकवृत्त्या यज्ञं वितन्वन्ति वाचावाचं योजयन्ति देवैर्देवानुद्बोधयन्ति च तस्य मनसः शिवसंकल्पता समीहिता-

येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः।

यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मेमनः शिव संकल्पमस्तु॥^{१७}

मानसिक्या शक्त्या अखण्डं ज्ञानं प्राप्यते यत् एव "प्रज्ञानं मन" ज्ञानरूपं मन इति निगद्यते। ज्ञातस्य वस्तुनः स्मरणं मनसैव क्रियते अत एव स्मृति कोशो मनः। मनसैव कर्म क्रियते मनसा वागुच्यते मनसा दृश्यते मनसा समूह्यते। सुखदुःखयोः स्थली मन एवं मनसश्च हृदये वासः, मन एव प्रजापतेरपूर्वा तनूः। ज्योतिषामरता मनस्येव। यथा-

यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तर मृतं प्रजासु।

यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म क्रियते तन्मेमनः शिव संकल्पमस्तु॥^{१८}

न ह्ययुक्तेन मनसा किञ्चन संप्रति शक्नोति कर्तुम्।^{१९}

मनसा ह्येव पश्यति मनसा शृणोति।^{२०}

येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत् परिगृहीतमृतेन सर्वम्।

येन यज्ञस्तायते सप्त होता तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु॥

सुषारथिरश्चानिव यन्मनुष्यान् नेनीयते अभीशुभिर्वाजिन इव।

हत् प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु॥^{२१}

मनोनिग्रहेण मृत्युञ्जयः

मनसि वर्तमाना चञ्चलतैव मानवं पतनगते पातयति। रथं स्थिरयितुं शकटंवा साधयितुं युगं परिदृढैस्तन्तुभिर्बन्धन्ति जनाः। खजुपट्टिकाभिरबद्धो युगं रथे शैथिल्यं जनयति, स्थिरतया रथो न भवति गतिमान्।

१६ यजु० २४/१

१७ यजु० ३४/२

१८ यजु ३४/३

१९ शत० ६, ३, १, ९१६

२० शत० १४, ३, १६

२१ यजु० ३४, ४, ६

अतएव रथरूपं देहं उद्यमार्गेण नेतुं मनो प्रग्रहस्य प्रबन्धनमपेक्ष्यते। जीवनाय मृत्युवारणाय अनिष्ट विनाशाय मनो निग्रहो नूनमनिवार्यः। मनो निग्रहेण पुरुषः सर्वं कर्तुमर्हति। निश्चलमनसां मानवानां किमपि नास्त्य साध्यं भूतले, परमति चञ्चलमनसां पुरुषाणां मार्गे तु पदे-पदे भवति दुःखोत्पातः। त्रिविधतापतसः कश्चित् चञ्चलचित्तोनरः शान्त्यर्थम् आचार्यं गुरुं तपस्विनमुपदेष्टारं सम्यगुपेत्य स्वदुःखं विज्ञापयति। आचार्यस्तन्मनोव्यथाकारणं मनश्चाञ्चल्यं विज्ञाय मनसः स्तम्भनायोपायमुपायान्तरं च निगद्य मनो व्यथामपहरति। संस्तभ्य तन्मनस्तेनाचार्येण तज्जीवनं सञ्जीवितम्। मनोनिग्रह भेषजं निपीय पुरुषो बलवान् भवति संसारे तत्कृते किमप्य सम्भवं न भवति। तज्जीवनं नानेति, भावं न स्पृशति, चञ्चलचित्तं पुरुषं नकारात्मको भावो पुनः पुनर्मृत्युमुखे प्रक्षिपति। दुश्चिन्तनेन यन्मनो दूरं गत्वा नैराश्यमुत्पादयति तदेव मनः साधनया स्थिरतामुपेत्य मनुष्यं साधयति सततं कर्मकरणाय प्रेरयति दक्षतां च ददाति। साधकानां चिन्तनानुसारं मनोनिग्रहः सञ्जीवनीशक्ति रूपः सन् मानवजीवनं विकासयति। निग्रहवान् पुरुषो मनोबलेन पतितोऽपि उद्गतः उद्ग्रसितोऽप्युन्मुक्तः हीनोऽप्यहीनः दीनोऽप्यदीनः निष्क्रियोऽपि सक्रियः निर्बलोऽपि सबलः, अक्षमोऽपि सक्षमः, अपण्डितोऽपि पण्डितो भवति, भवति च लोके प्रशस्यः।

यथा युगं वरत्रया नहन्ति धरणाय कम्।

एवा दधार ते मनो जीवातवे न मृत्यवे अथो अरिष्ट तातये॥^{२२}

मनसैवेदमवासव्यं नेह ना नास्ति किञ्चन।

मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति॥^{२३}

यमादहं वैवस्वतात् सुबन्धोर्मन आभरम्।

जीवातवे न मृत्यवे अथो अरिष्ट तातये॥^{२४}

आ न एतु मनः पुनः क्रत्वे दक्षाय जीवसे।

ज्योक् च सूर्य दृशे॥^{२५}

मनोबुद्धि समन्वये जायते मनोनिग्रहोदयस्तेनैव सह सौख्यं सौमनस्यं सौभाग्यं दाक्ष्यं भद्रत्वं माङ्गल्यं च वर्धते।

त्वं धियं मनोयुजं सृजा वृष्टिं न तन्यतुः।

त्वं वसूनि पार्थिवा दिव्या च सोम पुष्यसि॥^{२६}

मानवानां मनसि पापधारा पुण्यधारा च सदैव प्रवहति। एकस्मिन्नेव काले द्वे धारे न प्रवहतः। कदाचित् मनः पापाश्लिष्टं कदाचिच्च पुण्याश्लिष्टं जायते। अशुभचिन्तनान्विते मनसि प्राणानां गतिरसमा शुभचिन्तनान्विते च मनसि प्राणानां गतिः समा भवति। प्राणानामसमत्वे रोगोत्पत्तिर्जायते सति रोगे आयुरपि क्षीयते। येषां प्राणाः समाः प्रवहन्ति ते रोगरहिता दीर्घजीविनश्च भवन्ति। सत्कर्मव्यापृतं मनो न संस्पृशति दुर्विचाराः। रिक्ते मनसि पापानां निवासः प्रवर्धते। शुभकर्मरतं पुरुषं यदि कदाचित् पापवृत्तिरात्मायत्तीकर्तुं कामयते तदा सत्कर्मलग्नः पुरुषः पापमुद्दिश्य कथयति यत् रे पाप! त्वं मामपहाय दूरं गच्छ। यतो हि मे मनो सद् गृहकार्ये संलग्नं जातम्। शिवसंकल्पावृत्ते मनसि न पापवासावसरो मनागपि वर्तते अतस्तव वासस्तु हे पाप! वने वा वृक्षे वा भवतु। यथा-

परोऽपेहि मनस्याप किमशस्तानि शंससि।

परेहि न त्वा कामये वृक्षान् वनानि सं चर गृहेषु गोषु मे मनः॥^{२७}

अपेहि मनस्पतेऽप क्राम पश्चरा।

परो निर्ऋत्या आचक्ष्व बहुधा जीवतो मनः॥^{२८}

येषां पुरुषाणां मनसि बलवत्ता विराजते ते जगत्यां सर्वं कर्तुं क्षमन्ते। न केवलमेकं वस्तु ते लभन्तेऽपितु समग्रं विश्वमपि जेतुं शक्नुवन्ति ते। मनोबलेन दिग्विजयो जायते जायते च विश्वविजयः परं परविजयात् प्राग् आत्मविजयो विधेयः। येन स्वमनो जितं तेनैव जगज्जितम्। स्वमनोजयेनाभिवर्धितमनोबलानां मनीषिणां समये-समये कुर्वन्त्यात्मोल्लासमिमे वेदमन्त्राः-

अभिष्टां महिना भुवम् अभीमां पृथिवीं महीम्।

कुवित्सोमस्यापामिति॥^{२९}

अहमिन्द्रो न परा जिग्य इद् धनम्

न मृत्यवेऽवतस्थे कदाचन।

सोममिन्मा सुन्वन्तो याचता वसु

न मे पूरवः सख्ये रिषाथन

मनोबलहीनानां पुरुषाणां मनसि प्रायो नैराश्यमुत्पद्यते, नैराश्यशमनाय मनोबल वर्धनाय च वेदमन्त्रो बलहीनान् सबलयितुं निर्दिशति यद् यदा नैराश्यमभि जायेत् तदा पूर्वेषामृषीणां जीवनपद्धतिं ग्राह्या, महापुरुषाणां जीवनचरितं पठनीयं महतां स्मरणं करणीयम्। यथा-

मनो न्वाह्वामहे नाराशंसेन स्तोमेन।

पितृणां च मन्मभिः॥^{३०}

समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्।

समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि॥^{३१}

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।

समानमस्तु वो मनो यथा वः सु सहासति॥^{३२}

अतोऽन्ते प्रोच्यते यत् शिवसंकल्पावृतं भवतु नो मनः

२७ अथर्व० ६/४५/१

२८ अथर्व २०/१९६/२४

२९ ऋग् १०, ११९, ८

३० यजु० ३/५३

३१ ऋग् १०/१९१/३

३२ ऋग् १०/१९१/४

वैदिक वाङ्मय में स्व-प्रबन्धन

डॉ० वेदपाल^१

सुपर कम्प्यूटर के इस युग में कतिपय शब्दों का अर्थ विस्तार अति तीव्र गति से हुआ है। इनमें प्रमुख है-प्रबन्धन। आज कृषि से लेकर होटल तक तथा ऋण वितरण से बीमा तक प्रबन्धन का विस्तार है। तद्यथा-समय प्रबन्धन (Time Management), होटल प्रबन्धन (Hotel Management), बैंकिंग प्रबन्धन (Banking Management), कृषि प्रबन्धन (Agriculture Management), फार्म प्रबन्धन (Farm Management), बीमा प्रबन्धन (Insurance Management) कचरा निपटान प्रबन्धन (Solid waste Management) आदि।

उक्त बहुविध प्रबन्धन कौशल में दीक्षित करने के लिए अनेकत्र उच्च शिक्षा संस्थान स्थापित हैं, जहाँ मात्र प्रबन्धन कौशल की ही शिक्षा दी जा रही है। ऐसे प्रबन्धन प्रधान काल में व्यक्ति से राष्ट्र अथवा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सर्वत्र सुव्यवस्था की उपेक्षा अनुचित नहीं है, किन्तु व्यक्तिगत जीवन से सामाजिक ताने-बाने तक व्यवस्था ही अदृश्य है। कारण स्पष्ट है कि सब प्रबन्धन के मूलकेन्द्र व्यक्ति के प्रबन्धन को कहीं स्थान नहीं मिला है, जिसके लिए सर्वविध प्रबन्धन है उसके (स्वयं के) लिए कोई प्रबन्धन नहीं है।

समष्टि का मूल व्यक्ति है, उसका प्रबन्धन प्राथम्येन अपेक्षित है। इसके व्यवस्थित/मर्यादित होने पर सभी कुछ मर्यादित होना सम्भव है। व्यक्ति के अमर्यादित होने पर सभी व्यवस्थाएँ ध्वस्त हो जाती हैं। सम्प्रति यही हो रहा है। बहुविध प्रबन्धन के मध्य 'स्व प्रबन्ध' Self Management इस दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

स्व-प्रबन्धन के लिये सर्वप्रथम 'स्व' की पहचान जरूरी है। स्व के अनेक अर्थों में अन्तर्जात, अन्तर्निहित भी है। वस्तुतः स्व अन्तर्जात ही नहीं, अपितु अन्तर्निहित भी है और अतिनिगूढ भी। बहुविध प्रबन्धन का यह परिणाम हुआ है कि व्यक्ति स्वकेन्द्रित न होकर पर केन्द्रित हो गया है। वह सदैव दूसरों के पास है और स्वयं से दूर हो गया है। एक क्षण के लिए भी वह स्वयं के पास नहीं होता है। सदैव बाहर ही बाहर रहता है। इस परकेन्द्रित होने का कारण है-मनुष्य के पास जितने भी प्राप्ति (चाहे वह ज्ञान की हो अथवा भौतिक पदार्थों की) के साधन हैं, वे सभी बहिर्मुख हैं। इसलिए निरन्तर बाहर ही देखता है, किन्तु उपनिषद् के ऋषि ने इनके प्रति सचेत भी किया है।^२ इस निरन्तर बाहर रहने/स्वयं से अलगाव के कुछ दुष्परिणाम हैं। तद्यथा-असन्तोष, ईर्ष्या, मद, मत्सर आदि।

(क) असन्तोष-सदैव दूसरों की व्यवस्था करते-करते उन्हीं पर दृष्टि, उन्हीं का चिन्तन, उन्हीं की भौतिक समृद्धि आदि को देखते-देखते उसे लगता है कि उसके पास कुछ भी नहीं, यह सब उसके पास भी होना चाहिए, भले ही उसकी प्राप्ति का साधन कुछ भी हो। अपने पास उपलब्ध संसाधनों के प्रति असन्तोष ने साधनों की पवित्रता को उपेक्षित कर दिया है। साधन की पवित्रता का विचार छूटते ही संसाधन संग्रह की अन्धी दौड़

१ रीडर, संस्कृत विभाग, जनता वैदिक कॉलेज, बड़ौत बागपत उ०प्र०

२ पराञ्चि खानिव्यवृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्। कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मनमेक्षदावृत्तचक्षुर्मृतत्वमिच्छन्॥ पराचः कामाननुयन्ति बालास्ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम्। अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा ध्रुवमधुवेहिह न प्रार्थयन्ते॥

प्रारम्भ होती है और तब तस्कर, करवञ्चक, अपहर्ता आदि का जन्म होता है। इन सबके परिणाम जहाँ राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को क्षीण करते हैं, वही सामाजिक जीवन को अव्यवस्थित ही नहीं, अपितु पूर्णतः असुरक्षित भी बना देते हैं। इसके दुष्परिणाम प्रतिदिन होने वाले अपहरण आदि के रूप में दिखाई दे रहे हैं। वेद ने इन प्रवृत्तियों के उदय से पूर्व ही व्यक्ति को संस्कृत करने के लिए पिशाच, स्तेन, स्मगलर (वनर्गु) से समझौता न करने का ही नहीं, अपितु इन सबके क्षेत्र छोड़ जाने का उपदेश दिया है। तद्यथा-

न पिशाचैः संशक्नोमि न स्तेनैर्न वनर्गुभिः।

पिशाचास्तस्मान्प्रश्यन्ति यं ग्राममहमाविशे॥^३

असन्तुष्ट व्यक्ति अनेकविध साधन सम्पन्न होते हुए भी बहुविध दुःखी रहता है। जिसका एक मात्र समाधान है-सन्तोष। यतः सन्तोष से ही व्यक्ति तृष्णा रहित होकर अनुपम सुख का लाभ करता है।^४ संसार के अन्दर जितने भी सुख हैं वे सभी तृष्णाक्षय से उत्पन्न सुख का षोडशांश भी नहीं हैं।^५

(ख) पर प्रेक्षण के नैरन्तर्य से होने वाले अनेक दुष्परिणामों में दूसरा महत्त्वपूर्ण है-ईर्ष्या इस ईर्ष्यावृत्ति के परिणामस्वरूप व्यक्ति अपने संसाधनों की अपेक्षा दूसरे के संसाधनों को देखता है और उनसे पीड़ित होता है। भले ही उसके पास भौतिक संसाधनों का प्राचुर्य क्यों न हो। युधिष्ठिर के राजसूय में यद्यपि राजाओं ने जो भी भेंट दी वह सब स्वीकारने का दायित्व दुर्योधन पर ही था, किन्तु वह उस सम्मान से भी (यतः वह युधिष्ठिर के प्रतिनिधि रूप में प्राप्त था) इतना दुःखी हुआ कि-आत्म दाह अथवा विषभक्षण द्वारा जीवन समाप्त करने तक की बात करने लगा।^६ वेद ने ईर्ष्यालु व्यक्ति को मृतमना कहकर ईर्ष्यात्याग का संदेश दिया है।^७ जिस प्रकार किसी राष्ट्र के समग्र विकास के लिये आवश्यक है कि वहाँ सड़कें, चिकित्सालय, विद्यालय, यातायात के अधुनातन साधन, भरपूर अन्नोत्पादन तथा एक अच्छी विकासदर की उपलब्धता के साथ-साथ वहाँ के नागरिकों का इन सबके साथ वैयक्तिक जीवन मानवीय मूल्यों से भी समृद्ध हो अन्यथा बहुविध बाह्य प्रबन्धन की दृष्टि से सम्पन्न व्यक्ति कभी सुशील शर्मा-नैना साहनी तन्दूर काण्ड, मनु शर्मा-जेसिका लाल हत्याकाण्ड, आर०एस० शर्मा-शिवानी भटनागर हत्याकाण्ड, अमरमणि त्रिपाठी-मधुमिता हत्याकाण्ड, शिवू सोरेन-शशीनाथ झा हत्याकाण्ड तथा मोनिन्दर सिंह पण्डेर व सुरेन्द्र कौली-निठारी काण्ड सदृश होता है। ऐसी स्थिति में यह पंक्ति सटीक लगती है-

झर चुके रोम, झर चुकी पूंछ, पशुता का झरना बाकी है।

बाहर-बाहर तन संवर चुका, अन्दर से संवरना बाकी है॥

शारीरिक, मानसिक एवं आत्मिक उन्नति होने पर ही वास्तविक उन्नति होना सम्भव है। शारीरिक उन्नति के साधन बाह्य संसाधन हैं। इनके सम्यक् प्रबन्धन से बाह्य-शारीरिक उन्नति होगी और यदि वह केवल शरीर तक ही सीमित होगी, तब आसुरी ही होगी। समग्र विकास के लिए आन्तरिक प्रबन्धन अनिवार्य है। इसीलिए वेद ने इन बाह्य के साथ-साथ आन्तरिक पर भी बल दिया है। तद्यथा-

को ददर्श प्रथमं जायमानमस्थन्वन्तं यदनस्था बिभर्ति।

३ अथर्व० ४.३६.७

४ सन्तोषादनुत्तम सुखलाभः-योगदर्शन साधन पाद० ४२

५ यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्। तृष्णाक्षयं सुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्॥

६ वह्निमेव प्रवेक्ष्यामि भक्षयिष्यामि वा विषम्। अपो वा प्रवेक्ष्यामि न शक्ष्यामि जीवितुम्॥

७ यथा भूमिर्मृतमना मृतात्मतमनुत्तरा। यथोत ममृषोर्यन एवेष्मोर्यतं मनु॥ अथर्व० ५.१८.३

भूम्या असुरसृगात्मा क्व स्वित्को विद्वांसमुपगात्रष्टुमैतत्॥^६

साधन

(क) आत्मयजन-प्राचीनकाल से ही तत्त्वचिन्तक इस स्वप्रबन्धन पर विचार करते रहे हैं और निष्कर्ष रूप में इस बाह्य प्रबन्धन की अपेक्षा अन्तः प्रबन्धन पर बल दिया गया है। यह बोध कि-मेरे इस कर्म से मेरे इस अंग का उपधान/संस्कार हो रहा है उसी प्रकार के हेतुभूत कर्म को करना, क्योंकि वेद ने स्वयं पुरुष के उत्थान का निर्देश किया है-‘उद्यानं ते पुरुष नावयानम्’^१। पुरुष की इस उन्नति के आधार को कर्मकाण्डीय परिभाषा में आत्मयजन कहा गया है^{१०}।

मनु ने भी सभी प्राणियों में स्व-भाव तथा स्व में सभी प्राणियों को देखने वाले को आत्मयाजी कहा है और ऐसा पुरुष ही स्वराज्य को प्राप्त करता है^{११}। वेद के अनुसार-ऐसा पुरुष ही शोक-मोह से छूट जाता है तथा वही एकत्व का द्रष्टा होता है। तद्यथा-

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।

तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥^{१२}

स्व प्रबन्धन की यह ऐसी उत्कृष्ट दशा है, जिसे प्राप्त कर लेने पर ऐसे व्यक्ति को कोई गाली दे, पत्थर मारे, विष दे, अपमानित करे अथवा पुष्पहार देकर सम्मानित करे, वह दोनों ही अवस्थाओं में सम रहता है। महर्षि दयानन्द इसके उदाहरण हैं। वह सभी के अभ्युदय की कामना करते हैं। इस आत्मप्रबन्धन के बाद सभी बाह्य प्रबन्धन बहुत तुच्छ हो जाते हैं।

(ख) योग-स्व प्रबन्धन की दृष्टि से दूसरा महत्त्वपूर्ण साधन है-योग। चित्तवृत्तियों के निरोध को योग कहा गया है।^{१३} चित्त का स्वभाव शील तीन प्रकार का होता है^{१४}-१. प्रख्या = दृष्ट अथवा श्रुत पदार्थों का विचार। प्रख्या तीन प्रकार की है- (क) चित्त का सत्त्वगुण प्रधान होना, इसमें केवल ईश्वर का चिन्तन होता है। (ख) सत्त्व के साथ रजोगुण का भी प्राधान्य होना, इसमें धर्म-नैतिक एवं वैराग्य-बाह्य पदार्थों के प्रति अनासक्ति। (ग) चित्त का तमोगुण प्रधान होना, इस स्थिति में अधर्म-अनैतिक, अज्ञान एवं विषयासक्ति का चिन्तन। २. प्रवृत्ति = पदार्थों-विषयों के साथ सम्बन्ध ३. स्थिति = पदार्थों-विषयों में स्थिति। यह चित्तवृत्तियाँ क्लेश (आधिभौतिक, आधिदैविक, आध्यात्मिक दुःखों) की हेतु होने से क्लिष्ट तथा गुणविकार (सत्त्व, रजस्, तमस् के संसर्ग) से रहित होने पर अक्लिष्ट-द्विविध होती हैं।^{१५} प्रत्येक वृत्ति से तदनुकूल संस्कार उत्पन्न होते हैं। पुनः वे संस्कार उसी वृत्ति को उत्पन्न करते हैं। वृत्ति फिर संस्कार और संस्कार फिर वृत्ति को-इस प्रकार यह वृत्ति-संस्कार का चक्र प्रवर्तित रहता है। काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि से सम्बन्धित क्लिष्ट वृत्तियाँ व्यक्ति को दुःख चक्र में चलाती रहती हैं।

८ ऋ- १.१६४.४

९ अथर्व० ८.१.६

१० आत्मयाजीति ह ब्रूयात्। अथ यो वेदेदं मेऽनेन अङ्गं संस्क्रियतेऽनेन मेऽङ्गं उपाधीयते। स यथा अहिस्त्वचो निर्मुच्यते।

एवमस्मात्-। श०प० ११.२.६.१३-१४

११ सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।

१२ यजु० ४०.७

१३ योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः यो० द० समाधिपाद २

१४ चित्तं हि प्रख्यप्रवृत्तिस्थितिः शीलत्वात् त्रिगुणमयं व्यासभाष्ये वही १५२ S3 Foundation USA

१५ वृत्तयः पञ्चतयः क्लिष्टाक्लिष्टाः। वही० सू० ५

इन वृत्तियों के संस्कार चित्त पर पड़ते हैं। वह चित्त उन संस्कारों से भावित होकर तत्तत् अवस्थाओं-शरीरों-योनियों की प्राप्ति का कारण बनता है। भरतमुनि का मोहवृत्ति में पड़ने से मृगयोनि प्राप्त करने का वर्णन इसका निदर्शन है।

काम-क्रोध आदि वृत्तियाँ जब अमर्यादित होती हैं तब व्यक्ति मनुष्यत्व से पशुत्व की ओर अभिमुख होता है। वेद ने इनकी उपमा पशु-पक्षियों से देकर इनके नष्ट करने का आदेश दिया है।^{१६} इनमें कुछ आभ्यन्तर हैं तो कुछ बाह्य। यदि कोई मनुष्य जीवन के चरम लक्ष्य मोक्ष को नहीं भी पाना चाहता है तब भी वह संसार में तो सुखी रहना ही चाहेगा। योग के अंग^{१७} यम एवं नियम सहित अष्टांग का पालन आभ्यन्तर एवं बाह्य उभयविध चित्तवृत्ति के निरोध का प्रमुख एवं महत्वपूर्ण साधन है। यथा अहिंसा की प्रतिष्ठा किए बिना नैतिक मानवीय मूल्य दया एवं करुणा की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। इसी प्रकार अपरिग्रह की प्रतिष्ठा के अभाव में परद्रव्याभीप्सा पर अंकुश क्या सम्भव है? महर्षि पतञ्जलि ने यम के इसी महत्त्व को दृष्टिगत कर इन्हें सार्वभौम महाव्रत^{१८} कहा है अर्थात् यह जाति-देश-काल और समय की सीमाओं में আবদ্ধ नहीं किये जा सकते हैं।

(ग) संस्कार-प्राचीन काल से ही मानव जीवन को सुव्यवस्थित बनाने के लिए किए जाने वाले उपायों में संस्कार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन ये तीन संस्कार जन्म से पूर्व किये जाते हैं। जन्म ग्रहण करने पर सर्वप्रथम सम्पाद्य संस्कार जातकर्म है। यहाँ पिता नवजात शिशु से कुछ कहता है। वहाँ पिता अग्नि-सोम आदि की आयु से आयुष्मान् करने की बात कहता है। इस सन्दर्भ का अन्तिम मन्त्र-ओ३म् समुद्र आयुष्मान् स सव्रतीभिरायुष्मान् तेन त्वाऽऽयुषाऽऽयुष्मन्तं करोमि^{१९} है। यहाँ ऋषि ने उपलक्षण रूप में समुद्र को लिया है। इसके निहितार्थ समुद्र पद के निर्वचन तथा अर्थ^{२०} में सम्यक् प्रकार से दृष्टिगत होते हैं। मर्यादित जीवन ही उन्नति का आधार है और यहाँ मर्यादित जीवन का ही सन्देश है। इसी प्रकार माता का स्तनपान कराने से पूर्व नवजात को यव अथवा चावल का रस पिलाया जाना भी प्रतीकात्मक ही है। साथ में पढ़े जाने वाले मन्त्र तत्तत् भावों को संस्कार रूप से भावित करने का एक और प्रयास है। इसी प्रकार उपनयन और विवाह आदि संस्कार के समय पठित मन्त्र एवं क्रियमाण क्रियाएँ भी स्वप्रबन्धन के अच्छे संकेतक हैं। जिनकी उपेक्षा के दुष्परिणाम प्रतिदिन पदे-पदे दिखाई देते हैं।

(घ) अहं/मम का त्याग-मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। दूसरों की सहायता के बिना एक क्षण के लिए भी हमारा कोई कार्यपूर्ण नहीं होता है, किन्तु सम्यग् निर्देशन के अभाव में व्यक्ति अधिकांशतः इस तथ्य की उपेक्षा करता रहता है। वह अपने संसाधनों को मात्र अपने विकास का आधार मानकर अन्यत्र से प्राप्त सहयोग को भूला रहता है। अपने आपको समष्टि का एक भाग ही व्यक्ति जानता और मानता रहे इसलिए यह मेरा नहीं है-इस भाव प्राबल्य के लिए मनीषियों ने प्रत्येक आहुति के अन्त में द्रव्य त्याग के अनन्तर-‘इदं मम’ अथवा ‘न मम’ यह कथन करने का विधान किया है। ममत्व का भाव स्वार्थपरता का जनक है और न मम का भाव स्वार्थ त्याग का। इसीलिए मम के दो अक्षरों का अभिप्राय मृत्यु कहा गया है। तद्यथा-

१६ उलूकयातुं शुशूलकयातुं जहिश्रयातुमुत कोकयातुम्। सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं दृशदेव प्रमृण रक्ष इन्द्र॥ ऋ० ७.१०.४.२२

१७ यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि-यो० द० २.२९

१८ क अहिंसा सत्याऽस्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः। यो० द० २.३०

१९ पारस्करगृ १.१६.९

२० तत्र समुद्र इत्येतत्पार्थिवेन समुद्रेण सन्दिहते। समुद्रः कस्मात् समुद्रद्रव्यन्त्यस्मादापः। समभिद्रवन्त्येनमापः।

सम्प्रीदन्तेऽस्मिन् भूतानि समुद्रको भवति। समुद्रकोति भा। निरुक्त। Digitized by S3 Foundation USA

द्व्यक्षरस्तु भवेन्मृत्युः त्र्यक्षरं ब्रह्मशाश्वतम्।

ममेति च भवेन्मृत्युर्न ममेति ब्रह्मशाश्वतम्॥^{२१}

(ड) प्रार्थना-मनुष्य का ज्ञान व प्रयत्न सीमित हैं। इनके सीमित होने के कारण पदे-पदे दूसरों का साहाय्य जब अपने पूर्ण पुरुषार्थ/प्रयत्न के पश्चात् उचित कार्यों में सफलता के लिए मांगा जाता है तभी प्रार्थना है।^{२२} प्रार्थना से व्यक्ति में निरभिमानिता आती है^{२३}। वेद में यह प्रार्थना सुपथ से ले जाने अर्थात् सत्पथ पर चलने का सामर्थ्य मांगने तथा कुटिलता युक्त पाप कर्मों से विरत रहने के लिए मांगने का विधान है।^{२४} बहुधा व्यक्ति यह जानते हुए भी कि यह कर्म त्याज्य है, किन्तु चाहते हुए भी उसे छोड़ने में असमर्थ रहता है और यह कार्य कर्तव्य है, पुनरपि उसे करने में असफल रहता है। यदि जानने मात्र से ही कृतकार्यता हो जाया करती तब प्रार्थना की आवश्यकता ही नहीं रहती, किन्तु व्यक्ति जानते हुए भी ऐसा करने में असमर्थ रहता है। दुर्योधन का यह कथन सत्य है-

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः, जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः।

केनापि देवेन हृदयस्थितेन यथा नियोक्ष्ये तथा करोमि॥

यह सामर्थ्य प्रार्थना से प्राप्त होता है। इसीलिए प्रार्थना अपेक्षित है। उपर्युक्त साधन व्यक्तित्व के सन्तुलित विकास की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। व्यक्तित्व का सन्तुलित विकास ही वास्तविक स्व प्रबन्धन है। जिस प्रकार सभी कार्यों चाहे सांसारिक हों अथवा योगांगों का अनुष्ठान में अनेक बाधाएँ आती हैं, उसी प्रकार उक्त कार्यों के सम्पादन में भी अनेक व्यवधान आते ही हैं। पातञ्जल योग में जिन्हें अन्तराय-चित्त के विक्षेप करने वाले कहा गया है, वे इस विषय में भी उतने ही बाधक हैं जितने अष्टांग योग में-

व्याधि-स्त्यान-संशय-प्रमाद-अविरति-भ्रान्तिदर्शन-अलब्ध-भूमिकत्व-अनवस्थितत्त्वानि चित्तविक्षेपा-स्तेऽन्तरायाः।^{२५}

स्त्यान-चित्त द्वारा अनुचित कर्म का चिन्तन अथवा कर्म रहित होने की चेष्टा।

संशय-परस्परविरोधी पक्ष का खण्डन अथवा समर्थन, जिससे मनुष्य द्विविधा ग्रस्त हो जाए कि किसी कार्य विशेष को करे अथवा नहीं।

प्रमाद-उक्त साधन या उपायों के चिन्तन अनुष्ठान में उपेक्षा भाव।

आलस्य-शरीर व चित्त के भारीपन से चेष्टारहित हो जाना।

अविरति-चित्त का विषय के संसर्ग से मोहित अथवा प्रलोभित होना।

भ्रान्तिदर्शन-मिथ्याज्ञान, कुछ का कुछ देखना या समझना।

अलब्धभूमिकत्व-उक्त साधनों को अपनाने की पात्रता का प्राप्त न होना।

अनवस्थितत्व-पात्रता के होते हुए भी चित्त का स्थिर न होना।

२१ म०भा०आश्व०प० १३.३-४

२२ अपने पूर्ण पुरुषार्थ के उपरान्त उत्तम कर्मों की सिद्धि के लिए परमेश्वर वा किसी अन्य सामर्थ्यवान् से सहाय मांगना प्रार्थना है-महर्षि दयानन्द-आर्योद्देश्यरत्नमाला।

२३ सत्यार्थ प्रकाश समु० ७

२४ क अग्ने नय सुपथा रायेऽअस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्। युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम॥यजु० ४०.१६

२५ यो० द० १.३०

यह नौ विघ्न योगमार्ग के ही नहीं, अपितु किसी भी कार्य में देखे जा सकते हैं। उपरि वर्णीत आत्मजयन आदि साधनों के अनुष्ठान तथा अन्तरायों के परिहार के साथ-साथ यदि सुखी व्यक्तियों के प्रति मैत्रीभाव, दुःखियों के प्रति करुणा, पुण्यात्मा के प्रति मुदिता तथा अपुण्यात्माओं के प्रति उपेक्षाभाव^{२६} को क्रियात्मक रूप दे दिया जाए, तब स्वप्रबन्धन से प्रबन्धित ऐसे व्यक्तित्व का निर्माण सम्भव है, जिसके पास बाह्य प्रबन्धन यदि न्यून भी होंगे, तब भी उसके विचलन की सम्भावनाएँ बाह्य प्रबन्धन प्रधान किन्तु स्वप्रबन्धन न शून्य व्यक्ति की अपेक्षा न्यूनतम होंगी। समग्र वैदिक वाङ्मय जागतिक पदार्थों की कामना के साथ ही आत्मिक उन्नति की भी कामना करता है। यद्यपि जागतिक पदार्थ प्रेयरूप हैं और व्यक्ति को अपनी ओर आकृष्ट करते हैं, किन्तु विवेकी पुरुष प्रेय की अपेक्षा श्रेय-आत्मिक अभ्युदय को प्राथमिकता देते हैं। श्रेय पथ का अवलम्बन ही वस्तुतः स्वप्रबन्धन है और बाह्य भौतिक प्रबन्धन बाहुल्य के साथ-साथ इस आभ्यन्तर प्रबन्धन/स्वप्रबन्धन का महत्त्व सदैव अक्षुण्ण ही है।

२६ मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्-योग द० १.३३

दयानन्दवेदभाष्यवैशिष्ट्यम्

डॉ. अरुणिमा रानी^१

स्वामिदयानन्द एकोनविंशतिशताब्द्या भाष्यकारो विद्यते। अस्य पूर्ववर्तिभाष्यकाराः यास्कस्कन्दस्वाम्युद्गीथवेकटमाधवानन्दतीर्थात्मानन्दसायणोव्वटमहीधरभट्टभास्करमाधवभरतस्वाम्येत्यादयः सन्ति। एभिः वेदभाष्यकारै एकस्यैकाधिकस्य वा वेदस्य सम्पूर्णमांशिकं वा भाष्यं कृतम्। स्कन्दस्वामिना^२ स्ववेदभाष्यप्रयोजनमृगवेदभाष्यारम्भे निर्दिश्यते- “एवं सर्वमन्त्राणां कर्माङ्गत्वसिद्धयर्थं यतो बोद्धव्योऽर्थः, अतः ऋग्वेदस्यार्थबोधार्थमस्माभिर्भाष्यं करिष्यते।” एवमन्येऽपि भाष्यकाराः वेदभाष्यं कुर्वन् कर्मकाण्डप्रक्रियामेवानुसरन्ति। आध्यात्मिकमर्थं तु केचन भाष्यकारा एव विदधति। स्वामिदयानन्देनाचार्ययास्कं प्रमुखाधाररूपेणाङ्गीकृत्य स्वमन्तव्यानां वेदभाष्ये दाक्षिण्येन प्रतिपादनं कृतम्। तथापि बहव एतादृशाः मन्त्राः सन्ति येषां मन्त्राणां भाष्यमाचार्ययास्केनापि स्वनिरुक्तग्रन्थे विहितं परं दयानन्देन तेषामपि मन्त्राणां तेभ्योऽतिरिक्तो भिन्नो वाऽर्थः प्रस्तुतः। निजवेदभाष्यात्पूर्वं दयानन्देन १९३३ तमे संवते पराक्षेपानां समाधानार्थमेका विस्तृता भूमिका ‘ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका’ इति नाम्ना प्रकाशिता। तदनन्तरं १९३४ तमे संवते मार्गशीर्षमासस्य शुक्लपक्षस्य षष्ठ्यां तिथौ ऋग्वेदभाष्यारम्भः कृतः। सप्तत्रिंशद्विषयानन्तरमेव १९३४ तमे संवते पौषमासस्य शुक्लपक्षस्य त्रयोदश्यां तिथौ शुक्लयजुर्वेदस्य भाष्यारम्भः कृतः।^३ तस्य यजुर्वेदभाष्यं तु सम्यक्तया समाप्तिमगात् परमृगवेदस्य भाष्यं सप्तममण्डलस्य एकषष्ठितमस्य सूक्तस्य द्वितीयमन्त्रपर्यन्तमेवाभूत्। तस्य वेदभाष्यस्य पद्धतिः सैव वर्तते या ऋषिभिर्मुनिभिश्चानुमोदिताभिर्नन्दिता च। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकारम्भ एव तेन लिख्यते- “आर्याणां मुन्यृषीणां या व्याख्यारीतिः सनातनी। तां समाश्रित्य मन्त्रार्था विधास्यन्ते तु नान्यथा।”^४ अर्थात् अस्मिन् वेदभाष्ये किञ्चिदप्रमाणं न लिखिष्यामि परं ये ब्रह्माप्रभृतयः व्यासपर्यन्ता ऋषयः मुनयः सन्ति तेषां या व्याख्यारीतिः, एतद्वेदभाष्यं तयान्वितमेव प्रस्तोष्यामि। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायां पुनस्तेन लिख्यते- “पूर्वाचार्यैः कृतं प्रकाश्यते। तद्यथा-यानि पूर्वैर्देवैर्विद्वद्ब्रह्माणमारभ्य याज्ञवल्क्यवात्स्यायन-जैमिन्यन्तैर्ऋषिभिश्चैतरेयशतपथादीनि भाष्याणि रचितान्यासन्, तथा यानि पाणिनिपतञ्जलियास्कादिमहर्षिभिश्च वेदव्याख्यानानि वेदाङ्गाख्यानि कृतानि, एवमेव जैमिन्यादिभिर्वेदोपाङ्गाख्यानि षट्शास्त्राणि, एवमुपवेदाख्यानि तथैव वेदशाखाख्यानि च रचितानि सन्ति। एतेषां संग्रहमात्रेणैव सत्योऽर्थः प्रकाश्यते। न चात्र किञ्चिदप्रमाणं नवीनं स्वेच्छया रच्यत इति।”^५ एवं येषां ग्रन्थानां मन्तव्याः प्रकाशं नेतुं दयानन्दर्षिणा घोषणा कृता ते सर्वे ग्रन्था आर्षाः प्रामाणिकाश्च विद्यन्ते। एते सर्वे ग्रन्थाः वेदज्ञैः

१. प्रवक्त्री संस्कृतविभागे, एस० डी० महाविद्यालयः, मुजफ्फरनगरम्

२. ऋग्वेदस्य यजुर्वेदस्य च भाष्यारम्भ एवोल्लिख्यते दयानन्दमहाभागेन। तद्यथा- वेदत्रयङ्के विधुयुतसरे मार्गशुक्लेऽङ्गभौमे॥ वेद=४, त्रि=३, अङ्क=९, विधु=१ अर्थात् १९३४। यजुर्वेदे च- चतुत्रयङ्कैरवनिसहितैर्विक्रमसरे। शुभे पौषे मासे सितदलभविशोन्मिततिथौ। चतुत्रयङ्कैः=४ व ३, अङ्क=९, अवनि=१

३. ऋग्वेदस्य यजुर्वेदस्य च भाष्यारम्भ एवोल्लिख्यते दयानन्दमहाभागेन। तद्यथा- वेदत्रयङ्के विधुयुतसरे मार्गशुक्लेऽङ्गभौमे॥ वेद=४, त्रि=३, अङ्क=९, विधु=१ अर्थात् १९३४। यजुर्वेदे च- चतुत्रयङ्कैरवनिसहितैर्विक्रमसरे। शुभे पौषे मासे सितदलभविशोन्मिततिथौ। चतुत्रयङ्कैः=४ व ३, अङ्क=९, अवनि=१

४. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायामिष्टप्रार्थनाविषयप्रकरणम्-श्लोक-६ ऋषिदयानन्दः

५. तत्रैव- भाष्यकरणशङ्कासमाधानादिविषयप्रकरणम्।

वेदव्याख्यातृभिश्च भाष्यकारैश्च प्रामाणिकरूपेणोरीक्रियन्ते। एतेन इदमपि स्पष्टं भवति यत् ब्राह्मणग्रन्थान् वेदनाम्ना नैव स्वीकरोत्याचार्यो दयानन्दः। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायामग्रे एवोद्धोषितम्- 'ब्राह्मणानि तु वेदव्याख्यानान्येव सन्ति नैव वेदाख्यानीति।'^६

ऋषिवरदयानन्दः सर्वेभ्यः पदार्थेभ्यः प्रधानत्वादीश्वरं प्रधानं मन्यते। तेषाम्मते सर्वेषां वेदानां तात्पर्यमीश्वर एव सिध्यति। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायां स्वामिदयानन्द उद्धोषयतीममभिप्रायम्- 'अत्र चत्वारो वेदविषयाः सन्ति, विज्ञानकर्मोपासनाज्ञानकाण्डभेदात्। तत्रादिमो विज्ञानविषयो हि सर्वेभ्यो मुख्योऽस्ति। तस्य परमेश्वरादारभ्य तृणपर्यन्तपदार्थेषु साक्षाद् बोधान्वयत्वात्। तत्रापीश्वरानुभवो मुख्योऽस्ति। कुतः? अत्रैव सर्वेषां वेदानां तात्पर्यमस्तीश्वरस्य खलु सर्वेभ्यः पदार्थेभ्यः प्रधानत्वात्।' एतद्विषयकं वेदान्तसूत्रमुल्लिखति तत्रैव- 'तत्तु समन्वयात्'^७ अस्य सूत्रस्यायमर्थः- तदेव ब्रह्म सर्वत्र वेदवाक्येषु समन्वितं प्रतिपादितमस्ति। क्वचित्साक्षात् क्वचित् परम्परया च। अतः परमोऽर्थो वेदानां ब्रह्मैवास्ति। वेदस्य प्रयोजनविषये प्रमाणरूपेणोपनिषद्वाक्यमुद्धरति दयानन्दः- (तत्रापरो) वेदेषु द्वे विद्ये वर्तते, अपरा परा चेति। तत्र यथा पृथिवीतृणमारभ्य प्रकृतिपर्यन्तानां पदार्थानां ज्ञानेन यथावदुपकारग्रहणं क्रियते सा अपरोच्यते। यथा चादृश्यादिविशेषणयुक्तं सर्वशक्तिमद्ब्रह्म विज्ञायते सा पराऽर्थादपरायाः सकाशादत्युत्कृष्टास्तीति वेद्यम्।^८ एवमिममुपनिषदुद्धरणं स्वीकृत्यैव ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायाः प्रतिज्ञाविषये दयानन्दः प्रतिजानीते- 'अथात्र यस्य यस्य मन्त्रस्य पारमार्थिकव्यावहारिकयोर्द्वयोरर्थयोः श्लेषालङ्कारादिना सप्रमाणः सम्भवोऽस्ति, तस्य तस्य द्वौ द्वावर्थौ विधास्येते। परन्तु नैवेश्वरस्यैकस्मिन्नपि मन्त्रार्थेऽत्यन्तं त्यागो भवति।'^९ एवं दयानन्देन तत्रापरा^{१०} इति उपनिषद्वाक्यं स्वीकृत्यैव प्रतिज्ञाविषये पारमार्थिकव्यावहारिकयोर्द्वयोरर्थयोः सम्भावना लिखिता। व्यावहारिकीव्याख्यायां कृत्स्नस्य जगतः पदार्थानां, गुणाः, ज्ञानं, प्रयोगः, परिचालनं निर्माणञ्च सर्वं समागतम्। इतोऽतिरिक्तं नास्ति किञ्चित् वेद्यं वस्तुजातमिह। तथा च अपर ईश्वरो यस्य ज्ञाते सति न किमप्यवशिष्टं भवति परिज्ञातव्यम्। उपनिषदपि तथ्यमिदं सत्यापयति- 'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे।'^{११} ऋषिवरदयानन्दः स्ववेदभाष्यप्रयोजनमृग्वेदादिभाष्यभूमिकारम्भ एव लिखति- 'येनाधुनिकभाष्यैर्ये टीकाभिर्वेददूषकाः। दोषाः सर्वे विनश्येयुरन्यथार्थविवर्णनाः। सत्यार्थश्च प्रकाशयेत् वेदानां यः सनातनः।'^{१२} ईदृशा एव भावा अग्रेऽपि प्राप्यन्ते। तत्र दयानन्दः स्वपूर्ववर्तिनामाचार्याणां सायणोव्वटमहीधरप्रभृतीनां वेदभाष्यकाराणां विषये स्वाभिमतं सप्रमाणेनोल्लिख- 'यानि रावणोव्वटसायणमहीधरादिभिर्वेदार्थविरुद्धानि भाष्याणि कृतानि, यानि चैतदनुसारेणैङ्गलेण्डशारमण्यदेशोत्पन्नैर्यूरोपखण्डदेशनिवासिभिः स्वदेशभाषया स्वल्पानि व्याख्यानानि कृतानि, तथैवाय्वावर्तदेशस्थैः कैश्चित्तदनुसारेण प्राकृतभाषया व्याख्यानानि कृतानि वा क्रियन्ते च, तानि सर्वाण्यनर्थगर्भाणि सन्तीति सन्नानां हृदयेषु यथावत् प्रकाशो भविष्यति। टीकानामधिकदोषप्रसिद्ध्या त्यागश्च।'^{१३} अस्मिन्नेव भाष्यकरणशङ्कासमाधानादिप्रकरणे ऋषिदयानन्देनाचार्यसायणमहीधरयोः भाष्ययो उद्धरणानि प्रदर्श्य तेषां सप्रमाणं

६. तत्रैव- वेदसंज्ञाविचारप्रकरणम्

७. तत्रैव- वेदविषयविचारप्रकरणम्

८. वेदान्तदर्शनम् अ० १/पा० १/सू० ४

९. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका- वेदविषयविचारप्रकरणम् स्वामिदयानन्दः

१०. तत्रैव- प्रतिज्ञाविषयप्रकरणम्

११. मुण्डकोपनिषद् २. २. ८

१२. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका- ईश्वरविषयविचारप्रकरणम्, अलोका, Digitized by S3 Foundation USA

१३. तत्रैव- भाष्यकरणशङ्कासमाधानादिविषयप्रकरणम्।

विवेचनं यथायथं विहितम्। सायणस्यावधारणा वेदविषये “सर्वे वेदाः क्रियाकाण्डतत्पराः सन्तीति वर्तते। ऋषिदयानन्द एनां धारणामपाकृत्य कथयति-‘तेषां सर्वविद्यान्वितत्वात्।’ अस्यायमर्थो यत् वेदेषु सर्वा विद्या उपलभ्यन्ते। अस्मिन्नेव प्रकरणे ऋषिवरदयानन्देन सायणाचार्यस्योदाहरणपुरस्सरमेकस्य मन्त्रस्यालोचना उपस्थाप्यते। तद्यथा- (इन्द्रं मित्रं०) अस्य मन्त्रस्यार्थोऽप्यन्यथैव वर्णितः। तद्यथा- तेनात्रेन्द्रशब्दो विशेष्यतया गृहीतो मित्रादीनि च विशेषणतया। अत्र खलु विशेष्योऽग्निशब्द इन्द्रादीनां विशेषणानां सङ्गेऽन्वितो भूत्वा, पुनः स एव सद्वस्तुब्रह्मविशेषणं भवति। एवमेव विशेष्यं प्रति विशेषणं पुनः पुनरन्वितं भवतीति, न चैवं विशेषणम्। एवमेव यत्र शतं सहस्रं वैकस्य विशेष्यस्य विशेषणानि भवेयुः, तत्र विशेष्यस्य पुनः पुनरुच्चारणं भवति, विशेषणस्यैकवारमेवेति। तथैवात्र मन्त्रे, परमेश्वरेणाऽग्निशब्दो द्विरुच्चारितो विशेष्यविशेषणाऽभिप्रायत्वात्। इदं सायणाचार्य्येण नैव बुद्धम् अतस्तस्य भ्रान्तिरेव जातेति वेद्यम्। निरुक्तकारेणाप्यग्निशब्दो विशेष्यविशेषणत्वेनैव वर्णितः। तद्यथा- ‘इममेवाग्निं महान्तमात्मानमेकमात्मानं बहुधा मेधाविनो वदतीन्द्रं मित्रं वरुणमित्यादि०॥’^{१४} स चैकस्य सद्वस्तुनो ब्रह्मणो नामास्ति। तस्मादग्न्यादीनीश्वरस्य नामानि सन्तीति बोध्यम्। एवमेव सायणाचार्यकृतभाष्यदोषा बहवः सन्ति।^{१५} महीधराचार्यस्य तु नात्र प्रदर्शनमर्हति अश्लीलत्वात्। एवं दयानन्दस्य मन्त्रस्यास्य विवेचनेन ज्ञायते यत् इन्द्राग्निमित्रवरुणादीनि ईश्वरस्यापि नामानि सन्ति। परमेतादृशमुद्धोषं न कोऽप्यन्यो भाष्यकारः कथमपि कर्तुं शशाक, किन्तु बहुषु स्थलेषु सर्वे भाष्यकारा एभिः पदैरीश्वरमपि विदाञ्चक्रुः। महीधराचार्यस्य भाष्ये महर्षिणा या अश्लीलता संकेतिताः दिग्दर्शनमप्यत्र नावश्यकम्। एवमृगवेदादिभाष्यभूमिकायाः भाष्यकरणशङ्कासमाधानादिविषये सायणमहीधरकृतभाष्ययोर्खण्डनमुदाहरणपुरस्सरं कृत्वा एतेषां भाष्यकाराणां भाष्यं नैव श्रद्धेयमिति भणितं दयानन्दस्वामिना-“नैवैतेषां व्याख्यानानामाश्रयं कर्तुमर्ह्याणां लेशमात्रापि योग्यता दृश्यते। तदाश्रयेण वेदानां सत्यार्थस्य हानिरनर्थप्रकाशश्च। तस्मात् तद्व्याख्यानेषु सत्या बुद्धिः केनापि नैव कर्तव्या। किन्तु वेदाः सर्वविद्याभिः पूर्णाः सन्ति, नैव किञ्चित् तेषु मिथ्यात्वमस्ति।”^{१६}

दयानन्दवेदभाष्यवैशिष्ट्यप्रसङ्गे श्रीअरविन्दमहाभागस्योद्धोषं प्रस्तौमि। श्रीअरविन्दमहाभागेन गुरुकुल-कांगड़ी-विश्वविद्यालयतः प्रकाशितायामाङ्गलपत्रिकायां ‘वैदिकमैगजीन’ इति नाम्नि १९१६ ईसवीये ‘वेद और दयानन्द’ इति शीर्षकान्विते लेखे लिखितम्- ‘मेरा पूरा विश्वास है कि वेद की व्याख्या के विषय में महर्षि दयानन्द उसके सबे सूरों के प्रथम आविष्कर्ता के रूप में सदा समादृत किये जायेंगे, भले ही वेद की अन्तिम सर्वाङ्गपूर्ण व्याख्या कोई भी क्यों न हो।’

आचार्ययास्को वेदमन्त्राणामाध्यात्मिकाधिदैविकाधिभौतिकव्याख्याः अङ्गीचकार। तद्यथा-‘अर्थ वाचः पुष्पफलमाह, याज्ञदैवते पुष्पफले, देवताध्यात्मे वा।’^{१७} एवं प्रब्रुवन् यास्कः कृत्स्नायाः वेदवाण्या अधियज्ञाधिदैविकाध्यात्मिकांश्चार्थान् पुष्पफलस्थानीयमिति कृत्वा उरीकरोति। स्कन्दस्वामी अस्मिन् विषये लिखति- ‘सर्वदर्शनेषु च सर्वे मन्त्रा योजनीयाः। कुतः? स्वयमेव भाष्यकारेण सर्वमन्त्राणां त्रिप्रकारस्य विषयस्य प्रदर्शनाय ‘अर्थ वाचः पुष्पफलमाह’ इति यज्ञादीनां पुष्पफलत्वेन प्रतिज्ञानात्।’^{१८} ऋषिवरदयानन्दः प्रतिज्ञाविषये प्रतिजानीते-

१४. निरुक्त ७.१७

१५. इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्। एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।

ऋ० २.३.२२ ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका-भाष्यकरणशङ्कासमाधानादिविषयः स्वामिदयानन्दः

१६. तत्रैव- भाष्यकरण

१७. निरुक्त १.१९

१८. निरुक्त ७.५- भाग-३ स्कन्दभाष्यम्

‘अत्र वेदभाष्ये कर्मकाण्डस्य वर्णनं शब्दार्थतः करिष्यते परन्त्वैतैर्वेदमन्त्रैः कर्मकाण्डविनियोजितैर्यत्र यत्राग्निहोत्राद्यश्वमेधान्ते यद्यत् कर्तव्यं तत्तदत्र विस्तरतो न वर्णयिष्यते। कुतः ? कर्मकाण्डानुष्ठानस्यैतरेयशतपथ-ब्राह्मणपूर्वमीमांसाश्रौतसूत्रादिषु यथार्थं विनियोजितत्वात्। पुनस्तत्कथनेनानृषिकृतग्रन्थवत् पुररुक्तपिष्टपेषणदोषापत्तेश्चेति।

उपर्युक्तकथनेन ज्ञायते यत् ऋषिवरदयानन्दः स्वभाष्ये कर्मकाण्डविनियोजनं विस्तरतो न वर्णयिष्यते यतो हि कर्मकाण्डानुष्ठानस्य यथार्थं विनियोजनमैतरेयशतपथब्राह्मणादिषु वर्तते। अन्यच्च प्रत्येकं मन्त्रस्यार्थः परमेश्वरपरकोऽपि भविष्यतीति स्वामिवर्यस्य विशदं मन्तव्यमस्ति। अधुना कतिपयाः वेदमन्त्राः प्रस्तूयन्ते यत्र ऋषिवरदयानन्देन विविधाः अर्थाः बोधिताः। तेन द्विशतमन्त्राणां भाष्ये श्लेषालंकारो लिखितः। ‘अग्निमीळे पुरोहितम्’^{१९} अत्राग्निशब्देन परमार्थव्यवहारविद्यासिद्धये परमेश्वरभौतिकौ द्वारथौ गृह्येते। ‘इन्द्रायाहि चित्रभानो’^{२०} अत्र इन्द्रशब्देन ईश्वरसूर्यौ गृह्येते। अस्यायं भावः- अत्र श्लेषालङ्कारेणेश्वरस्य सूर्यस्य वा यानि कर्माणि प्रकाशयन्ते तानि परमार्थव्यवहारसिद्धये मनुष्यैः समुपयोक्तव्यानि सन्तीति। ‘इन्द्रेहि मत्स्यन्धसो’^{२१} अत्रापि इन्द्रशब्देनेश्वरसूर्यौ गृह्येते। अत्र श्लेषलुप्तोपमालंकारौ। यथेश्वरोऽस्मिन् जगति प्रतिपरमाण्वभिव्याप्य सततं सर्वान् लोकान् नियतान् रक्षति, तथा सूर्योऽपि सर्वेभ्यो लोकेभ्यो महत्त्वादाभिमुख्यस्थान् पदार्थानाकृष्य प्रकाशय व्यवस्थापयति। ‘वायवा याहि दर्शितमे सोमा अरंकृताः’^{२२} अत्र श्लेषालंकारेणेश्वरभौतिकावर्थौ गृह्येते। ... प्रेम्णा जीवेन प्रयुक्तं स्तुतिं वाणीं चेश्वरः सर्वगतः प्रतिकृष्य शृणोति। तथा जीवो वायुनिमित्तेनैव शब्दानामुच्चारणं श्रवणं च कर्तुं शक्नोतीति। ‘इह त्वष्टामग्रियं विश्वरूपमुपचैवेड’^{२३} अत्र त्वष्टाशब्देन परमेश्वरभौतिकाग्नी गृह्येते। अस्यायं भावः- मनुष्यैरन्तानन्दप्रद ईश्वर एवोपास्योऽस्ति। तथाऽयमग्निः सर्वपदार्थच्छेदको रूपगुणः सर्वद्रव्यप्रकाशकोऽनुत्तमः शिल्पविद्याया अद्वितीयसाधनोऽस्माकं यथावदुपयोक्तव्योऽस्तीति मन्तव्यम्। ‘कदुद्राय प्रचेतसं’^{२४} अत्र रुद्रशब्देन त्रयोऽर्था गृह्यन्ते। परमेश्वरो जीवो वायुश्चेति तत्र परमेश्वरः सर्वज्ञतया येन यादृशं पापकर्म कृतं तत्फलदानेन रोदयिताऽस्ति जीवः खलु यदा मरणसमये शरीरं जहाति पापफलं च भुङ्क्ते तदा स्वयं रोदिति वायुश्च शूलादिपीडाकर्मणा कर्मनिमित्तः सन् रोदयिताऽस्त्यत एते रुद्रा विज्ञेयाः। ‘अस्मे सोम श्रियमधिनिधेहि’^{२५} अत्र सोमशब्देन परमेश्वरसभाध्यक्षौ गृह्येते। अस्यायं भावः- न हि कश्चित् परमेश्वरस्य कृपया सभाध्यक्षसहायेन स्वपुरुषार्थेन च विना पूर्णं विद्यां पशूश्वक्रवर्तिराज्यं लक्ष्मीं च प्राप्तुं शक्नोतीति। ‘त्वं सोमासि सत्पतिस्त्वं राजोत् वृत्रहा’^{२६} अत्र सोमशब्देन परमेश्वरः, शालाध्यक्षः, विद्वान्, सोमोषधिश्च गृह्यते। अस्यायं भावः- परमेश्वरो विद्वान् सोमलताद्योषधिगणो वा सर्वैश्वर्यप्रकाशकः सतां रक्षकोऽधिपतिर्दुःखविनाशको विज्ञानप्रदः कल्याणकार्यस्तीति सम्यग् विदित्वा सेव्यः। ‘अहं सो अस्मि यः पुरा’^{२७} अत्र श्लेषोपमालंकारौ। सर्वान्मनुष्यान्प्रतीक्ष्य उपदिशति हे मानवा! यूयं यथा मया सृष्टिं रचयित्वा वेदद्वारा

१९. ऋग्वेद १.१.१

२०. ऋग्वेद १.३.४

२१. ऋग्वेद १.१.१

२२. ऋग्वेद १.२.१

२३. ऋग्वेद १.१३.१०

२४. ऋग्वेद १.४३.१

२५. ऋग्वेद १.४३.७

२६. ऋग्वेद १.११.५

२७. ऋग्वेद १.१०५.७

यादृशा उपदेशाः कृताः सन्ति तान् तथैव स्वीकुरुत। उपास्यं मां विहायाऽन्यं कदाचिन्नोपासीरन्। यथा कश्चिन्मृगायां प्रवर्तमानश्चोरो व्याधो वा मृगं प्राप्तुं कामयते तथैव सर्वान् दोषान्हित्वा मां कामयध्वम्। एवं विद्वांसमपि॥

एवं निरुक्तकारयास्केन इतरैः वेदभाष्यकारैश्च मन्त्राणामनेकार्थकपद्धत्याः यः सूत्रपातः कृतः तस्यैव संवर्धनं ऋषिवरदयानन्देन स्वभाष्ये कृतमिति निश्चप्रचम्।

ऋषिवरदयानन्दस्य वेदभाष्यस्य वैशिष्ट्यमपरिमितमस्तीति यत् स वेदेषु लौकिकमितिहासं नैव मन्यते। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायाः वेदसंज्ञाप्रकरणे तेनोल्लिखितम्- 'नात्र मन्त्रभागे हीतिहासलेशोऽप्यस्तीत्यवगन्तव्यम्। अतो यद्य सायणाचार्यादिभिर्वेदप्रकाशादिषु यत्र कुत्रेतिहासवर्णनं तद् भ्रममूलमस्तीति मन्तव्यम्।' एवमेव 'त्रायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्रायुषम्'^{२८} अत्र जमदग्निः कश्यपेत्यादीनि नामानि दृश्यन्ते। एतौ जमदग्निः कश्यपौ देहधारिणो मनुष्यस्य नाम्नी नैव स्तः। शतपथानुसारेण जमदग्निश्चक्षुर्नाम, कश्यपश्च प्राणो नाम। एवमेव ऋग्वेदे- 'यदिन्द्राग्नी यदुषु तुर्वशेषु यददुह्येष्वनुषु पुरुषु स्थः०'^{२९} अत्र यदुर्तुर्वश-दुह्य-अनु-पुरु-इत्यादीनि नामानि दृश्यन्ते। अस्य व्याख्यायां स्कन्दस्वामी लिखति- 'पञ्चाप्येतानि राज्ञां नामधेयानि।' एषामपत्यानां तद्गृहाणां च वर्णनं वर्ततेऽस्मिन् मन्त्रे।

वेंकटमाधवेन लिखितम्- 'यदुप्रभृतयः बहुयज्ञाः कुत्ससमकालीना इति। अत्र विल्सनग्रिफिथावपि ऐतिहासिकनामानि मन्येते। परं महर्षिदयानन्देन यौगिकार्थं मत्वा मन्त्रस्यास्य भाष्यं कृतम्। 'यदुषु प्रयत्नकारिषु मनुष्येषु, तुर्वशेषु तुर्वन्तीति तुरस्तेषां वशा वशं कर्तारो, मनुष्यास्तेषु, दुह्येषु द्रोहकारिषु, अनुषु प्राणप्रदेषु, पूरुषु परिपूर्णसद्गुणविद्याकर्मसु मनुष्येषु। यदव इत्यादि पञ्चविंशतिः मनुष्यनामसु पठितम्।'^{३०} सायणाचार्येणाप्यत्र यौगिकार्था एव गृहीताः। यथा- 'यदुषु नियतेषु परेषामहिंसकेषु मनुष्येषु, तुर्वशेषु हिंसकेषु मनुष्येषु, दुह्येषु द्रोहं परेषामुपद्रवमिच्छत्सु मनुष्येषु, अनुषु प्राणत्सु सफलैः प्राणैर्युक्तेषु ज्ञातृष्वनुष्ठातृषु मनुष्येषु, पूरुषु कामैः पूरयितव्येष्वन्येषु स्तोतृजनेषु।' अन्येषु स्थलेषु एतान्येव ऐतिहासिकानि मन्यते सायणाचार्यः। यथा- 'य आनयत्परावतः सुनीती तुर्वशं यदुम्'^{३१} अत्र तुर्वशं यदुं च एतत्संज्ञौ राजानौ इति सायणाभिमतम्। परं दयानन्द अत्रापि यौगिकार्थमेव मन्यते। यथा- तुर्वशं हिंसकानां वशकरम्, यदुं प्रयतमानं नरम् इति।

वेदेषु यान्यन्यानि नामानि नहुष-कौशिक-शुनःशेष-कक्षीवान्-पुरुकुत्स-अगस्त्य-नमुचि-भृगु-इत्यादीनि दृश्यन्ते तेषामपि महर्षिणा दयानन्देन यौगिकोऽर्थं कृतोऽन्यैः भाष्यकारैस्तु तत्रापि ऐतिहासिकोऽर्थो गृहीतः। 'आ तू न इन्द्र कौशिक मन्दसानः सुतं पिब०'^{३२} अत्र 'कौशिक' इत्यस्य कुशिकस्य पुत्र इन्द्र इति कृतः सायणादिभिः। परं दयानन्देन 'कौशिक सर्वासां विद्यानामुपदेशे प्रकाशे च भवस्तत्संबुद्धौ, अर्थानां साधूपदेष्टव्यौ।' 'सोमानं स्वरणं कृणुहि ब्रह्मणस्पते। कक्षीवन्तं य औशिनः।'^{३३} अत्र 'कक्षीवान्' इत्यस्यार्थः सायणवेंकटस्कन्दादिभिः ऋषिविशेषः कृतः। परं दयानन्देनात्रापि यौगिकोऽर्थो गृहीतः। यथा- 'कक्षीवन्तम्=याः कक्षासु कराङ्गुलिक्रियासु भवाः शिल्पविद्यास्ताः प्रशस्ता विद्यन्ते यस्य तम्। कक्षा इत्यङ्गुलिनामसु पठितम्।'^{३४} तदिन्नक्तं तद्विवा मह्यमाहुस्तदयं केतो

२८. यजुर्वेद ३.६२

२९. ऋग्वेद १.१०८.८

३०. निघण्टु २.३

३१. ऋग्वेद ६.४५.१

३२. ऋग्वेद १.१०.११

३३. ऋग्वेद १.१८.१

३४. निघण्टु २.५ CC-0. JK Sanskrit Academy, Jammu. Digitized by S3 Foundation USA

हृद आविचष्टे। शुनः शेषो^{३५} अस्मिन् मन्त्रे शुनःशेष इत्यनेन सायणादिभिः व्यक्तिविशेषः गृहीतः। दयानन्देन 'शुनः शेषः शुनो विज्ञानवत इव शेषो विद्यास्पृशो यस्य सः' इति गृहीतः। 'त्वामग्ने प्रथममायुमायवे देवा अकृण्वन्नहुषस्य^{३६} अस्मिन् मन्त्रे 'नहुषस्य' सायणादिभिः नहुषनामकराजविशेषो गृहीतः। दयानन्देन च 'नहुषस्य मनुष्यस्य' नहुष इति मनुष्यनामसु पठितम्^{३७} इति गृहीतः। 'युधायुधमुप घेदेषि नमुचि नाम मायिनम्^{३८} इत्यत्र 'नमुचि' इत्यनेन मायाविन असुरस्य ग्रहणं सायणादिभिः। दयानन्देन तु 'नमुचिं न विद्यते मुचिमौक्षणं यस्य तम्' इति यौगिकोऽर्थो गृहीतः। 'नमुचि' = पापो मनुष्यः। 'दधुष्टा भृगव^{३९} इत्यत्र 'भृगनामकः महर्षिः' इति सायणादिभिः कृतोऽर्थः। दयानन्देन च 'परिपक्वविज्ञानाः मेधाविनो विद्वांसः' इति कृतः। 'दनो विश पुरुकुत्साय रन्धीः।'^{४०} इत्यत्र 'पुरुकुत्स' इत्यनेन पुरुकुत्सनामकराजविशेषो गृहीतः सायणादिभिः। दयानन्देन च 'पुरुकुत्साय पुरवो बहवः कुत्सा वज्राः किरणा यस्मिन् सूर्ये' इति गृहीतो यौगिकोऽर्थः। 'अगस्त्यः खनमानः खनित्रैः^{४१} इत्यत्र 'अगस्त्य इत्यनेनैतिहासिकर्षिर्गृहीतः' सायणादिभिः। दयानन्देन तु 'ये धर्मादन्यत्र न गच्छन्ति तेऽगस्त्यस्तोषु साधुः' इति गृहीतः।

ऋषिवरदयानन्देन स्ववेदभाष्ये सर्वत्र जडपदार्थाय प्रथमपुरुषप्रयोगः कृतः। केचनोदाहरणा अत्र प्रस्तौमि। यथा- 'इषे त्वोर्जे त्वा^{४२} इत्यत्र स्थः सन्ति। 'वसोः पवित्रमसि^{४३} इत्यत्र असि= भवति। 'धूरसि धूर्व धूर्वन्तं^{४४} इत्यत्र असि अस्ति। 'अहुतमसि^{४५} इत्यत्र असि= अस्ति। 'पवित्रे स्थो वैष्णव्यो^{४६} इत्यत्र स्थः भवतः वः ताः। 'युष्मा इन्द्रोऽवृणीतं^{४७} इत्यत्र स्थ= भवन्ति। अत्र सर्वत्र दयानन्दभाष्ये भौतिकपक्षे व्यत्ययेन प्रथमपुरुषो गृह्यते। अस्मिन् विषये ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायां निर्दिश्यते- 'व्याकरणरीत्या प्रथममध्यमोत्तमपुरुषाः क्रमेण भवन्ति। तत्र जडपदार्थेषु प्रथमपुरुष एव, चेतनेषु मध्यमोत्तमौ च। अयं लौकिकवैदिकशब्दयोः सार्वत्रिको नियमः। परन्तु वैदिकव्यवहारे जडेऽपि प्रत्यक्षे मध्यमपुरुषप्रयोगाः सन्ति। तत्रेदं बोध्यं जडानां पदार्थानामुपकारार्थं प्रत्यक्षकरणमात्रमेव प्रयोजनमिति। इमं नियममबुद्ध्वा वेदभाष्यकारैः सायणाचार्यादिभिस्तदनुसारतया स्वदेशभाषयाऽनुवादकारकैर्यूरोपाख्यदेशनिवास्यादिभिर्मनुष्यैर्वेदेषु जडपदार्थानां पूजास्तीति वेदार्थोऽन्यथैव वर्णितः।'^{४८} दयानन्दमहाभागस्यैषा सुदृढा बलवती च धारणा विद्यते यत् जडपदार्थस्योपासना न कदापि कथमपि कर्तव्या इति।

३५. ऋग्वेद १.२४.१२

३६. ऋग्वेद १.३१.११

३७. निघण्टु २.३

३८. ऋग्वेद १.५३.७

३९. ऋग्वेद १.५८.६

४०. ऋग्वेद १.१७४.२

४१. ऋग्वेद १.१७९.६

४२. यजुर्वेद १.१

४३. यजुर्वेद १.२

४४. यजुर्वेद १.८

४५. यजुर्वेद १.९

४६. यजुर्वेद १.१२

४७. यजुर्वेद १.१३

४८. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका- वैदिकप्रयोगविषयः स्वामिदयानन्दः

स्वामिदयानन्दस्य वेदभाष्ये देवताविषयको यो भेदो दृश्यते सोऽपि ऋषिप्रोक्तत्वात् विषयभेदत्वात् पूर्वाचार्याणां निर्देशत्वात् यास्केनोक्तत्वात् च प्रामाणिको युक्तिसङ्गतश्च। यजुर्वेदभाष्ये प्रथमाध्यायस्य एकत्रिंशन्मन्त्राणां मध्ये एकोनत्रिंशन्मन्त्राः देवताभेदेन प्रतिपादिताः दयानन्दमहाभागेन। अस्मिन् विषये यजुर्वेदभाष्यारम्भे उव्वटाचार्यो लिखति- 'गुरुतेस्तर्कतश्चैव तथा शातपथश्रुतेः। ऋषीन् वक्ष्यामि मन्त्राणां देवता छान्दसं च यत्॥' अस्मिन् विषये यास्काचार्योऽपि निर्दिशति नियमम्। यथा- 'तद्येऽनादिष्टदेवता मन्त्रास्तेषु देवतोपपरीक्षा' 'यद्देवतः स। यज्ञो वा यज्ञाङ्गं वा तद्देवता भवन्ति।'^{४९} अस्य व्याख्यायां दुर्गो लिखति- "यद् देवतः स यज्ञः यद् देवतं प्रधानं हविः, तद्यथा प्रकृतावैन्द्रं सान्नाय्यं माहेन्द्रं वा, तत्संस्कारपरा 'इषे त्वादयः' तेऽनाविष्कृतदेवतालिङ्गा ऐन्द्रा एव भवन्ति माहेन्द्रा वा।" देवतापरिवर्तनविषये स्कन्दोऽपि निगदति- 'इषे त्वादयस्तद्देवत्याः' अत एवमन्यत्रापि देवताभेदः प्राचीनर्षिमुनिसम्मत एव। यास्कादिभिः परमर्षिभिर्बृहदेवतासर्वानुक्रमण्यादिनिर्दिष्टदेवतावादमनपेक्ष्य भिन्नदेवतावादस्य प्रदर्शितत्वात्। 'पारोवर्य्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवतीति'^{५०} इत्यादिशास्त्रवचनस्याश्रयणाच्च। 'चत्वारि शृङ्गा त्रयोऽस्य पादाः'^{५१} अस्य मन्त्रस्य विवेचनं यास्कपतञ्जलिदयानन्दादिभिः विहितम्। परं त्रयाणां व्याख्यायां देवताभेदो दृश्यते। यास्केन अस्य मन्त्रस्य व्याख्या यज्ञविषया कृता पतञ्जलिना च शब्दविषया। दयानन्देन तु उभयोः तयोः भाष्ययोः मिश्रणं कृत्वा भावार्थः प्रदत्तः। तद्यथा- 'हे मनुष्या अस्मिन् परमेश्वरव्यासे जगति यज्ञस्य चत्वारो वेदा नामाख्यातोपसर्गनिपाताः विश्वतैजसप्राज्ञतुरीयधर्मार्थकाममोक्षाश्चेत्यादीनि शृङ्गाणि त्रीणि सवनानि त्रयः कालाः कर्म्मोपासनाज्ञानानि मनोवाक्छरीराणि चेत्यादीनि पादाः द्वौ व्यवहारपरमार्थौ नित्यकार्यौ शब्दात्मानाबुदगयनप्रायणीया अध्यापकोपदेशकौ चेत्यादीनि शिरांसि गायत्र्यादीनि सप्त छन्दांसि सप्त विभक्तयः सप्त प्राणाः पञ्च कर्मेन्द्रियाणि शरीरमात्मा चेत्यादयो हस्तास्त्रिषु मन्त्रब्राह्मणकल्पेष्वरसि कण्ठे शिरसि श्रवणमनननिदिध्यासनेषु ब्रह्मचर्य्यसुकर्मसुविचारेषु सिद्धोऽयं व्यवहारो महान् सत्कर्तव्यो मनुष्येषु प्रविष्टोऽस्तीति सर्वे विजानन्तु।' एवमुक्तरीत्या सम्पूर्णं मन्त्रं वीक्ष्य प्रतीयते यत् दयानन्दमहाभागेन यास्कादिभिर्परमर्षिभिरनुमोदिताऽभिनन्दिता या वेदभाष्यपद्धतिः, तामेवानुसृत्य स्ववेदभाष्यं सुस्पष्टीकृतं विशदीकृतञ्च। यास्केन 'नामपदानि धातुजानि भवन्ति'^{५२} इति निर्दिष्टं स्वनिरुक्ते। सर्वेषां नैरुक्तानामपि अयमेव सिद्धान्तः। दयानन्दमहाभागेन सर्वत्रैवास्य परिपालनं कृतमिति निश्चप्रचम्।

ऋषिवरदयानन्देन मन्त्राणां स्वतन्त्रः विनियोगः कृतः स्ववेदभाष्ये। 'इषे त्वा ऊर्जे त्वा'^{५३} इत्यत्र कर्मकाण्डविध्यनुसारेण 'इषे त्वा० अनेन मन्त्रांशेन पलाशशाखायाः छेदनं भवति 'ऊर्जे त्वा' अनेन च शाखायाः रेणोरपाकरणम्। परं मन्त्रे शाखायाः न कुत्रापि उल्लेखो भवति। ऋषिवरदयानन्दः विनियोगविषये संकेतयति नियमम्- 'तस्माद् युक्तिसिद्धो वेदादिप्रमाणानुकूलो मन्त्रार्थानुसृतः तदुक्तोऽपि विनियोगो ग्रहीतुं योग्योऽस्ति।'^{५४} यतो ह्यत्र मन्त्रार्थानुसृतः विनियोगो नास्ति अत एव ग्रहीतुं योग्योऽपि नैव भवति। ऐतरेयब्राह्मणे गोपथब्राह्मणे^{५५} च विनियोगविषये एकं पारिभाषिकं पदमागच्छति रूपसमृद्धमिति। रूपसमृद्धो विनियोगः स भवति य

४९. निरुक्त ७.४

५०. निरुक्त १३.१३

५१. ऋग्वेद ४.५८.३

५२. निरुक्त १.११

५३. यजुर्वेद १.१

५४. ऋग्वेदादिभाष्यो- प्रतिज्ञाविषयः।

५५. एतद् वै यज्ञस्य समृद्धं यद् रूपसमृद्धं यत् कर्म क्रियमाणमृग्यभिवदति। गो० ब्रा० १०.२.६
रूपसमृद्धं यत्कर्म क्रियमाणमृग्यजुर्वैभिवदति। गो० ब्रा० २.६

मन्त्रार्थेनानुमोदितो भवति। रूपसमृद्धिरहितो विनियोगः- यत्र विधेः क्रियाया वा मन्त्रार्थेन सम्बन्धो नैव भवति। रूपसमृद्धिहीनेन विनियोगेन विनियोगकर्तुरयोग्यतैव सूच्यते, एवमेतादृशो विनियोगो ग्रहीतुं योग्यो नास्ति। अश्वमेधप्रकरणे यजुर्वेदस्य त्रयोविंशतितमस्याध्यायस्य द्वाविंशतितमादारभ्य एकत्रिंशत्तमं मन्त्रपर्यन्तं यः संवादो वर्तते तस्य गम्भीरार्थो विद्यते परं महीधरेण तत्राश्लीलार्थः कृतः। स्वामिदयानन्देन ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायां तस्य खण्डनं विधाय राजनीतिपरोऽर्थः प्रस्तुतः।

यजुर्वेदस्य षष्ठाध्याये सप्तत्रिंशन्मन्त्राः सन्ति। कर्मकाण्डीयविध्यनुसारेण त्वग्निषोमीयपशुप्रधानः अध्यायोऽयम्। यूपं संस्कृत्य, तं भूमौ संस्थाप्य यूपेन अजपशुं निबन्ध्य, पश्चात् क्षुरिकामुपरि घृतमवलेश्य पशुकर्तनं भवति एभिः मन्त्रैः। पश्चात् पशोरङ्गेषु मार्जनं, तस्य मेदेन होमः। मृतस्याङ्गेषु पुनः प्राणप्रतिष्ठा इत्यादयो विनियोगाः क्रियन्ते। तत्पश्चात् 'समुद्रं गच्छ स्वाहा' इत्यनेन पशोः पृष्ठभागस्य एकादशभागं कृत्वा अग्नावाहुतिं ददति। परं दयानन्दस्य नवीनं विषयविभाजनमध्यायेऽस्मिन् द्रष्टव्यमस्ति। प्रथमे मन्त्रे राज्याभिषेकाय सुशिक्षितं सभाध्यक्षं विद्वांसं प्रत्याचार्यादीनामुपदेशः, द्वितीय अभिषिक्तं सभाध्यक्षं प्रति कर्तव्योपदेशः। 'समुद्रं गच्छ'^{५६} अस्मिन् राष्ट्रकर्मानुष्ठानमर्हाय शिष्याय गुरोरुपदेशः। 'मापो मौषधीर्हिंसीर्धाम्नोः'^{५७} अस्मिन् वाणिज्यार्थं राजप्रबन्धस्योपदेशः, 'हविष्मतीरिमाऽआपो'^{५८} अस्मिनन्योन्यं मिलित्वा राजप्रजे केन किं किं कुर्यातामिति उपदेशः, 'सोम राजन् विश्वास्त्वं', 'देवीरापोऽअपांनपाद्यो'^{५९} एतयोर्द्वयोर्मन्त्रयोः गुरुजनः क्षत्रियं शिष्यं प्रजाजानांश्च प्रत्युपदिशति, 'देवस्य त्वा सवितुः प्रसवे'^{६०} मन्त्रेऽस्मिन् सभापतिः करधनप्रदं प्रजापुरुषं कथं स्वीकुर्यादित्युपदेशः 'मनो मे तर्पयत'^{६१} इत्यस्मिन् राजा सभ्यजनान् सभा राजानञ्च किमुपदिशेदित्याह 'इन्द्राय त्वा वसुमते'^{६२} राज्यव्यवहारः सभाधीन एव तर्हि कस्मै प्रयोजनाय प्रजापुरुषैः सभापतिस्वीकार्य इत्युपदिश्यते मन्त्रेऽस्मिन् 'श्वात्रा स्थ वृत्रतुरो'^{६३} इत्यस्मिन् सभापत्यादिविदुषां पत्न्यः कीदृशकर्मानुष्ठात्र्यो भवन्त्वित्युपदिश्यते 'त्वमङ्ग प्रशंसिषो देवः'^{६४} इत्यस्मिन् प्रजाजानाः निर्वाचितं सभापतिं कथं प्रशंसेयुरित्युपदिश्यते। 'रेवती रमध्वं बृहस्पते'^{६५} इत्यस्मिन् मन्त्रे पित्रादयः स्वसन्तानान् कथमध्यापकाय प्रददुः स च तान् कथं गृह्णीयादित्युपदिश्यते, 'देवस्य त्वा सवितुः'^{६६} सः गुरुः शिष्यं किमुपदिशेदित्याह, 'देवीरापः शुद्धा वोड्ढव'^{६७} इत्यस्मिन् मन्त्रे वटुभिर्बह्मचारिणीभिश्च गुरुपत्न्यः कथं सम्माननीया इत्युपदिश्यते, 'वाचं ते शुन्धामि प्राणं ते शुन्धामि'^{६८} इत्यस्मिन् ता गुरुपत्न्यो गुरवश्च यथायोग्यशिक्षया

५६. यजुर्वेद ६.२१

५७. यजुर्वेद ६.२२

५८. यजुर्वेद ६.२३

५९. यजुर्वेद ६.२६, २७

६०. यजुर्वेद ६.३०

६१. यजुर्वेद ६.३१

६२. यजुर्वेद ६.३२

६३. यजुर्वेद ६.३४

६४. यजुर्वेद ६.३७

६५. यजुर्वेद ६.८

६६. यजुर्वेद ६.९

६७. यजुर्वेद ६.१३

६८. यजुर्वेद ६.१४

स्वस्वान्तेवासिनः सद्गुणेषु कथं प्रकाशयन्तीत्युपदिश्यते, 'अग्नेर्वोऽपन्नगृहस्य०'^{६९} इत्यस्मिन् मन्त्रे च गुरुपत्न्यो ब्रह्मचर्यमनुवर्तिनीः कन्याः किं किमुपदिशेयुरित्याह।

उपर्युक्तकर्मकाण्डीयदयानन्दीयव्याख्ययोः दृष्ट्वा स्फुटीभवति यत् दयानन्दवेदभाष्यस्य किं वैशिष्ट्यम्। तस्य भाष्ये न कुत्रापि मांसभक्षणं, न च पशुबलिः वर्तते। एवं स्वामिदयानन्दस्य वैशिष्ट्यमिदं विद्यते यदसौ भाष्यकारः व्यावहारिकं लोकोपकारिकमर्थमधिकं विदधाति।

महर्षेः दयानन्दस्य वेदभाष्यस्य महद्वैशिष्ट्यमिदं वर्तते यत् तेन महाभागेन वैदिकदेवतानां वैदिकदेवानाञ्च स्वरूपनिर्धारणं कृतम्। वेदेषु उषाराकासिनीवालीडासरस्वतीमहीभारतीपृथिव्यदितिशचीप्रभृतीनां देवतानामग्नीन्द्र-सवितृविष्णु-इत्यादीनां देवानाञ्चोल्लेखो प्राप्यते। अधुनात्रोदाहरणरूपेण 'सरस्वत्यग्नी' इत्येतौ देवौ प्रस्तौमि-

सरस्वती- सरस्वतीति पदं निघण्टौ वाणीनामसु नदीनामसु च पठितम्।^{१०} 'शतपथब्राह्मणे च नारी' इत्यर्थः प्राप्यते।^{११} सायणादिभिस्तु वाणीनद्यौ एतौ द्वावेवाथौ कृतः। महर्षिदयानन्दस्य भाष्ये अस्य पदस्य विविधार्थाः प्राप्यन्ते। 'सरस्वती' इति पदं मुख्यत्वेन 'विदुषी कन्या'^{१२}, 'प्रशस्ता ज्ञानवती विदुषी स्त्री'^{१३}, 'प्रशस्तविद्याविज्ञानयुक्ता पत्नी'^{१४}, 'शिक्षिता माता'^{१५}, 'योगिनी स्त्री'^{१६}, 'वेदादिशास्त्रविज्ञानयुक्ता अध्यापिका स्त्री'^{१७}, 'सर्वविद्याप्रापिका वाणी'^{१८}, 'वेगवती नदी'^{१९}, 'विज्ञानवती नीतिः'^{२०} इत्यादीनां बहूनामर्थानां वाचकः। 'आपपुषी पार्थिवान्युरू रजो अन्तरिक्षम्। सरस्वती निदस्पातु।'^{२१} इत्यस्मिन् मन्त्रे 'सरस्वती' इति पदेन 'विद्यासुशिक्षिता वाक्' गृहीता। अस्य मन्त्रस्यायं भावः- 'हे मनुष्या! या वाणी सर्वत्राकाशे व्याप्ताऽस्ति तां विदित्वाऽनया कस्यापि निन्दामर्थाद् गुणेषु दोषारोपणं दोषेषु गुणारोपणं च कदाचिन् मा कुर्वन्तु।'

अग्निः- दयानन्दभाष्ये 'अग्निः' इति पदं मुख्यत्वेन परमेश्वरजीवात्माविद्वान्मनुष्यनृपसेनाध्यक्षन्यायाधीश-वीरपुरुष यज्ञाग्निभौतिकाग्निविद्युदित्यादीनां बोधकः। 'अग्ने सहस्व पृतना०'^{२२} इत्यस्मिन् मन्त्रे 'अग्नि' इति पदेन वह्निवद् दुष्टानां दाहकः नृपः राजपुरुषश्च गृहीतः। अस्यायं भावः- 'राजपुरुषैः स्वप्रजासेना बलवतीः कृत्वा दुष्टाञ्छत्रून्निवार्य प्रजावर्द्धनाय धनविद्योन्नतिः सततं कर्त्तव्या।'

एवमुपर्युक्तेनानुशीलनेन ज्ञायते यद् दयानन्दवेदभाष्यमृषिभिर्मुनिभिश्चानुमोदितमभिनन्दितञ्च वर्तते। तस्य मते सर्वेषां वेदानां तात्पर्यमीश्वर एव विद्यते। तेन पारमार्थिकव्यावहारिकयोर्द्वयोरर्थयोर्या सम्भावना प्रदर्शिता सर्वेषु

६९. यजुर्वेद ६.२४

७०. निघण्टु १.११, १.१३

७१. योषा वै सरस्वती। श०ब्रा० २.५.१.११

७२. ऋग्० १.१८८.८, ६.४९.७

७३. ऋग्० २.४१.१७, यजु० २१.४९

७४. यजु० १९.१५

७५. यजु० २०.६२, ६४

७६. यजु० १९.९३

७७. यजु० ९.२७

७८. ऋग्० १.३.१०, यजु० ११.२६

७९. ऋग्० ६.५२.६, यजु० २१.४६

८०. ऋग्० १.१३.९, यजु० २१.५६

८१. ऋग्० ६.६१.११

८२. ऋग्० ३.२४.१

मन्त्रेषु, तस्याः परिपालनमपि कृतम्। सायणोव्वटादीनां यथावत् खण्डनमपि कृतम्। प्रायशः श्लेषालंकारेण लुप्तोपमालंकारेण च मन्त्राणामर्थाः बोधिताः दयानन्दमहाभागेन। स वेदेषु लौकिकमितिहासं नैव मन्यते। जडपदार्थाय सर्वत्र तेन प्रथमपुरुषप्रयोगः कृतः। बहुषु स्थलेषु देवताभेदोऽपि प्रदर्शितः। ऋषिवरेण पूर्वकृतेभ्यो विनियोगेभ्यः स्वतत्रविनियोजनं कृतम्। देवानां देवतानाञ्च स्वरूपनिर्धारणं विहितम्। एवं महर्षेः वेदभाष्यानुशीलनेन स्फुटमेतदवगम्यते यत् स क्रान्तदर्शी, निर्भीकः, धर्मपरायणः, परार्थैकधीः, नारीसम्मानसंवर्धकः, वैदिकधर्मप्रतिष्ठापकः, मूर्तिपूजा-अवतारवाद-मांसभक्षण-पशुबलीत्यादिदोषसंहारकः एकेश्वरवादसंपोषकः समाजोन्नायकः, राष्ट्रियचेतनाप्रबोधकः महापुरुषश्चासीत्।

महर्षि दयानन्द के वेद-भाष्य में अग्नि देवता-सूचक गृहस्थ-धर्म

डॉ० सुधीर कुमार आर्य^१

वेदों में जहाँ अन्य विषयों का वर्णन है, वहाँ गृहस्थ-विषय का भी वर्णन विस्तार के साथ मिलता है। महर्षि दयानन्दकृत वेदभाष्य के अग्निदेवतासम्बन्धी लगभग तीस मन्त्रों में गृहाश्रम का विषय वर्णित है। स्वामी जी अग्नि का शब्दार्थ गृहपति एवं चरित्र का बहुत सुन्दर रीति से प्रतिपादन करते हैं। दयानन्द-भाष्य के एतद्विषयक प्रकरण के अध्ययन से हमें ज्ञात होता है कि गृहस्थ पति-पत्नी कैसे हों, उनका पारस्परिक व्यवहार कैसा हो, सन्तान के प्रति उनके क्या कर्तव्य हों, वे सन्तान को कैसी शिक्षा दें, सन्तान का माता-पिता के प्रति क्या कर्तव्य हो, विवाह के समय वर-वधू क्या प्रतिज्ञाएँ करें, स्वयंवर विवाह की क्या श्रेष्ठता है, क्यों विवाह दूर देश में होना उचित है आदि।

अग्नि का गृहपति अर्थ करने में प्रमाण-

अग्नि का गृहपति अर्थ करने में वेदमन्त्रों के प्रमाण प्रस्तुत किये जा सकते हैं, जो साक्षात् रूप से या विशेषण-विशेष्यभाव से अग्नि को गृहपति सिद्ध करते हैं। यथा-

१. दमूना गृहपतिर्दम आँ अग्निर्भुवद्रयिपतीरयीणाम्। (ऋग्०१.६०.४)
२. वयमु त्वा गृहपते जनानामग्ने। (ऋग्०६.१५.१९)
३. त्वमग्ने गृहपतिस्त्वं होता। (ऋग्०७.१६.१५)
४. अग्ने गृहपते सुगृहपतिस्त्वयाऽग्नेऽहं भूयासम्। (यजु०२.१७)
५. अयमग्निर्गृहपतिर्गार्हपत्यः। (यजु०३.३९)
६. अग्नये गृहपतये स्वाहा। (यजु०१०.१३)
७. अग्निं गृहपतिम्। (यजु०२८.३४)
८. सायं सायं गृहपतिर्नो अग्निः। (अथर्व०१९.५५.३)
९. प्रातः प्रातः गृहपतिर्नो अग्निः। (अथर्व०१९.५५.४)
१०. अग्निर्गृहपतिः। (तै०सं०२.४.५.२)
११. अग्ने गृहपते सुगृहपतिरहम्। (मै०१.५.१४, काठ०५.५.७.३)
१२. अग्ने गृहपतये। (मै०२.६.६)

उपर्युक्त सभी प्रमाणों से महर्षि दयानन्द का अग्नि को गृहपति के अर्थ में ग्रहण करना उचित ठहरता है।

गृहपति

गृहपति को किन-किन गुणोंवाला होना चाहिए, एतद्विषयक कतिपय प्रसंगों का अग्निदेवताक मन्त्रों के दयानन्द-भाष्य से हम यहाँ उल्लेख कर रहे हैं।

^१ असिस्टेंट प्रोफेसर, वेद विभाग, गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार उत्तरखण्ड

गृह-व्यवहार का पालक गृहस्थ-जन ब्रह्मचर्यानुष्ठान के पश्चात् ही गृहाश्रम में प्रविष्ट होकर, बहुत सुवर्णादि से युक्त होकर सब व्यवहार एवं धन का धारण करनेवाला, इन्द्रियों और अन्तःकरण का दमनकर्ता तथा पूजनीय व वरणीय हो।^२ उसे अतिथि के सदृश उपदेशकर्ता, प्राचीन विद्वानों से प्राप्तविद्य, न्याय के व्यवहार का प्रकाशक, महाप्रज्ञा, सुन्दर आकृतिवाला, धन की इच्छावाला, प्रशंसित गृहवाला, श्रेष्ठ रक्षणादि साधनों से युक्त एवं विनष्ट-शत्रुओं वाला होना चाहिए।^३ वह अग्नि के सदृश तेजस्वी, यज्ञ (हवन) के गुणों को जाननेवाला, रत्नों का धारक, बहुतों की सेवा करनेवाला एवं अन्य विविध गुणों से प्रकाशित हो।^४

गृहस्थजनों को चाहिए कि वे आलस्य का त्याग एवं सृष्टिक्रम से विद्या की उन्नति करके अन्य विद्यार्थियों को भी विद्याग्रहण कराएँ।^५ वही मनुष्य गृहाश्रम के योग्य होता है जो सत्य धर्म से युक्त, सम्पूर्ण संसार के उत्पादक ईश्वर के समान व्यवहार करनेवाला, स्त्री का साथी, सुन्दर गतिवाला, बुद्धि वा सत्यकर्मों से युक्त तथा युद्ध में गति करते हुए शत्रुमनुष्यों के सम्मुख सूर्य के सदृश स्थित होकर, जैसे सूर्य मेघ के साथ युद्ध करते हुए विजयी होता है तद्वत् विजयशील हो।^६

विद्वान् गृहपति को सम्बोधित करते हुए एक मन्त्र के भाष्य में महर्षि दयानन्द लिखते हैं-हे शोभन, अहिंसनीय एवं मानवीय व्यवहार करने वाले विद्वान् गृहस्थ, आप निरन्तर उन्नति को प्राप्त होवो, सदैव प्रयत्नशील रहो, शुद्ध विद्या और शिक्षा से युक्त प्रज्ञा वा क्रिया से हमारी रक्षा करो। हे अग्नि के समान प्रकाशमान गृहपति, आप प्रशंसित गुणों के साथ सब विद्याओं को प्राप्त होवो तथा हमें भी प्राप्त कराओ, जैसे सूर्य महान् प्रकाश के साथ सबको प्राप्त होता है।^७

कन्या-शिक्षा, स्वयंवर एवं वर-वधू की योग्यता-

महर्षि दयानन्द कन्याओं की शिक्षा के प्रबल पक्षपाती थे, अतः उन्होंने अपने वेदभाष्य में भी इस विषय पर समुचित प्रकाश डाला है। वे चाहते थे कि कन्याएँ पूर्ण विदुषी होकर सुयोग्य वर से स्वयंवर-विवाह करके राष्ट्र को उत्तम सन्तान दें। अग्निदेवताक मन्त्रों के दयानन्द-भाष्य से इस विषय के कुछ विचार यहाँ प्रस्तुत किये जा रहे हैं-

माता-पिता को चाहिए कि अपनी कन्याओं को व्याकरणादि शास्त्र पढ़ाके वैद्यकशास्त्र पढ़ावें, जिससे वे कन्याएँ आरोग्यकारक तथा गर्भस्थापक ओषधियों को जानकर एवं श्रेष्ठ सन्तानों को उत्पन्न करके निरन्तर आनन्द

२ त्वामग्न ऋतायवः समीधिरे प्रलं प्रत्नास ऊतये सहस्कृत। पुरुश्चन्द्रं यजतं विश्वधायसं दमूनसं गृहपतिं वरेण्यम्॥

ऋगु०५.८.१

३ त्वामग्ने अतिथिं पूर्वं विशः शोचिष्केशं गृहपतिं निषदिरे। बृहत्केतुं पुरुरूपं धनस्पृतं सुशर्माणं स्ववसं जरद्विषम्॥

ऋगु०५.८.२

४ त्वामग्ने मानुषीरीळते विशो होत्राविदं विविचं रत्नधातमम्। गुहा सन्तं सुभग विश्वदर्शतं तुविष्णवं सुयजं घृतश्रियम्॥

ऋगु०५.८.३

५ ऋगु०६.१५.१९

६ कीदृशाः स्त्रीपुरुषाः गृहाश्रमं कर्तुं योग्याः सन्तीत्याह। निवेशनः सङ्गमनो वसूनां विश्वा रूपाभिचष्टे शचीभिः॥ देव इव सविता त्यधर्मेन्द्रो न तस्थौ समरे पथीनाम्॥ यजु०१२.६६, दया०भा०

७ यजु०११.४१, हे स्वध्वर सञ्जन विद्वन् गृहस्थ त्वं सततमुत्तिष्ठ सर्वदा प्रयतस्व। देव्या धिया नोऽव। हे अग्ने अग्निवत्प्रकाशमान सुशुक्रमिस्तिष्मन् ईश्वरं ब्रह्मा। अग्नेः सूर्यः इव। सुशान्तिभिः। सखाः विद्वो आर्याभिः, अस्मांश्च प्रापय-अन्वय।

भोगों।^९ कुमार-कुमारियाँ धर्मानुकूल सेवन किये गये ब्रह्मचर्य से पूर्ण विद्याओं को पढ़, स्वयं धार्मिक हो, पूर्ण युवावस्था की प्राप्ति में कन्याओं की पुरुष और पुरुषों की कन्याएँ परीक्षा कर, अत्यन्त प्रीति के साथ चित्त से परस्पर आकृष्ट होकर, अपनी इच्छानुकूल विवाह करके धर्मपूर्वक सन्तानों को उत्पन्न करें।^९

स्वयंवर में कन्या किन-किन गुणों वाले वर का चयन करें, इस विषय में अग्निदेवताक मन्त्रों के वेदभाष्य में महर्षि के विचार निम्न प्रकार हैं-कन्या को चाहिए कि वह अपने से अधिक बलवाले और विद्यावाले अथवा अपने तुल्य पति को स्वीकार करे, किन्तु छोटे या न्यून विद्यावाले को नहीं।^{१०} जो अग्नि के समान ग्रहणकर्ता एवं दानशील, ब्रह्मचर्यपूर्वक विद्या प्राप्त करनेवाले एवं कमनीय हो, ऐसे पुरुष को कन्या पतित्व के लिए स्वीकार करे।^{११} जो बहुत ओषधियों वा अत्रों का स्वामी, घृतादि उत्तम पदार्थों का सेवनकर्ता, अद्भुत गुण-कर्म-स्वभाववाला, ब्रह्मचर्यसाधन द्वारा बलवान् हुए पिता का पुत्र तथा वरणीय हो, ऐसा पुरुष ही गृहाश्रम में प्रवेश करने योग्य है।^{१२}

पुरुष स्वयंवर-विधि से कैसे कन्या को चुने इस विषय में वेदभाष्य में महर्षि दयानन्द लिखते हैं कि मनुष्यों को पूर्ण ब्रह्मचर्याश्रम का सेवन करके, युवावस्था में स्वयंवर-विधान की रीति से अपने तुल्य स्वभाव, विद्या, रूप, बुद्धि और बल आदि गुणोंवाले सुपरीक्षित स्त्री से विवाह करके सब साधनों सहित अच्छे-अच्छे व्यवहारों में स्थित रहना चाहिए।

गृहाश्रम का महत्त्व एवं दूरस्थ विवाह-

गृहास्थाश्रम का महत्त्व बताते हुए महर्षि लिखते हैं कि किसी को भी गृहाश्रम के अनुष्ठान से भयभीत नहीं होना चाहिए। क्योंकि वह गृहस्थाश्रम सब अच्छे व्यवहारों वा सब आश्रमों का मूल है, अतः इसका अनुष्ठान सम्यक्तया करना चाहिए। इसके बिना मनुष्यों की वृद्धि एवं राज्यादि व्यवहारों की सिद्धि नहीं होती।^{१३}

गृहाश्रम का महत्त्व एवं दूरस्थ विवाह-

गृहाश्रम का महत्त्व बताते हुए महर्षि लिखते हैं कि किसी को गृहाश्रम के अनुष्ठान से भयभीत नहीं होना चाहिए, न काँपना चाहिए। क्योंकि यह गृहस्थाश्रम सब अच्छे व्यवहारों वा सब आश्रमों का मूल है, अतः इसका अनुष्ठान सम्यक्तया करना चाहिए। इसके बिना मनुष्यों की वृद्धि एवं राज्यादि व्यवहारों की सिद्धि नहीं होती।^{१४}

८ ओषधयः प्रतिगृष्णीत पुष्पवतीः सुपिप्पलाः। अयं वो गर्भ ऋत्विजः प्रलं सधस्थमासदत्। यजु०११.४८ मातापितृभ्यां कन्याभ्यो व्याकरणादिकमध्याप्य वैद्यकशास्त्रमध्यापनीयम्, यत इमा आरोग्यकारिका गर्भसंपादिनीरोषधीर्विज्ञाय सुसन्तानानुत्पाद्य सततं प्रमोदेरेन्-भावार्थ।

९ यजु०१५.५३, कुमार धर्म्येण सेवितब्रह्मचर्येण पूर्णा विद्या अधीत्य स्वयं धार्मिका भूत्वा पूर्णयुवावस्थायां प्राप्तायां कन्यानां पुरुषाः पुरुषाणां च कन्याः परीक्षां कृत्वाऽत्यन्तप्रीत्याऽऽकर्षि हृदयाः स्वेच्छया विवाहं विधाय धर्मेण सन्तानानुत्पाद्य-भावार्थ

१० य०११.७१, कन्यया स्वस्या उत्कृष्टस्तुल्यो वा वरः स्वीकार्यः न नीचः-भावार्थ।

११ अग्निं होतारं मन्ये दास्वन्तं वसुं सन्तु सहसो जातवेदसं विप्रं न जातवेदसम्॥ ऋग०१.११७.१

१२ द्रवन्नः सर्पिरासुतिः प्रबो होता वरेण्यः। सहसस्सुत्रो अद्भुतः॥ यजु०११.७०

१३ य०३.४१, मनुष्यैः पूर्णब्रह्मचर्याश्रमं संसेव्य, युवावस्थायां स्वयंवरविधानेन स्वतुल्यस्वभावविद्यारूपबलवतीं सुपरीक्षितां स्त्रीमुद्वाह्या, शरीरात्मबलं संपाद्य, सन्तानोत्पत्तिं विधाय, सर्वैः साधनैः सद्गुणवहारेषु स्थातव्यम्-भावार्थ।

दूरस्थविवाह की महत्ता प्रदर्शित करते हुए वे एक मन्त्र के भावार्थ में लिखते हैं कि मनुष्यों को चाहिए कि अपनी कन्या वा पुत्र का समीप देश में विवाह कभी ना करें। जितना ही दूर विवाह किया जावेगा उतना ही सुखकारी, तथा जितना निकट होगा उतना ही क्लेशदायक होगा।^{१५}

महर्षि दयानन्द ने अपने ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश के चतुर्थ समुल्लास के प्रारम्भ में विवाह तथा गृहस्थाश्रम-विधि के अन्तर्गत निकट एवं दूरस्थ विवाह के सम्बन्ध में लाभ तथा हानि की सूक्ष्मता के साथ विवेचना करते हुए आठ हेतु उपस्थित किये हैं,^{१६} जिनसे उनका दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाता है।

विवाह-समय में वर-वधू की प्रतिज्ञा-

विवाह के अवसर पर स्त्री पुरुष क्या प्रतिज्ञा करें, इस विषय में अग्निदेवताक मन्त्रों के दयानन्द भाष्य में निम्न निर्देश मिलते हैं।

विवाह-समय में स्त्री-पुरुष का सङ्ग सर्वथा छोड़, आपस में भी अति विषयासक्ति से रहित तथा ऋतुगामी होकर परस्पर प्रीति के साथ पराक्रमवाले सन्तानों को उत्पन्न करें, क्योंकि स्त्री व पुरुष के लिए अप्रिय, आयु का नाशक, निन्दा के योग्य कर्म व्यभिचार के समान दूसरा कोई भी नहीं है, इसलिए इनको सर्वथा त्यागकर धर्माचरणवाले होकर दीर्घायुष्य के सुख को भोगें।^{१७}

विवाह की प्रतिज्ञाओं में ये प्रतिज्ञाएँ भी करानी चाहिए कि हे स्त्री-पुरुषों! तुम दोनों जैसे अपने हित के लिए आचरण करोगे, वैसे माता-पिता, आचार्य और अतिथियों के सुख के लिए भी निरन्तर व्यवहार करना।^{१८} जिस ब्रह्मचर्य और जिस विद्या के साथ तुम दोनों स्त्री-पुरुष कृतकृत्य हो जाओगे उस-उसको सदैव प्रचारित किया करना तथा पुरुषार्थ से धनादि पदार्थ को बढ़ाकर उसको अच्छे कार्यों में व्यय किया करना।^{१९}

विवाहित स्त्री-पुरुषों के कर्तव्य-

अग्निदेवताक मन्त्र के दयानन्द-भाष्य में स्त्री-पुरुषों के कर्तव्यों का वर्णन निम्न रूप में मिलता है- विवाहित स्त्री-पुरुषों को चाहिए कि जैसे सूर्य अपने प्रकाश से सब जगत् को प्रकाशित करता है, वैसे ही अपने सुन्दर वस्त्र और आभूषणों से शोभायमान होके गृह आदि वस्तुओं को सदा पवित्र रखें।^{२०} गृहस्थ मनुष्यों को योग्य

१४ गृहा मा बिभीत वेपध्वमूर्जं बिभ्रतऽएमसि। ऊर्जं बिभ्रद्दः सुमनाः सुमेधा गृहानैमि मनसा मोदमानः। यजु०३.४१, द्रष्टव्य भावार्थ।

१५ य०११.७२, मनुष्यैः स्वस्याः कन्यायाः पुत्रस्य वा समीपदेशो विवाहः कदाचिन्नैव कार्यः। यावद् दूरे विवाहः क्रियते तावदेवाऽधिकं सुखं जायते, निकटे कलह एव-भावार्थ।

१६ द्रष्टव्य, स०प्र०समु०४ का प्रारम्भ।

१७ विवाहसमये स्त्रीपुरुषौ किं किं प्रतिजानीयातामित्युपदिश्यते-वि पाजसा पृथुना शोशुचानो बाधस्व द्विषो रक्षसो अमीवाः। सुशर्मणो बृहतः शर्मणि स्यामग्नेरहं सुहवस्य प्रणीतौ। यजु०११.४९ भावार्थ द्रष्टव्य

१८ यजु०१५.५५, विवाहप्रतिज्ञास्वियमपि प्रतिज्ञा कारयितव्या, हे स्त्रीपुरुषौ, युवां यथा स्वहितायाचरतं तथास्माकं मातापित्राचार्यातिथीनां सुखायापि सततं वर्तयथाभिमति-भावार्थ

१९ यजु०१५.५६, येन ब्रह्मचर्येण यया विद्यया च युवां स्त्रीपुरुषौ कृत्कृत्यौ भवथस्तत् तां च सदैव प्रचारयतम्। पुरुषार्थेन धनादिकं च वर्धयित्वैतत् सन्मार्गे वीतम्-भावार्थ।

२० यजु०११.४०, विवाहितौ स्त्रीपुरुषौ यथा सूर्यो भास्वरतया सर्वं प्रकाशते तथा सुवस्त्रालङ्कारैरुज्ज्वली भूत्वा गृहादीनि वस्तूनि सदा पवित्राणि रक्षेताम्-भावार्थ।

है कि जैसे पशुपालकजन अश्व आदि पशुओं के भक्षण के लिए यव और दूध आदि पदार्थों को नित्य एकत्र करते हैं, वैसे अपने ऐश्वर्य को बढ़ाके सबको सुख देवें तथा धन के अहङ्कार से किसी के साथ ईर्ष्या कभी न करें, अपितु दूसरों का उत्कर्ष सुनकर और देखकर सदा प्रसन्न होंवें।^{२१} जिसके प्रति पति अथवा पत्नी दोनों में से कोई भी प्रवृत्त हो उसके अनुकूल पति-पत्नी दोनों वर्तें। जो स्त्री का पदार्थ है वह पुरुष का और जो पुरुष का है वह स्त्री का भी होवे। किसी भी प्रकार द्वेष न करें, किन्तु मिलकर आनन्द भोगें।^{२२}

विवाहित स्त्री-पुरुष दोनों परस्पर सम्बन्ध प्राप्तवाले, विषयासक्ति को त्यागकर रोचिष्णु होते हुए, विद्वान् मित्रों के तुल्य आचरणवाले, सुन्दर वस्त्र और आभूषणों से भूषित, अपनी इच्छाओं को तथा पराक्रम-बलादि को एक ही प्रयोजन की पूर्ति में लगाने वाले हों, अर्थात् इन दोनों के विचार और कार्य एक हों।^{२३} जैसे विज्ञानयुक्त पति अतिशय प्रकाशयुक्त व सुख को प्राप्त करानेहारी क्रिया के साथ जीवन के हेतु प्राण के लिए, दुःखों की निवृत्ति के लिए, अनेकविध उत्तम व्यवहारों की सिद्धि के लिए, उत्तम बल, सत्कार तथा धर्म के आचरण के लिए सम्मुख होकर पत्नी की रक्षा करता है, वैसे ही पत्नी का भी कर्तव्य है कि वह दिव्यस्वरूप पति के साथ कार्य-कारण-सम्बन्ध के सदृश स्थिरता के साथ प्रतिष्ठित हो।^{२४}

विद्या से सुप्रकाशित स्त्री व पुरुष दोनों ही उत्कृष्ट रीति से ज्ञान को प्राप्त कर, अविद्यारूप निद्रा का त्याग कर, वर्तमान और आगामी काल में इष्टापूर्त अर्थात् विद्वानों का सत्कार, ईश्वर का आराधन, सत्संगतिकरण, सत्यविद्या आदि का दानरूप इष्ट तथा पूर्ण बल, ब्रह्मचर्य, विद्या की शोभा, पूर्ण युवावस्था, साधन और उपसाधनरूप पूर्त को सिद्ध करें।^{२५}

माता-पिता द्वारा सन्तान को शिक्षा-

महर्षि दयानन्द द्वारा व्याख्यात अग्निदेवता-सम्बन्धी कतिपय मन्त्रों से माता-पिता द्वारा सन्तान-शिक्षा का भी उल्लेख मिलता है, यथा-हे विज्ञानयुक्त पुत्र, तू विद्याग्रहण के लिए निश्चल अर्थात् स्थिर हो, सुदृढ़ एवं बलवान् अङ्गोंवाला तथा क्षिप्रकारी हो, तू अग्निसम्बन्धी कार्यों में अर्थात् आग्नेय अस्त्रादि-निर्माण के सुन्दर व्यवहारों में स्थित होकर पालन आदि शुभ कर्मों का प्रापयिता एवं सुखों का विस्तारक बन।^{२६} हे प्राणवत् प्रिय सुसन्तान, तू मनुष्य आदि प्रजाओं के लिए कल्याणकारी एवं मङ्गलमय हो तथा विद्युत्, भूमि, अन्तरिक्ष और वट

२१ अहरहरप्रथावं भरन्तोऽश्वायेव तिष्ठते घासमस्मै। रायस्पोषेण समिषा मदन्तोऽग्ने मा ते प्रतिवेशा रिषाम्॥ यजु०११.७५ भावार्थ द्रष्टव्य

२२ यजु०११.७४, यत्प्रति पतिः प्रवर्तते स्त्री वा तदनुकूलौ दम्पती स्याताम्। यत्स्त्रियाः स्वं तत्पुरुषस्य, यत्पुरुषस्य तत्स्त्रिया भवतु, नात्र कथंचिद् द्वेषो विधेयः, किन्तु परस्परं मिलित्वाऽऽनन्दं भुञ्जीयाताम्-भावार्थ।

२३ समितं सङ्कल्पेयां संप्रियौ रोचिष्णू सुमनस्यमानौ। इषमूर्जमभिसंवसानौ। य०१२.४७ संप्रियौ परस्परं सम्यक् प्रीतियुक्तौ, रोचिष्णू विषयासक्तिविरहत्वेन देदीप्यमानौ, सुमनस्यमानौ सुमनसौ सखायौ विद्वांसविवाचरन्तौ, संवसानौ सम्यक् सुवस्त्रालंकारेणाच्छादितौ-पदार्थ, भावार्थ भी द्रष्टव्य।

२४ विश्वस्मै प्राणायानाया व्यानायोदानाय प्रतिष्ठायै चरित्राय। अग्निष्वाभिपातु महा स्वस्त्या छर्दिषा शन्तमेन तया देवतयाङ्गिरस्वद ध्रुवा सीद॥ यजु०१३.१९

२५ उद्धृत्स्वाग्ने प्रतिजागृहि त्वमिष्टापूर्तं संसृजेयामयं च। अस्मिन्सधस्थे अध्युत्तरस्मिन् विश्वेदेवा यजमानश्च सीदत॥ यजु०१५.५४, अग्ने विद्या सुप्रकाशितस्त्रि पुरुष वा-पदार्थ

२६ अथ पितरौ स्वापत्यानि कथं शिक्षेयातामित्युपदिश्यते-स्थिरो भव वीड्वङ्ग आशुर्भव वाज्यर्वन्। पृथुर्भव सुषदस्त्वमग्नेः पुरीषवाहणः॥ यजु० १६.१६

आदि वनस्पतियों के विषय में कभी शोक को प्राप्त न हो अर्थात् इनका सुष्ठु ज्ञान और सुरक्षा करके इनसे यथावत् उपयोग ग्रहण कर।^{२७}

एक मन्त्र में अग्नि का अर्थ सुसन्तान करते हुए उपदेश किया गया है कि वह अश्व के सदृश गतिमान् होकर कार्य करता हुआ पूर्ण आयु से पूर्व न मरे, रक्षक पदार्थों में उत्तम विद्युत् की शिक्षा को जाने तथा वृष्टिकर्ता सूर्य के गुणों को धारण करता हुआ सबके लिए सुखप्रापक बने।^{२८}

इसके अतिरिक्त अन्यत्र भी अग्निदेवताक मन्त्रों के भावार्थ में महर्षि ने माता-पिता और आचार्य के कर्तव्य का बोध कराते हुए जो वर्णन किया है, उसका आशय है कि वे माता-पिता आदि श्रेष्ठ सन्तान उत्पन्न करके उनमें ईश्वरीय ज्ञान एवं विद्यायुक्त बुद्धि उत्पन्न करें तथा उन्हें ब्रह्मचर्यपालन की शिक्षा के साथ-साथ श्रेष्ठ विद्या का उपदेश करें।^{२९}

माता-पिता और सन्तान का परस्पर व्यवहार-

माता-पिता और पुत्रादि के परस्पर व्यवहार के सम्बन्ध में दयानन्द-भाष्य के निम्न स्थल द्रष्टव्य हैं-पुत्रों को चाहिए कि जैसे माताएँ अपने पुत्रों को सुख देती हैं, वैसे ही सन्तानें अनुकूल सेवा से अपनी माताओं को निरन्तर आनन्दित करें और माता-पिता के साथ विरोध कभी न करें। माता-पिता को चाहिए कि अपने पुत्रों को अधर्म तथा कुशिक्षा से युक्त कभी न करें।^{३०} एक मन्त्र में अग्नि पद से माता-पिता का ग्रहण करते हुए भावार्थ द्वारा स्पष्ट किया गया है कि जैसे विद्वान् माता-पिता अपने सन्तानों को विद्या और सुशिक्षा द्वारा दुष्टाचरण से पृथक् करते हैं, वैसे ही सन्तान भी अपने माता-पिता को पापाचरण से निरन्तर बचावें, क्योंकि इस व्यवहार के बिना सभी मनुष्य धर्मात्मा नहीं हो सकते।^{३१}

२७ शिवो भव प्रजाभ्यो मानुषीभ्यस्त्वमङ्गिरः । मा द्यावापृथिवीऽअभिषोचीर्मान्तरिक्षं मा वनस्पतीन् ॥ यजु०११.४५

२८ प्रेतु वाजी..... । भरत्रग्निं पुरीष्यं मा पाद्यायुषः पुरा । यजु०११.४६ हे अग्ने सुसन्तान-पदार्थ ।

२९ द्रष्टव्य, १२.५१, ५२ भावार्थ ।

३० यजु०१२.३९, भावार्थ ।

३१ यजु०१२.४०, भावार्थ । हे अग्ने मातः पितृश्च-अन्वय

राजशेखर-साहित्य में वैदिक सन्दर्भ

प्रो० राजेश्वर मिश्र^१

यायावर कुल के ब्राह्मण-परिवार (जिसका उल्लेख बौधायन-धर्म-सूत्र में हुआ है)^२ में जन्म लेने के कारण राजशेखर की न केवल वेदों तथा वैदिक वाङ्मय के प्रति प्रत्युत वैदिक संस्कृति के प्रति भी गहन आस्था प्रतीत होती है। इनके प्रपितामह का नाम अकालजलद था। विद्वद्भालभञ्जिका की टीका के अनुसार वे महान् तान्त्रिक थे, जो अपने मन्त्र सामर्थ्य से नदी की धारा को लाने और वृष्टि कराने में भी समर्थ थे।^३ इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि इनके पूर्वजों का सम्बन्ध प्रकाशन्तर से वेद एवं वैदिक वाङ्मय के साथ रहा होगा। स्वयं राजशेखर ने भी अपने 'काव्यमीमांसा' ग्रन्थ में कवियों में अनेक गुणों के सन्निपात की चर्चा करते हुए इस बात पर बल दिया है कि श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण, प्रमाणशास्त्र, ज्योतिष आदि विषयों में कवियों को निष्णात होना चाहिए।^४ इनके अतिरिक्त व्याकरण, छन्दशास्त्र, अलंकार शास्त्र आदि में भी कवियों की निपुणता राजशेखर को अभीष्ट है। इससे यह ध्वनित होता है कि वे स्वयं इन विषयों में निपुण रहे होंगे। आगमशास्त्र के ज्ञाता ब्राह्मण कुल में उत्पन्न होने के कारण इनमें परम्परया पाण्डित्य स्वाभाविक है, जिसका संकेत वे स्वयं 'कर्पूरमञ्जरी' में विदूषक के माध्यम से करते हैं।^५ अतः उनकी रचनाओं में विविध शास्त्रों के साथ-साथ श्रुतिपरक अनेक सन्दर्भ भी परिलक्षित होते हैं, जो वैदिक ज्ञान के प्रति राजशेखर की गहन आस्था के परिचायक हैं और उन पर वैदिक प्रभाव के पुष्कल प्रमाण प्रस्तुत करते हैं-

राजशेखर ने अपनी कृतियों में वेदों का उल्लेख-वेद, वेदविद्या^६, त्रयी^७, श्रुति^८, ब्रह्म^९, त्रिवेदी^{१०}, निगम^{११} तथा आम्नाय^{१२} शब्दों से किया है। यही नहीं, उन्होंने वेदपाठ तथा वेदाध्ययन के महत्त्व का भी यत्र-तत्र

१ प्रोफेसर संस्कृत विभाग, कु०वि० कुरुक्षेत्र

२ बौधा० धर्मसूत्र, ४.१.१: यथाह देवलः। द्विविधो गृहस्थो यायावरः शालीनश्च तयोर्यायावरः प्रवरो याजनाध्यापनप्रतिग्रहरिक्थसंचयवर्जनात्। वृत्या वरया यातीति यायावरत्वम्।

३ विद्वद्भाल०, टीका, पृ० १६ अकालजलस्य प्रणतुः प्रपौत्रस्य। फणत इति महाराष्ट्रः मान्त्रिकैर्मन्त्रसामर्थ्येन अकाले ऽद्यस्थावदानीयन्ते वृष्टयश्च निपात्यन्त इति लोके तत्र तत्रानुभवसिद्धम् कर्पूरमञ्जरी, भूमिका, पृ० ४।

४ द्रष्टव्य काव्यमीमांसा, अध्याय ८ श्रुतिः स्मृतिः, इतिहासः, पुराणं, प्रमाण-विद्या, राजसिद्धान्तत्रयी.....।

५ कर्पूरमञ्जरी, प्रथम जवनिका, पृ० २० विदूषक-अकालजलदवंशसंभूतानां परम्परया पाण्डित्यम्।

६ कर्पूरमञ्जरी, १.२४ वेदपठनेन; बालरामायण, १.१४ वेदविद्या; बालभारत, १.१६ वेदवदादृता; काव्यमीमांसा, अध्याय २, पृ० ८ वेदाश्चत्वारः; वही, अध्याय ८, पृ० ९४ तद्येदं वेदहरणम्; वही, अध्याय ८, पृ० ९६ वेदार्थस्य निबन्धनेन; वही, अध्याय १०, पृ० १४१ ततः परं वेदविद्याविदः; वही, अध्याय १४, पृ० १९९ सहस्रशाखं साङ्गं च वेदमवगाह्य; वही, अध्याय १८, पृ० २४९ वेदोदितः कृत्स्नोऽपि क्रियाकल्पः।

७ बालरामायण, १.२८ त्रयीं, पाठभेद के साथ; वही, अंक २, पृ० ३६ त्रयीविद्याशिष्येण; बालभारत, १.१९ त्रयीध्यायिभिः; काव्यमीमांसा, अध्याय २, पृ० ११ त्रयीवार्त्तानम्।

८ बालरामायण, १.३५ श्रुतिः सतपथाः; वही, २.१३ सकलश्रुत्यर्थवीधीगुरुः; वही, अंक २, पृ० ४६ श्रुतिषु वैचक्षण्यम्; वही, २.३३ ऋषीणां श्रुतिदृशाम्; वही, अंक २, पृ० ५१ श्रुत्यर्थवीधीविदग्धः; वही, ९.१ कविता श्रुतीनाम्; वही, १०.१०४ श्रुतीनां कविः; बालभारत, १.८२ श्रुत्यर्थवीधीस्मरः; काव्यमीमांसा, अध्याय ३, पृ० १६ श्रुतिरपि; वही, अध्याय

संकेत किया है।^{१३} वे वेदपाठ एवं यज्ञादि को मुक्ति का साधन मानते हैं।^{१४} उन्होंने तो कविचर्या के रूप में प्रातःकाल सन्ध्या-पूजा के उपरान्त सरस्वती सूक्त के पाठ का विधान भी किया है।^{१५} वे सहस्रशाखाओं वाले वेदों के अंगों सहित अध्ययन का भी उल्लेख करते हैं।^{१६} राजशेखर ने अपनी नाट्य कृति 'बालरामायण' में दो स्थलों पर वेदों का अध्ययन-अध्यापन करने वाले तथा श्रुतिप्रतिपादित यज्ञ-यागों का सम्पादन करने वाले श्रोत्रिय व्यक्तियों का भी उल्लेख किया है।^{१७} वेदाध्यायी के लिए एकत्र उन्होंने 'अनूचान' शब्द का प्रयोग किया है।^{१८} वे 'स्वाध्याय' शब्द के प्रयोग से वेदशाखा-अध्ययन का भी संकेत करते हैं।^{१९} यही नहीं, राजशेखर ने अङ्गों और शाखाओं सहित वेदों के अभ्यास को कवित्व की औषधि^{२०} तथा वेदार्थ-उपनिबन्धन (वर्णन) को कवियों की प्रशंसा का कारण माना है।^{२१} इसके अतिरिक्त उन्होंने चारों वेदों (ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद)^{२२} तथा शुक्लयजुर्वेद^{२३} का तो नाम्ना उल्लेख किया है। 'काव्यमीमांसा' के द्वितीय अध्याय में विभिन्न शास्त्रों का निर्देश करते हुए राजशेखर ने अपौरुषेय शास्त्र की भी चर्चा की है, जिसमें उन्होंने वैदिक वाङ्मय का सामान्य परिचय प्रस्तुत करते हुए तत्तद् ग्रन्थों के प्रतिपाद्य विषय का भी उल्लेख किया है। इससे ऐसा ज्ञात होता है कि राजशेखर भलीभाँति यह जानते थे। कि वेद अपौरुषेय माने जाते हैं तथा मन्त्र और ब्राह्मणों को 'वेद' संज्ञा से अभिहित किया जाता है।^{२४} यही नहीं, उन्होंने सामान्यतः वैदिक मन्त्रों का संकेत 'मन्त्र' एवं 'छन्दस्' शब्दों से

- ३, पृ० १९ पृ० ७४ श्रुतौ शास्त्रे च; वही, अध्याय ७, पृ० ७६ स्वयम्भुवः प्रथमं वचःश्रुतिः, श्रुतेरन्यच्च स्वायम्भुवम्; वही, अध्याय ८, पृ० ९२ श्रुतिः वही, अध्याय ८, पृ० ९६ श्रुतीनां साङ्गशाखानाम्।
- ९ बालरामायण, १.५२ न ब्रह्मोपनिषद्विषेवणारतिर्नो; वही, अंक १, पृ० भारत, २.५ ब्रह्म च ब्राह्मणाश्च।
- १० बालरामायण, अंक २, पृ० ४७ मीमांसमानस्त्रिवेदीम्; वही, ३.८६ देवास्त्रिवेदीतनुः।
- ११ बालरामायण, ३.७९ विश्वरक्षाक्रमनिगमविधेः; वही, १०.७४ निगमस्याङ्गम्; काव्यमीमांसा, अध्याय २, पृ० ८ निगमवाक्यानाम्; वही, अध्याय ७, पृ० ७७ नैगमैर्विविधैः शब्दैः।
- १२ काव्यमीमांसा, अध्याय ३, पृ० १५ तामाम्नायदृष्टचरीमुपलभ्य।
- १३ कर्पूरमञ्जरी, १.२४ः मुक्तिं भणन्ति हरिब्रह्ममुखादिदेवाः ध्यानेन वेदपठनेन क्रतुक्रियाभिः।; बालरामायण, २.८; वही, अंक १०, पृ० ३५७ पठ्यमानवदुचरणाः।
- १४ कर्पूरमञ्जरी, १.२४ उपयुक्तं श्लोकांश।
- १५ काव्यमीमांसा; अध्याय १०, पृ० १३५-१३६ प्रातरुत्थाय कृतसन्ध्यावरिवस्यः सारस्वतं सूक्तमधीयीत।
- १६ काव्यमीमांसा, अध्याय १४, पृ० १९९ सहस्रशाखं साङ्गं च वेदमवगाह्य।
- १७ बालरामायण, अंक १, पृ० १० परमसुहृदः श्रोत्रियक्षत्रियस्य; वही, १.३८ श्रोत्रियाय विशस्यते।
- १८ बालभारत, १.१० अनूचानो हि यद् ब्रूते..।
- १९ बालरामायण, अंक १, पृ० १२ तत् कथमयं स्वाध्याय प्रत्यूहः; वही, १०.६१ स्वाध्यायान्ते; काव्यमीमांसा, अध्याय २, पृ० ७ नानाशाखाधीतानां मन्त्राणाम्।
- २० काव्यमीमांसा, अध्याय ८, पृ० ९६ श्रुतीनां साङ्गशाखानामितिहासधुराणयोः। अर्थग्रन्थः कथाभ्यासः कवित्वस्यैकमौषधम्॥
- २१ काव्यमी०, अध्याय ८, पृ० ९६ वेदार्थस्य निबन्धेन श्लाघ्यन्ते कंवयो यथा
- २२ काव्यमी०, अध्याय २, पृ० ५ ऋग्यजुः सामवेदास्त्रयी। अथर्वं तुरीयम्, ऋचो यजूंषि सामानि चाथर्वाणि त इमे चत्वारो वेदाः।
- २३ बालरामायण, अंक ३, पृ० ७० याज्ञवल्क्याद्यजुर्विज्ञानविभवः; शुक्लान्यपि यजूंषि विज्ञाय...।
- २४ काव्यमीमांसा, अध्याय २, पृ० ५ अपौरुषेयं श्रुतिः। सा च मन्त्रब्राह्मणो विवृतक्रिया तन्त्रा मन्त्राः। मन्त्राणां स्तुतिनिन्दाव्याख्यानविनियोगादिग्रन्थो ब्राह्मणम्; तुलनीय यज्ञपरिभाषा आपस्तम्ब-३१ मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदानामधेयम्।

किया है^{२५} तथा त्रिविध मन्त्रों (ऋक्, यजुष और साम) का नामतः उल्लेख करते हुए उनके लक्षणों का भी संकेत किया है। वे यह जानते थे कि अर्थानुसार पदों की व्यवस्था को ऋक्, ऋक् मन्त्रों को गीतियुक्त करने पर साम और छन्दहीन तथा गतिहीन मन्त्र यजुष् कहे जाते हैं।^{२६} विषय-वस्तुसहित छः वेदाङ्गों का भी उल्लेख 'काव्यमीमांसा' में प्राप्त होता है।^{२७} इसके अतिरिक्त उनके द्वारा प्रयुक्त 'उपनिषद्', 'उपनिषद्भूतम्'^{२८} तथा 'ब्रह्मनिदर्शनी'^{२९} शब्द उपनिषद् साहित्य के परामर्शक हैं। उनकी रचनाओं में आपतित मातरिश्वा, रोदसी, निपात, शिपिविष्ट, ओंकार आदि शब्दों से भी उन पर वैदिक प्रभाव परिलक्षित होता है।^{३०} इन साक्ष्यों से वेदाङ्गों सहित वैदिक वाङ्मय विषयक उनके ज्ञान का पुष्कल प्रमाण प्राप्त होता है।

'वाजसनेयि-संहिता' अर्थात् शुक्लयजुर्वेद के प्रोक्ता ऋषि याज्ञवल्क्य को इन मन्त्रों की प्राप्ति सूर्य से हुई थी" इस वैदिक तथ्य संकेत भी राजशेखर ने 'बालरामायण' में किया है। 'वैदिक वचन आस-प्रमाण माना जाता है' इस तथ्य का उल्लेख भी राजशेखर ने प्रकारान्तर से 'बालरामायण' में किया है। 'वेद अपौरुषेय है' इस मत से वे सर्वथा सहमत हैं, तभी तो वे वेद को 'स्वयम्भू ब्रह्म का प्रथम वचन' मानते हैं।^{३१} इस विषय में उनके कथन- "आर्षं हि वचनं विभिन्नवक्तृकमपि न विसंवदति"^{३२} से वेद के प्रति उनकी श्रद्धा सुदृढ़ प्रतीत होती है। राजशेखर ने एकत्र इस बात का भी उल्लेख किया है कि श्रुति में भी यत्र-तत्र अर्थवाद दृष्टिगोचर होता है^{३३} और उन्होंने ऐतरेय-ब्राह्मण से एक उदाहरण भी प्रस्तुत किया है, तद्यथा-

२५ कर्पूरमञ्जरी, १.२२; वही, जवनिका २, पृ० ६० भैरवानन्ददत्तमन्त्रप्रभावेण; बालरामायण, ३.४ मन्त्राक्षरैः कतिपयैः; बालभारत, १.५ छन्दसां द्रष्टा; वही, २.३.७ मन्त्रपूतैः पयोभिः; काव्यमीमांसा, अध्याय २, पृ० ५, ७ मन्त्राः, मन्त्राणाम्, नानाशाखाधीतानां मन्त्राणाम्; वही, अध्याय ४ पृ० ३४ मन्त्रानुष्ठाननिष्ठस्य, पृ० ३२ मन्त्रतन्त्राद्युपदेशप्रभावा; वही अध्याय ६, पृ० ६८ परमं च मन्त्राः।

२६ काव्यमीमांसा, अध्याय ६, पृ० ६८ तेषां च सामर्ग्यजुषां पवित्रं; वही, अध्याय ८, पृ० ९३; वही, अध्याय २, पृ० तत्रार्थव्यवस्थितपादा ऋचः। ताः संगीतयः सामानि। अच्छन्दांस्यगीतानि यजुषि; तुलनीय-जैमिनीय सूत्र, २.१.३५ तेषामृग् मन्त्रार्थवशेन पादव्यवस्था; वही, २.१.३६ गीतिषु सामाख्या; वही, २.१.३७ शेषे यजुः शब्दः।

२७ काव्यमीमांसा, अध्याय २, पृ० ५-६, ७ शिक्षा, कल्पो, व्याकरणं, निरुक्तं छन्दोविचितिः, ज्यौतिषं च षडङ्गानि इत्याचार्याः। तत्र वर्णानां स्थानकरणप्रयत्नादिभिः निष्पत्तिनिर्णायिशिक्षाग्रहगणितं ज्यौतिषम्।

२८ बालरामायण, १.५२ उपनिषद्; वही, १०.१०५ संसारविद्याविषदमुपनिषद् भूतम्।

२९ काव्यमीमांसा, अध्याय २, पृ० ८ ब्रह्मनिदर्शनी च।

३० काव्यमीमांसा, अध्याय १७ पृ० २३५ दक्षिणमातरिश्वा; वही, अध्याय ७ पृ० ७७ निपातबहुलं च; बालरामायण, ८.५१ रोदसी वारिपूरः; वही, अंक १, पृ० २३ इदं शिपिविष्टान्यस्मात्; वही, अंक २, पृ० ४६ शिपिविष्टपरितुष्टये; यद्यपि यह शब्द यहाँ शिव के लिए प्रयुक्त है, परन्तु वेद में यह शब्द विष्णु का वाचक है; तुलनीय ऋ० ७.१००.६ किमिमे विष्णो परिचक्ष्यं भूतं प्र यद् ववक्षे शिपिविष्टो अस्मि; नि०, ५.२.८ शिपिविष्टो विष्णुरिति, शिपिविष्टोऽस्मीति प्रतिपन्नरश्मिः। शिपयोऽत्र रश्मय उच्यन्ते तैरविष्टो भवति; बालरामायण, अंक २, पृ० ४८ ओमिति ब्रूमः; वही, ३.७९ ओङ्कारो विस्वरक्षाक्रमः; बालभारत, अंक २, पृ० १५ ओम्/अस्तु, वस्तुतः यह पद यहाँ सत्य अथवा सत्य स्वीकृति के अर्थ में प्रयुक्त है, पर इसमें निहितार्थ वैदिक सत्यरूप ब्रह्म है।

३१ काव्यमीमांसा, अध्याय ७, पृ० ७६ स्वयम्भुवः प्रथमं वचः श्रुतिः।

३२ बालरामायण, अंक १०, पृ० ३६९, राम की उक्ति।

३३ काव्यमीमांसा, अध्याय ६, पृ० ६७ नासत्यं नाम किञ्चन काव्ये यस्तु स्तुत्येष्वर्थवादः। स न परं कविकर्मणि श्रुतौ च शास्त्रे च लोके च॥

पुष्पिण्यौ चरतो जङ्घे, भूष्णुरात्मा फलग्रहिः।

शेरेऽस्य सर्वे पाप्मानः श्रमेण प्रपथे हतश्चरैवेति॥^{३४}

उन्होंने काव्यमीमांसा के 'पदवाक्यविवेक' प्रकरण में निरुक्त वेदाङ्ग के प्रमुख प्रयोजन का भी संकेत किया है कि निरुक्त, निघण्टु आदि से शब्द का अभिधेयार्थ सूचित होता है।^{३५} इसप्रकार उन्होंने अनेक वैदिक तथ्यों और विषयों का उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त अशिष्ट वर्णन, वर्ण्य, अर्थ, आदि काव्यविषयक बातों की चर्चा करते हुए कतिपय वैदिक मन्त्रों को भी उद्धृत किया है। 'कहीं-कहीं काव्य में अशिष्ट (अश्लील) वर्णन उपलब्ध होते हैं; अतः वह उपदेष्टव्य नहीं है, इस विषय में अपना मत उपस्थापित करते हुए राजशेखर ने यह माना है कि प्रसङ्गवशात् ऐसे वर्णन करने चाहियें, क्योंकि मन्त्रों में ऐसा वर्णन वेदों और शास्त्रों में भी प्राप्त होता है। उन्होंने यहाँ कुछ वैदिक मन्त्रों को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत भी किया है, तद्यथा-

उपोप मे परामृश मा ते दध्राणि मन्मथाः।

सर्वाऽहमस्मि रोमशा गान्धारीणामिवाविका॥^{३६}

यही नहीं, उन्होंने आर्षवचन का लक्षण भी दिया है कि "जो वचन कुछ मन्त्रों से संयुक्त हों तथा नाम (संज्ञा) (विभक्तियों से युक्त हों एवं प्रत्यक्षार्थ के अवबोधक हों, उसे आर्षवचन कहा जाता है।"^{३७} एवमेव काव्यपुरुष के विभिन्न अवयवों की चर्चा करते हुए उन्होंने काव्यमीमांसा के 'काव्यपुरुषोत्पत्ति' प्रकरण में^{३८} ऋग्वेद के उस प्रसिद्ध मन्त्र को उद्धृत किया है जिसको 'वेदपुरुष', 'यज्ञपुरुष', आदित्य एवं शब्द-ब्रह्म आदि की दृष्टि से नाना रूपों में व्याख्यायित किया गया है, तद्यथा-

चत्वारि शृङ्गास्त्रयोऽस्य पादा द्वे शीर्षे सप्तहस्तासोऽस्य।

त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यानाविवेश॥^{३९}

पुनः प्रशंसादि के अर्थ में प्रयुक्त अतिशयोक्तियों को अर्थवादमात्र बताते हुए राजशेखर ने उदाहरणार्थ ऐतरेय-ब्राह्मण का एक मन्त्र उद्धृत किया है।^{४०} इस विषय में उनका मन्तव्य है कि अत्युक्तिपूर्ण कथन न केवल कविता में रहता है, प्रत्युत वेद-शास्त्र और लोक आदि में भी होता है।^{४१} इसी ग्रन्थ के 'वाक्यार्थयोनि' प्रकरण में^{४२} काव्य के वर्ण्य अर्थों (काव्यार्थों), काव्यशास्त्र के आचार्यों ने जिन्हें 'काव्ययोनि' कहा है, की मीमांसा करते हुए उन्होंने प्रथमयोनि वेदविषयक अर्थ के उदाहरण के रूप में एक वैदिक वचन-"उर्वशी हाप्सराः पुरुरवसमैडं चक्रमे" (शत०ब्रा०, ११.५.१.१) तथा तैत्तिरीयारण्यक की कुछ पँक्तियाँ उद्धृत की हैं। जिनमें सूर्यमण्डल में

३४ ऐत० ब्रा० ३३.३

३५ वही, अध्याय ६, पृ० ५५ निरुक्तनिघण्ट्वादिभिर्निर्दिष्टदधिधेयोऽर्थः तुलनीय नि०, १.१५ अथापीदमन्तरेण मन्त्रेष्वर्थप्रत्ययो न विद्यते।

३६ ऋ० १.१२६.७

३७ काव्यमीमांसा, अध्याय ७, पृ० ७७ यत्किञ्चिन्मन्त्रसंयुक्तं युक्तं नाम विभक्तिभिः प्रत्यक्षाभिहितार्थं च तदृषीणां वचस्तु तत्॥

३८ वही, अध्याय ३, पृ० १६.

३९ ऋ० ४.५८.३

४० ऐतरेय-ब्राह्मण, ३३.३: पुष्पिण्यौ चरतो जङ्घे भूष्णुरात्मा फलग्रहिः। शेरेऽस्य सर्वे पाप्मानः श्रमेण प्रपथे हतश्चरैवेति॥

४१ काव्यमीमांसा, अध्याय ६, पृ० ६८ मूलपाठ हेतु द्रष्टव्य पादटिप्पणी सं० ३३।

४२ वही, अध्याय ८, पृ० ९२-९३।

ब्रह्म की उपासना का वर्णन है, यथा- “यदेतन्मण्डल तपति तन्महदुक्थं ता ऋचः स ऋचां लोकोऽथ यदेतदर्चिर्दीप्यते तन्महाव्रतं तानि सामानि स साम्नां लोकोऽथ य एष तस्मिन्मण्डले पुरुषः सोऽग्निस्तानि यजूंषि स यजुषां लोकः सैषा त्रय्येव विद्या तपति।” (अनुवाक १४)। काव्यमीमांसा के इसी प्रकरण में राजशेखर ने काव्यों में वेदार्थ आहरण का एक पृथक् निदर्शन प्रस्तुत करते हुए एक पद्य में उस श्रुति को नमस्कार किया है, जिसका ऋषि, शास्त्रकार एवं कवियों ने यथामति दोहन किया करते हैं।^{४३} इस पद्य में कवि ने प्रकारान्तर से वेद की प्रशंसा की है और उसके महत्त्व को भी रेखाङ्कित किया है। राजशेखर की कृतियों में कतिपय श्लोक (पद्य) ऐसे भी दृष्टिगोचर होते हैं, जिन पर वैदिक मन्त्रों अथवा भावों की छाया अथवा प्रभाव या सादृश्य दिखाई पड़ता है। कर्पूरमञ्जरी की प्रथम जवनिका में विदूषक के मुख से कहलवायी गई सौ वर्ष दीर्घायु की कामनापरक उक्ति-“यूयं पुनर्वर्षशतं जीवत”^{४४} पर वैदिक “जीवेम शरदः शतम्” (यजु० ३६.२४) मन्त्रांश का प्रभाव द्रष्टव्य है। इसी ग्रन्थ के इसी जवनिका में ‘राजा के लिए सन्ध्या सुखद हो’ ऐसी मंगलकामना करने वाले वैतालिक द्वारा कहे गये पद्यांश-“एत द्वासरजीव पिण्डसदृशं चण्डांशोर्मण्डलम् को जानाति कुत्रापि संप्रतिगतं प्राप्तकालान्तरे॥”^{४५} पर सवितृ सूक्त के निम्न मन्त्र की छाया दृष्टिगोचर होती है तद्यथा-‘क्रेऽदानीं सूर्यः कश्चिकेत कतमां द्वां रश्मिरस्या ततान्’॥^{४६} एवमेव कर्पूरमञ्जरी की अन्तिम चतुर्थ जवनिका के अन्त में भरतवाक्य के रूप में उक्त श्लोकांश-“मेघो मुञ्चतु संचितमपि सलिलं शस्योचितं भूतले”^{४७} पर यजुर्वेद के राष्ट्र की मङ्गल कामनापरक मन्त्रांश-

“निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवस्यो न ओषधयः पच्यन्ताम्” (२२.२२) का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। इसी प्रकार बालरामायण के प्रथम अंक में राक्षस की उक्ति-“भगवान् साप्तपदीनं सख्यं मा मुखरयति”^{४८} पर अथर्ववेद के “युज्यो मे सप्तपदः सखासि” तथा “युज्यस्ते सप्तपदाः सखाऽस्मि” मन्त्रांशों^{४९} की छाया देखी जा सकती है। सम्भवतः कालिदास ने भी ‘कुमारसम्भव’ में^{५०} इसी वैदिक मैत्रीभाव का संकेत किया है। उनके इसी नाटक के द्वितीय अंक के एक श्लोक^{५१} पर तो स्पष्टतः यजुर्वेद के एक मन्त्र^{५२} का पूर्णतया सादृश्य देखा जा सकता है। इस प्रकार राजशेखर के उपर्युक्त पद्यों, पद्यांशों अथवा वाक्यांशों में वैदिक मन्त्रों अथवा मन्त्रांशों के स्पष्टसन्दर्भ परिलक्षित होते हैं, जो वैदिक मान्यताओं के प्रति उनकी प्रगाढ़ आस्था के परिचायक हैं।

४३ वही, अध्याय ८, पृ० १४ नमोऽस्तु तस्यै श्रुतये यां दुहन्ति पदे पदे। ऋषयः शास्त्रकाराश्च कवयश्च यथामति॥

४४ कर्पूरमञ्जरी, प्रथम जवनिका, पृ० २९

४५ वही, १.३५;

४६ ऋग्वेद १.३५.७.

४७ कर्पूरमञ्जरी, ४.२२; तुलनीय यजु०, २२.२२

४८ बालरामायण, अंक १, पृ० १२.

४९ अथर्ववेद, ५.११.९; ५.११.१०.

५० कुमारसम्भव, ५.३९: यतः सतां सन्नतगात्रि संगतं मनीषिभिः साप्तपदीनमुच्यते।

५१ बालरामायण, २.३२: असूर्या इति ते लोका अन्धेन तमसा वृताः। तांस्ते मृत्वाभिगच्छन्ति ये के चात्महो जनाः॥

५२ यजुर्वेद, ४०.३: असूर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः। ईशोपनिषद् ३ तांस्ते प्रेत्यापि गच्छन्ति ये के चात्महो जनाः॥

राजशेखर ने अपनी रचनाओं में इन्द्र^{५३}, अग्नि^{५४}, सूर्य^{५५}, वरुण^{५६}, विष्णु^{५७}, त्र्यम्बक-रुद्र^{५८}, पूषा^{५९}, चन्द्रमा^{६०}, मातरिश्वा, मरुत^{६१}, बृहस्पति^{६२}, पवमान^{६३} इन वैदिक देवों और सरस्वती^{६४}, पृथ्वी^{६५}, पौलोमी एवं शची^{६६}, तथा अग्निपत्नि स्वाहा^{६७} इन वैदिक देवियों का उल्लेख किया है। नाटककार ने ग्रन्थों में इन्द्र के लिए अमरपति^{६८}, आखण्डल^{६९}, इन्द्र^{७०}, त्रिदशेश्वर^{७१}, नमुचिसूदन^{७२}, नाक-नायक^{७३}, पाकशासन^{७४}, पुरन्दर^{७५},

५३ बालरामायण, १.३६ शक्र; वही, अंक ४, पृ० ११४ इन्द्रसारथी; वही, १.५३, ५८ इन्द्र; वही, १०.४६ इन्द्रकुलिश; काव्यमीमांसा, अध्याय ९, पृ० १११ शक्रोऽपि

५४ वह्नि बालरा०, १.३१; १०.६; १०.६३, पावक बालरा० १०.४, शिखी बालरा०, १.६३; १०.७, १३, चित्रभानु बालरा० ४.५ बर्हिरुथ बालरा०, ४.४९, हुतभृक् बालभारत, २.३४, हुतवह कर्पूरमञ्जरी, जवनिका ४, पृ० १७५; बालरामायण, अंक १०, पृ० ३३६, ३३७, ३५६; विद्वशालभञ्जिका, अंक २, पृ० ४०, ११२, हव्यवाहन बालरा० १०.१०, हव्यलेही बालरा०= १०.१२, स्वाहापति बालरा०, ८.५०, स्वाहा वल्लभ बालरा०, अंक १०, पृ० ३३४।

५५ अर्क कर्पूर०, १.२१; बालरा०, १.२१, १०.१८, अंशोर्मण्डलम् कर्पूर०, १.३५, दिनकरः बालरा०, ८.५७; बालभा०, १.१३, दिनमणिः कर्पूर०, २.५०; बालरा० ६.६५, १०.५९, भानुः बालरा०, ३.८७, भास्कर बालरा०, ५.२२; अंक १०, पृ० ३७०, मार्तण्ड कर्पूर०, जवनिका ३, पृ० १११; बालरा०, १.३१, अंक ८, पृ० २८७, अंक १०, पृ० ३३३, ३४७, रवि कर्पूर० १.२५; वही, जवनिका ४, पृ० १४६, १४८; बालरा० ५.३५; ८.५४, ८३; १०.९६; बालभा०, १.२२; विद्वशाल०, २.२२, सविता बालरा०, ४.९, सूर्य बालरा०, अंक २, पृ० ६०; अंक ३, पृ० ९३, ४.५, देवस्त्रिवेदीतनुः बालरा० ३.८६, द्युमणिः बालभा०= १.२५, वैकर्तन बालरा० अंक १, पृ० ३०, विरोचन बालभा०, २.२१, स्वर्मणिः बालरा०, १०.९३ विवस्वान् बालरा० १०.८५।

५६ बालरामायण, ४.५; ५.२२; ८.५२; वही, अंक १०, पृ० ३५०।

५७ बालरामायण १.६; ४.११; ४.४५ उपेन्द्र।

५८ त्र्यम्बक बालरा०, ४.१४; १०.६८; विद्वशाल०, १.२२; काव्यमीमांसा, अध्याय १३, पृ० १९३, त्रैयम्बक बालरा०, २.३९; अंक २, पृ० ५२; ३.३७; ४.६०, रुद्र कर्पूर०, १.४; बालरा०, १.४१; २.४; ३.७६, ८२; ४.५१; ४.७०; १०.३१; १०.४७; काव्यमीमांसा, अध्याय १३, पृ० १८४।

५९ बालरामायण, १.८; अंक १, पृ० ६ पूषणम्; वही, १.२२; ३.६८; ९.४६।

६० चन्द्र कर्पूर०, १.३२; बालरा०, ४.४९; बालभा०, १.३१; २.१५; विद्वशाल०, १.१५, १७; अंक १, पृ० १२, २८; २.४; २.२०; ३.८-९; ५.७१; १०.४१; १०.१००; विद्वशाल०, १.११; काव्यमीमांसा, अध्याय १३, पृ० १७९।

६१ बालरामा०, ३.७७ मरुत; काव्यमीमांसा, अध्याय १७ पृ० २३५ मातरिश्वा।

६२ बालभारत, २.१० वाचस्पति।

६३ बालरामा०, ४.५।

६४ कर्पूरम० १.१; बालरामा०, १.१४ वाङ्मूर्तिः; १.१५; ५.५०; १०.२; बालभा०, १.१०; काव्यमीमांसा, अध्याय ३, पृ० १५, २६; अध्याय १५, पृ० २११।

६५ बालरामा० १.४८; वही, अंक १०, पृ० ३५८ वसुमती; बालभा०, २.१, २४ वसुमती।

६६ बालरामा०, अंक ४, पृ० १०७ पौलोमीवल्लभ; अंक ५, पृ० १६६; वही, ८.७४ शची; काव्यमीमांसा, अध्याय ९, पृ० १११.

६७ बालरामा०, ८.५०; अंक १०, पृ० ३३४.

६८ बालरामा० २.४६; ५.८; अंक १०, पृ० ३५२.।

६९ बालरामा०, अंक १०, पृ० ३५२.

७० बालरामा०, १.५३, ५८; अंक ४, पृ० ११४ इन्द्रसारथी; १०.४६ इन्द्रकुलिश।

पौलोमीवल्लभ^{६६}, पुरुहूत^{७७}, शुनासीर^{७८}, महेन्द्र^{७९}, वासव^{८०}, शक्र^{८१}, शतक्रतु^{८२}, शतमुख^{८३}, संक्रन्दन^{८४}, सुरपति^{८५}, सुरेन्द्र^{८६}, सुरेश^{८७} तथा हरि^{८८} इन अभिधानों का प्रयोग किया है, जिनमें महेन्द्र, शतमुख, सुरपति, सुरेन्द्र, सुरेश, त्रिदशेश्वर, नमुचिसूदन, नाक-नायक और हरि को छोड़कर शेष वैदिक हैं। उन्होंने इन्द्र के आयुध वज्र^{८९}, पत्नी शची एवं पौलोमी,^{९०} सारथी मातलि^{९१} तथा इन्द्रपुत्र जयन्त^{९२} का भी उल्लेख किया है। इनमें उनके वज्र का वैदिक साहित्य में अनेकत्र उल्लेख है। इन्द्रपत्नी का उल्लेख ऋग्वेद, शतपथ-ब्राह्मण आदि में हुआ है।^{९३} शचीपौलोमी

७१ बालभार०, १.३८ त्रिदशेश्वराय।

७२ बालरामा०, अंक ४, पृ० १०७.

७३ बालरामा०, ४.५.

७४ बालरामा०, ५.६०.

७५ बालरामा०, अंक ९ पृ० ३०४, ३२९; अंक १०, पृ० ३४६.

७६ वही, अंक ४, पृ० १०७.

७७ वही, अंक ४ पृ० ११४; वही, अंक ९, पृ० ३०४.

७८ वही, अंक ९, पृ० ३२० यहाँ यह ध्यातव्य है कि कवि ने इन्द्र को 'शुनासीर' नाम से सम्बन्धित किया है, जबकि वेद में शुनासीर वृष्टि के अधिष्ठातृ देव माने गये हैं, जो युग्मदेव हैं। द्रष्टव्य ऋ० ४.५७.५: शुनासीराविमं वाचं जुपेथां यद्विचक्रथुः पयः। तेनेमामुप सिञ्चतम्॥।

७९ बालरामा०, अंक १०, पृ० ३३१.

८० वही, २.४ वासवः।

८१ बालरामा०, १.३६; ५.६०; काव्यमीमांसा, अध्याय ९, पृ० १११.

८२ बालरामा०, अंक ४, पृ० १२३ शतक्रतुरथेन।

८३ वही, १.२६ शतमुखविमुखः।

८४ वही, २.४८ संक्रन्दननन्दन।

८५ बालरामा०, ५.१९ सुरपतेरस्ति; ६.५९ सुरपतेर्जङ्गमत्वम्; ६.६७ सुरपतिरिपोः; ८.९ सुरपतिर्दृष्टवान्; बालभारत, १.५६ कृतसुरपतितोषः।

८६ बालरामा०, ६.६३ सुरेन्द्रवैरि।

८७ वही, ८.१० सुरेश।

८८ वही, ९.३ हरेरक्षणाम्।

८९ वही, १०.४६ इन्द्रकुलिश

९० वही, ८.७४ शची; अंक ५, पृ० १६६ शचीरमणः; अंक ४, पृ० १०७ पौलोमीवल्लभ; काव्यमीमांसा, अध्याय ९, पृ० १११ शचीवक्त्रे।

९१ बालरामा०, अंक ४, पृ० ११४ पुरुहूतसूत तथा मातलि पात्रविशेष के रूप में।

९२ वही, अंक ६, पृ० ११६.

९३ शतपथ-ब्राह्मण १०.५.२.९१ इन्द्रपत्नी को इन्द्राणी माना गया है ऋ० १.२२.१२; २.३२.८; ५.४६.८; १०.८६.११, १२; शतपथ-ब्राह्मण १४.२.१.८: इन्द्राणी हवा इन्द्रस्य प्रिया पत्नी। ऐतरेय-ब्राह्मण ३.२२.७ में प्रासहा तथा सेना इन्द्र की पत्नियाँ हैं, जो वस्तुतः इन्द्राणी के तद्रूप हैं तैत्तिरीय ब्राह्मण, २.४.२.७-८; मैत्रायणीसंहिता ४.१२.१। इन्द्राणी इन्द्रपत्नी ऋ० १०.८६२-६, ९, १०, १५-१८, १४५ की कृषिका हैं। शांखायनगृह्यसूत्र १.१२ में इन्द्र की पत्नी का नाम 'शची' आया है।

ऋग्वेद (१०.१५९) की ऋषिका भी हैं। इसी वेद में स्वयं इन्द्र भी ऋषि के रूप में आते हैं।^{१४} इन्द्रशत्रुओं में राजशेखर ने नमुचि^{१५} का उल्लेख किया है। इन्द्र की यह वैदिक महिमा पौराणिक काल में लुप्तप्राय हो चुकी है।

विष्णु के लिए राजशेखर ने अच्युत^{१६} उपेन्द्र^{१७}, केशव^{१८}, नारायण^{१९}, पद्मनाथ^{२०}, विष्णु^{२१}, वैकुण्ठ^{२२}, शार्ङ्गधन्वा^{२३}, सुपर्णकेतन^{२४} तथा हरि^{२५} आदि अभिधानों का प्रयोग किया है, जिनमें उपेन्द्र और विष्णु ही शुद्ध वैदिक हैं। अग्नि तथा इन्द्र की अपेक्षा वेद में विष्णु गौण देव हैं, परन्तु पौराणिक काल तक आते-आते वे एक प्रमुख देव का रूप ले लेते हैं। इन देवों के अतिरिक्त राजशेखर की कृतियों में शिव के लिए अनेक अभिधानों का प्रयोग हुआ है। यदि वैदिक देवशास्त्र की दृष्टि से विचार किया जाय तो इनका विकास वैदिक रुद्र से हुआ है। उन्होंने शिव के लिए इन्दुमौलि^{२६}, ईश्वर^{२७}, इन्दुशेखर^{२८}, उमापति^{२९}, कपालिन्^{३०}, गिरिश^{३१}, गौरीपति^{३२}, चन्द्रमौलि^{३३}, धूर्जटी^{३४}, त्रिनयन^{३५}, त्रिपुरद्रुह^{३६}, त्र्यक्ष^{३७}, त्रियम्बक-त्र्यम्बक^{३८}, नीलकण्ठ^{३९}

१४ ऋग्वेद, १.१६५.१-२, ६, ८, १०-१२; १.१७०.२, ३, ४; ४.१८.१, ४; ४.२६.१-३; ८.१०.४-५; १०.२८.२, ६, ८, १०, १२; १०.८६.१, ८, ११, १२, १४, १९-२२।

१५ बालरामा०, अंक ४, पृ० १०७।

१६ वही, १०.४२ अच्युत।

१७ वही, ४.४५; ८.४५।

१८ वही, १०.३६ केशवभुजैः।

१९ बालरामायण, २.५; ४.७४; ७.३; वही, अंक १०, पृ० ३४६; विद्वशालभञ्जिका, अंक ३, पृ० ७१ नारायणतनुः; काव्यमीमांसा, अध्याय १३, पृ० १८४।

१०० बालरामा०, अंक १०, पृ० ३४६ पद्मनाभमाहात्म्येन।

१०१ वही, १.६; ४.११।

१०२ वही, १०.३७ वैकुण्ठकण्ठे; वही, अंक १०, पृ० ३४६ वैकुण्ठकमेठन।

१०३ काव्यमीमांसा, अध्याय १७, पृ० २२८ शार्ङ्गधन्वने।

१०४ बालरामायण, २.३९ सौपर्णकेतनम्।

१०५ कर्पूरमञ्जरी, १.२४; विद्वशालभञ्जिका, ४.२७।

१०६ बालरामायण, ४.७२; ७.५८; १०.२९।

१०७ वही, ५.४ ईश्वरस्य।

१०८ वही, २.४४।

१०९ वही, २.३।

११० वही, ४.७० कपालिनम्।

१११ कर्पूरमञ्जरी, १.३ गिरिशगिरिन्द्रसतयोः।

११२ बालरामायण, १०.८९ गौरीपतिमौलिमाला।

११३ वही, २.३६ चन्द्रमौलिः।

११४ वही, ३.७५; ४.५७।

११५ वही, १०.९३।

११६ वही, ४.३२।

११७ वही, ४.२४।

११८ बालरामा०, २.३९; ३.३७; ४.६०; ४.१४ त्र्यम्बकः १०.६८ त्र्यम्बकः विद्वशाल १.२३ त्र्यम्बकः काव्यमीमांसा, अध्याय १३, पृ० १९३ इत्यादि।

पशुपति,^{१२०} पिनाकी,^{१२१} पिनाकपाणि,^{१२२} भर्ग,^{१२३} भूतपति,^{१२४} महादेव,^{१२५} महेश्वर,^{१२६} मृड,^{१२७} रुद्र,^{१२८} वृषभध्वज,^{१२९} वृषलाञ्छन,^{१३०} वृषकेतु,^{१३१} वृषभलाञ्छन,^{१३२} वृषाकपि,^{१३३} शङ्कर,^{१३४} शम्भु,^{१३५} शशिशेखर,^{१३६} शिपिविष्ट,^{१३७} श्रीकण्ठ,^{१३८} स्थाणु,^{१३९} हर,^{१४०} आदि अभिधानों का प्रयोग किया है। इनमें त्र्यम्बक का ऋग्वेद^{१४१}, वाजसनेयिसंहिता,^{१४२} तैत्तिरीयसंहिता,^{१४३} वाजसनेयिसंहिता,^{१४४} काठकसंहिता^{१४५} तथा अथर्ववेद^{१४६} में; रुद्र का

११९ बालरामायण, अंक १०, पृ० ३४६; कर्पूरमञ्जरी, जवनिका ३, पृ० १३१।

१२० बालरामा०, २.६२; ४.६९.।

१२१ वही, ४.१५.।

१२२ वही, ४.१६.।

१२३ विद्मशालभञ्जिका, २.१ भर्गेण।

१२४ बालरामायण, १.३६.

१२५ वही, अंक १, पृ० २३ महादेवोऽपि।

१२६ वही, ४.५८.।

१२७ वही, ३.७२.।

१२८ कर्पूरम०, १.४; बालरामा= १.४१; ३.७६; ३.८२; ४.५; ४.५१; १०.३१, ४७; काव्यमीमांसा अध्याय १३, पृ० १८४ इत्यादि।

१२९ बालरामायण, २.६०.।

१३० वही, ३.८१.।

१३१ वही, ५.४ वृषकेतु।

१३२ वही, अंक ४, पृ० ११० वृषभलाञ्छनः।

१३३ वही, ४.७३.।

१३४ वही, १०.४२.।

१३५ वही, २.४; ४.७१; ५.५; १०.९१.।

१३६ वही, २.४०; १०.१७.।

१३७ वही, अंक १, पृ० २३ शिपिविष्टन्यस्माद्। यहाँ ध्यातव्य है कि यह शब्द शिपिविष्ट वेद में विष्णु का वाचक है परन्तु राजशेखर ने यहाँ शिव के लिए प्रयोग किया है; तुलनीय-यज्ञो वै विष्णुः शिपिविष्टः। ताण्ड्यमहान्नाहण, ९.७.१०; काण्वीय शतपथ-ब्राह्मण, ३.२.३.३।

१३८ बालरामायण, ४.६४; १०.२७.।

१३९ वही, १०.५९; बालभारत, १.२.।

१४० बालरामा०, १०.७१; काव्यमीमांसा, अध्याय १७, पृ० २२९.।

१४१ ऋग्वेद, ७.५९.१२ त्र्यम्बकम्।

१४२ वाज०सं०, ३.६०.।

१४३ तैत्ति० सं०, १.८.६.२.।

१४४ मैत्रा० सं०, १.१०.४.।

१४५ काठ० सं०, ३६.१४ रुद्राख्यम्बकाः।

१४६ अथर्व० १४.१.१७.।

ऋग्वेद,^{१४७} सामवेद,^{१४८} वाजसनेयिसंहिता,^{१४९} काठकसंहिता^{१५०} तथा अथर्ववेद^{१५१} में; गिरिश,^{१५२} पशुपति, शम्भु, शङ्कर^{१५३} आदि का वाजसनेयिसंहिता में प्रयोग हुआ है। शिव के पिनाकित्व के संकेत ऋग्वेद^{१५४} तथा वाजसनेयिसंहिता^{१५५} में मिलते हैं। अथर्ववेद तथा मैत्रायणीसंहिता में पशुपति तथा भूतपति^{१५६} और शतपथ-ब्राह्मण^{१५७} तथा शांखायन-ब्राह्मण^{१५८} में पशुपति तथा महादेव का प्रयोग है। इसी प्रकार 'स्थाणु' शब्द का प्रयोग शतपथ-ब्राह्मण में यद्यपि यूप के लिए हुआ है,^{१५९} तथापि इसमें शिव के प्रतीक की एकरूपता द्रष्टव्य है। अतः राजशेखर द्वारा प्रयुक्त अनेक अभिधान वैदिक हैं। यायावर कवि द्वारा देवों में अग्नि की श्रेष्ठता का कथन^{१६०} भी वेदसम्मत है। उनके द्वारा संकेतित सूर्य का सात अश्वों से युक्त रथवाला होने का वर्णन भी वेदानुसारी है।^{१६१} बालरामायण में 'इन्द्र से बादलों को हटाने का' उनका वर्णन भी सर्वथा वैदिक है। क्योंकि वेद में मेघों को हटाने की प्रार्थना इन्द्र से की गयी है।^{१६२} राजशेखर ने अन्य देवियों में लक्ष्मी^{१६३}, उमा^{१६४} एवं वरुणानी^{१६५} का भी

१४७ ऋग्वेद, १.२७.१०; १.४३.१; १.६४.२; १.८५.१; १.११४.१-११; १.२२.१; १.१२९.३; २.१.६; २.३३.१-१५; २.३४.२; २.३८.९; ३.८.५; ४.३.१; ५.३.३; ५.४१.२; ५.४२.११; ५.४६.२; ५.५१.१३; ५.५२.१६; ५.५९.८; ५.६०.५; ६.१३.३६; ६.२८.७; ६.४९.१०; ६.५०.४; ६.६६.३; ६.७४.१-४; ७.१०.४; ७.३५.६; ७.३६.५; ७.४०.५; ७.४१.१; ७.४६. १-४; ७.५६.१; ७.५८.५; ८.१३.२०; ८.२०.१७; ८.२२.१३; ८.२९.५; ८.६१.३; १०.६४.८; १०.६५.१; १०.६६.३; १०.९२.५; १०.९३.४; १०.१२५.६; १०.१२५.५; १०.१३६.१; १०.१६९.१।

१४८ सामवेद, १.१५, ४३३।

१४९ वाज० सं०, १६.४८; ३३.४८; ३४.३४

१५० काठकसंहिता, ३६.१४.

१५१ अथर्ववेद, १.२८.५; ४.२१.७; ३.१६.१; ४.३०.५।

१५२ वाज०सं०, ३.६१.

१५३ वही, १६.१-६६.

१५४ ऋग्वेद, २.३३.१०-११; ५.४२.११; ७.४६.१ इमा रुद्राय स्थिरधन्वने गिरिः, १०.६४.८; १०.१२५.६ अहं रुद्राय धनुरार्तनोमि ब्रह्मणे द्विष्टे शरवे हन्तु वारः; अथर्व०, ४.३०.५।

१५५ अर्वाततधन्वा पिनाकावसु; १६.५१ पिनाकावसु; १६.५१ पिनाकुं बिभ्रद् आगहि।

१५६ अथर्व०, ११.२.१-३१; मैत्रायणीसंहिता, ४.२.१२ यत्पशुपतिरिति रुद्रइति च।

१५७ शत०ब्रा०= ६.१.३७-१९; १.७.३.८।

१५८ शांखायन-ब्रा, ६.१-९।

१५९ शतपथ-ब्राह्मण, ३.६.२.५ यूपः स्थाणुः।

१६० बालरामा०, १०.४; तुलनीय-शत०ब्रा० १४.३.२.५ अग्निर्वै सर्वेषां देवानामात्मा; शत०ब्रा०, १.६.२.८; ३.१.३.१ अग्निर्वै सर्वा देवताः; शत०ब्रा०, ७.४२.२५ अग्निर्वै प्रथमा विश्व ज्योतिः; जैमिनीय ब्राह्मण, १.६६ अग्निर्देवतानां ज्योतिः इत्यादि।

१६१ बालरामायण, ८.३९; तुलनीय ऋग्वेद, १.११५.३, ४, ५; १.५०.८ सप्त त्वा हरितो रथे वहन्ति देवसूर्य; १.५०.९ अयुक्त सप्त शुच्युवः सूरौ रथस्य नप्त्यः ताभिर्वाति स्वयुक्तिभिः; ७.६०.३ अयुक्त सप्त हरितः सधस्थाद्या ई० वहन्ति सूर्य घृताचीः।

१६२ बालरामायण, ५.६०; तुलनीय ऋ०, २.११.५, ९; २.१२.३, ७; २.१९.३ आदि।

१६३ बालरामा० ७.३७; १०.२.३७, ४२, ४४ लक्ष्मी; ७.५९ श्रियः ३.८४ पद्मा; ५.४५ कमला।

उल्लेख किया है, जिनमें लक्ष्मी सम्भवतः शतपथ-ब्राह्मण की देवी श्री से विकसित हुई प्रतीत होती है^{१६६} तथा उमा का प्राचीनतमा उल्लेख केनोपनिषद् में उमा-हैमवती के रूप में हुआ है।^{१६७} सम्भवतः इसी से उमा पार्वती का विकास हुआ होगा। इस प्रकार राजशेखर की रचनाओं में उल्लिखित देवी-देवताओं का स्वरूप ऐतिहासिक विकास क्रम में वेदों से दूर होते हुए भी किन्हीं अंशों में इनमें वैदिक देवताओं का मूल निहित है।

राजशेखर ने अपनी कृतियों में गन्धर्वों^{१६८} यक्षों,^{१६९} किन्नरों,^{१७०} (किं पुरुषों), विद्याधरों,^{१७१} सिद्धों,^{१७२} लोकपालों^{१७३} आदि अर्द्धादिव्य जातियों का भी उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने अप्सराओं^{१७४} का भी संकेत किया है। इनमें से कुछ का उल्लेख वैदिक साहित्य में भी हुआ है।^{१७५} राजशेखर ने अपने ग्रन्थों में हिमवान्,^{१७६} पारियात्र^{१७७} और मैनाक^{१७८} पर्वतों तथा न्यग्रोध^{१७९} (वट) का भी उल्लेख किया है, जो सर्वथा वैदिक है। राजशेखर ने वैदिक ऋषियों का न केवल उल्लेख किया है, प्रस्तुत उनका वर्णन भी किया है। उनके अनुसार

१६४ कर्पूरमञ्जरी, १.३ गिरीन्द्रसुता; बालरामायण, २.३, १०.२७ उमा; वही, ४.६४ रुद्राणीधर्मसूनुः, १०.२ रुद्राणी; ३.७२, ४.२५ मृडानी; १०.३३ भवानी; १०.२८ गिरिसुता; १०.४२ गौरी; १०.८९ गौरीपति; काव्यमीमांसा, अध्याय ३, पृ० २६ गौरी।

१६५ बालरामा= १०.२ वरुणानी।

१६६ शतपथ-ब्राह्मण, ११.४.३.३।

१६७ केनोपनिषद्, ३.१२; ४.१। द्रष्टव्य तैत्तिरीयारण्यक १०.१.१.५० पर सायणभाष्य हिमवत्पुत्र्या गौर्या ब्रह्मविद्याभिमानिरुपत्वाद् गौरीवाचक उमाशब्दो, ब्रह्म विद्यामुपलक्षयति। अत एव तलवकारोपनिषदि ब्रह्मविद्यामूर्तिप्रस्तावे ब्रह्मविद्यामूर्तिः पठ्यते 'बहु शोभमानामुमां हैमवतीं तां होवाच' इति। तद्विषयः तथा उमया सह वर्तमानत्वात् सोमः'।

१६८ बालरामायण, अंक १०, पृ० ३४१ सरचारण; काव्यमीमांसा, अध्याय ९, पृ० १११ तुम्बुरोर्दुर्गीतं, नलकूबरस्य।

१६९ कर्पूरमञ्जरी, १.२५ यक्षसुरसिद्धगणाङ्गनाः।

१७० बालरामायण, ४.५ किन्नरपते; वही अंक १०, पृ० ३४-१ किन्नरैः; बालभारत, अंक २, पृ० ७६ किन्नरकण्ठएष; विद्वशाल०, ४.११ किन्नरकण्ठी

१७१ बालरामा०, ४७ विद्याधराः; वही, अंक ४, पृ० १०५ विद्याधरान्; अंक ७, पृ० २२३ विद्याधरजन; अंक १०, पृ० ३४१ विद्याधरसंकुलम्; १.२४ विद्याधराः; बालभारत, २.१० भूखण्डविद्याधरः।

१७२ कर्पूरमञ्जरी, १.२५ सिद्धगणाङ्गना; बालरामायण, अंक ४, पृ० १०५ सिद्धांश्च; वही, अंक ७, पृ० २२३ सिद्ध।

१७३ बालभारत, २.१ हे विश्वे लोकपालास्त्वभयि।

१७४ बालरामा०, अंक ३, पृ० ६७ चाप्सरोभिः; २.५४ अप्सरोऽद्य; वही, अंक ४, पृ० १०५ देवानप्सरसो; ५.४५ अमराङ्गना; विद्वशाल०, ४.२४ देवाङ्गनानामिति; काव्यमीमांसा, अध्याय ९, पृ० १११ रम्भया।

१७५ अप्सराओं तथा गन्धर्वों के लिए द्रष्टव्य सूर्यकान्तः वैदिक देवशास्त्र दिल्ली, १९६१, पृ० ३४८-५७; यक्षों के लिए ऋग्वेद, ७.६१.५; अथर्ववेद, १०.२.३२; १०.८.४३; वाजसनेयिसंहिता, ३४.२; तैत्तिरीय ब्राह्मण, ३.१२.३.१; कौशिकसूत्र ९५; केनोपनिषद्, ३.२-१२; किं पुरुषो के लिए ऐतरेयब्राह्मण, २.८; शतपथ-ब्राह्मण, १.२.३.९; ७.५.२.३२; गन्धर्वों एवं अप्सराओं के लिए द्र० अथर्व० ८.८.१५ गन्धर्वाप्सरसः।

१७६ बालरामा०, ७.१२, ८.२३ तुहिनगिरि।

१७७ वही, ८.२३ पारियात्राचल; काव्यमीमांसा, अध्याय १७, पृ० २३३ पारियात्र। तुलनीय-ऋ० १०.१२१.४; यजु०, २४.१२.३०; अथर्व०, ४.९.९; ४.२.५; ६.९५.३; १९.२.१ इत्यादि। बौधायनधर्मसूत्र, १.१.२-१०।

१७८ बालरामा०, १०.४६ मैनाक; तुलनीय, तैत्तिरीयारण्यक, १.३१.२।

१७९ बालरामा०, १०.९१ न्यग्रोध; तुलनीय, ऐतरेय-ब्राह्मण, ३.५.४।

ऋषि साक्षात्धर्मा होते हैं, अतः तपः प्रभाव से उन्हें सब कुछ प्रत्यक्ष रहता है, वे मन्त्र दृष्टा हैं।^{१८०} उनका यह कथन ऋषिविषयक यास्क की उक्ति-“साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूव” का स्मरण करवाता है।^{१८१} ऋषियों के विषय में उनकी ऐसी धारणा है कि उनकी वाणी कभी असत्य नहीं होती।^{१८२} वे ऋषियों का बहुत आदर करते थे।^{१८३} उन्होंने विश्वामित्र के ब्रह्मतेज तथा क्षात्रतेज की प्रशंसा करते हुए वशिष्ठ शाप को व्यर्थ करने वाले उनके तपोबल का भी बखान किया है।^{१८४} तथा अगस्त्य ऋषि के तपः प्रभाव का भी संकेत किया है।^{१८५} राजशेखर ने अपने साहित्य में सप्तर्षियों,^{१८६} अगस्त्य,^{१८७} अङ्गिरसगोत्रीय शतानन्द,^{१८८} अत्रि,^{१८९} आपस्तम्ब,^{१९०} काण्व,^{१९१} कश्यप,^{१९२} कुशिक,^{१९३} ऋचीक,^{१९४} त्रिशंकु,^{१९५} भृगुवंशी परशुराम,^{१९६} याज्ञवल्क्य,^{१९७} शाण्डिल्य,^{१९८} वसिष्ठ,^{१९९} वामदेव,^{२००} व्यास,^{२०१} विश्वामित्र,^{२०२} सुगीथ,^{२०३} यम^{२०४} आदि का उल्लेख किया है। उन्होंने वैदिक ऋषिका लोपामुद्रा^{२०५} का भी उल्लेख किया है, जिसका संकेत ऋग्वेद^{२०६} में भी अगस्त्य की पत्नी के रूप में हुआ है।

१८० बालरामा० २.३३ ऋषीणां तु श्रुतिदृशाम्; वही, अंक २, पृ० ५१ श्रुत्यर्थवीथीविदग्धः; वही, १.३५ यन्मीमांसयतः श्रुतीः शतपथाः साक्षात्कृतब्रह्मणो, जनक द्वारा महर्षि विश्वामित्र के विषय में उक्ति; बालभारत, १.१५ योगीन्द्रश्छन्दसां द्रष्टा।

१८१ निरुक्त, १.६.२०: साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूव। तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान्सम्प्रादुः।

१८२ बालभारत, १.१०; अनूचानो हि यद् ब्रूते सा स्वयम्भूः सरस्वती। तदार्षं न मृषार्थं स्यात् सा दृष्टिर्विदुषां दृढा॥

१८३ वही, १.२५.

१८४ बालरामायण, १.२६-२७, ३५।

१८५ वही, १.२८.।

१८६ वही, १.२६ गगनमुनीन् सप्त; विद्वशालभञ्जिका, अंक २, पृ० ४०।

१८७ बालरामा०, १.२८; अंक १, पृ० १४; १०.६१; १०.६३ मित्रावरुणयोः पुत्रः; वही= अंक १०, पृ० ३५३, ३६९।

१८८ वही, अंक १, पृ० १७ एवं पात्र विशेष के रूप में।

१८९ वही, ३.३४; ४.४; बालभारत, १.२५.

१९० बालभारत, १.२५

१९१ बालरामायण, ४.४.

१९२ वही, २.२३.

१९३ वही, ४.४८; वही, अंक ३, पृ० ६३ कुशिकनन्दनः।

१९४ वही, अंक २, पृ० ३८ ऋचीक।

१९५ वही १.२६ त्रिशङ्कु।

१९६ वही, २.२८; अंक १०, पृ० ३६७; एवं पात्र विशेष के रूप में।

१९७ वही, १.२२; १.३४; १.५२; १.५६; ४.४५ इत्यादि; बालभा०, १.२५।

१९८ बालरामा०, ४.४।

१९९ वही, १.२६; १०.९८; अंक १०, पृ० ३६९; एवं पात्र विशेष के रूप में; बालभारत, १.२५।

२०० बालरामा०, ६.१२ एवं पात्रविशेष के रूप में।

२०१ बालभारत में पात्र के रूप में।

२०२ बालरामा०, १.२६-२७, ३५; ३.७०; ४.४५-४६; ७.३ इत्यादि; बालभारत, १.२५.।

२०३ बालरामा०, ४.४.।

२०४ वही, ४.४.।

२०५ वही, १.३६; १०.६१; एवं पात्रविशेष के रूप में।

सप्तर्षियों का उल्लेख वेद में हुआ है।^{२०७} शतपथ-ब्राह्मण में भी उनका उल्लेख है^{२०८} और वहाँ उनके नाम भी दिये गये हैं-गोतम, भरद्वाज, विश्वामित्र, जमदग्नि, वसिष्ठ, कश्यप तथा अत्रि^{२०९}। अगस्त्य का उल्लेख अथर्ववेद^{२१०} की ऋषि-सूची में आता है। 'अङ्गिरस्' शब्द ऋग्वेद में लगभग ६० बार आया है, जिसमें से दो-तिहाई बार इस शब्द का बहुवचन में प्रयोग हुआ है। वे स्वर्ग सूनू^{२११} तथा देवपुत्र^{२१२} ऋषि हैं। अत्रि भी प्राचीन ऋषियों में से एक हैं, जो पाञ्चजन्य ऋषि कहे जाते हैं।^{२१३} ऋग्वेद का समग्र ऋषियों में अन्य गोतम, भरद्वाज, विश्वामित्र, वसिष्ठ तथा कश्यप प्रमुख वैदिक ऋषि हैं। ऋग्वेद का चतुर्थ मण्डल प्रायः गोतमों से सम्बद्ध है, इसका १८वाँ सूक्त गोतमपुत्र वामदेव का है। भरद्वाज ऋग्वेद के षष्ठ मण्डल के ऋषि हैं और विश्वामित्र तृतीय मण्डल के, वसिष्ठ सप्तम मण्डल के तथा कश्यप ऋग्वेद-१.१९; ८.२९; ९.६४; ६७.४-६; ९१, ९२, ११३, ११४; तथा १०.१३७.२ के ऋषि हैं।^{२१४} वसिष्ठ अथर्ववेद-१.२९; ३.१२, २०, २१, २२; ४.२२ तथा २०.१२, ११७ के मन्त्रदृष्टा ऋषि हैं। अथर्ववेद के कुछ मन्त्रों में भी वसिष्ठ का उल्लेख है।^{२१५} कण्व' शब्द ऋषिविशेष तथा कण्वकुल के अर्थ में ऋग्वेद में लगभग ६० बार प्रयुक्त है। ऋग्वेद के अष्टम मण्डल के ऋषि कण्व अथवा तत्कुलोत्पन्न ऋषि हैं।^{२१६} कुशिक सायण के मत में ऋग्वेद (१०.१२७) के ऋषि हैं। भृगु जमदग्नि के साथ ऋग्वेद (९.६५) और मथित तथा च्यवन के साथ (१०.१९) के द्रष्टा माने जाते हैं। ऐतरेय-ब्राह्मणों^{२१७} में भृगु के वर्ग विशेष के प्रतिनिधिभूत ऋषि के रूप में आते हैं। त्रिशङ्कु तैत्तिरीयोपनिषद् (१.१०.१) में एक ऋषि के रूप में आते हैं, किन्तु वसिष्ठ के अभिशाप और विश्वामित्र के प्रतिकार के फलस्वरूप उनके लिए आकाश के मध्य में स्वर्ग की सृष्टि का संकेत^{२१८} वहाँ नहीं प्राप्त होता। कालिदास ने भी अभिज्ञानशाकुन्तलम् में इसका संकेत किया है।^{२१९} शाण्डिल्य ऋषियों का उल्लेख शतपथ-

२०६ ऋग्वेद, १.१७९.४; तुलनीय बृहदेवता, ४.५७.।

२०७ वही, १.३१.५; ४.४२.८; १०.१३०.७; १०.१०९.४; वाजसनेयिसंहिता, १४.२४; अथर्ववेद, ११.१.१, २४; बृहदारण्यकोपनिषद्, २.२.६।

२०८ शतपथ-ब्राह्मण, २.१.२.४ सप्तर्षी नु ह स्म वै पुरक्षा इत्याचक्षते।

२०९ वही, १४.५.२.६ इमावेव गोतमभरद्वाजौ। अयमेव गोतमोऽयं भरद्वाज इमावेव विश्वामित्रजमदग्नी अयमेव विश्वामित्रोऽयं जमदग्निरिमावेव वसिष्ठकश्यपाववयमेव वसिष्ठोऽयं कश्यपो वागेवात्रिः

२१० अथर्ववेद, १८.३.१५। विस्तर हेतु द्रष्टव्य सूर्यकान्तः वैदिक कोश, वारणसी: काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, १९६३।

२११ ऋग्वेद, ३.५३.७; १०.६७.२; ४.२.१५।

२१२ वही, १०.६२.४.।

२१३ वही, १.११७.३१ विस्तर हेतु द्रष्टव्य सूर्यकान्तः वैदिक कोश, पृ० ३७६-७९; V.G Rahurkar: The Seers of the Rgveda, Poona, १९६४, PP.६१-८८।

२१४ इन ऋषियों के सविस्तर विवरण के लिए द्रष्टव्य V.G Rahurkar का पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, पृ० १६-१७६।

२१५ अथर्व०, ४.२९.३; १८.३.१६; २०.१२.१, ६; २०.११७.३।

२१६ विस्तर हेतु द्रष्टव्य V.G Rahurkar की पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, पृ० १५४-७६; सूर्यकान्तः वैदिक कोश, पृ० ८२; वैदिक देवशास्त्र, पृ० ३७९-८०।

२१७ ऐतरेय-ब्राह्मण, २.२०.७। भृगु के विवरणार्थ द्रष्टव्य सूर्यकान्तः वैदिक देवशास्त्र, पृ० ३६२-६४; V.G Rahurkar का पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, पृ० २१५-२०।

२१८ बालरामायण, १.२६: वासिष्ठीं शापमुद्रां सपदि विदलयन् यो महासत्रसम्बन्धे। मध्ये व्योम त्रिशङ्कोशतमखविमुखः स्वर्गसर्ग चकार॥

२१९ अभिज्ञानशा०, अंक २, पृ० ८४ त्रिशङ्कुरिवान्तरातिष्ठ।

ब्राह्मण^{२२०} एवं छान्दोग्योपनिषद्^{२२१} में हुआ है।^{२२२} यम ऋग्वेद (१०.१०) में ऋषि के रूप में आते हैं, जिसमें यम और उसकी बहन यमी का संवाद है।^{२२३} इस प्रकार राजशेखर की रचनाओं में उनके द्वारा अनेक वैदिक ऋषि उल्लिखित हैं।

कविवर राजशेखर ने अपनी कृतियों में कुछ ऐसे पात्रों का भी समायोजन किया है, जो वैदिक पृष्ठभूमि के हैं। बालरामायण के शुनःशेष, विश्वामित्र, मातलि, वामदेव, पुरुहूत, अगस्त्य, लोपामुद्रा और वसिष्ठ तो स्पष्टतः वैदिक भूमि से ही हैं। इनमें शुनःशेष का सम्बन्ध ऐतरेय-ब्राह्मण से है, जहाँ इनके 'देवरात' संज्ञा से प्रख्यात होने का सम्पूर्ण आख्यान दिया गया है।^{२२४} शेष तो देव एवम् ऋषि हैं जिनकी पृष्ठभूमि ही वेद है।

राजशेखर के साहित्य में प्रकारान्तर से कतिपय वैदिक आख्यानों का भी संकेत मिलता है। बालभारत में वर्णित द्यूतक्रीड़ा के अवसर पर पृथ्वी के राजसिंहासन को दाँव पर लगाते हुए उस पर बैठने वाले अपने पूर्व पुरुषों के उल्लेखपरक युधिष्ठिर की उक्ति^{२२५} में दो वैदिक आख्यान संकेतित हैं—(१) पुरुरवा-उर्वशी एवं (२) दुष्यन्त-शकुन्तला से सम्बद्ध आख्यान, जिनका उल्लेख वैदिक साहित्य में मिलता है। पुरुरवा-उर्वशी से सम्बद्ध आख्यान ऋग्वेद^{२२६}, यजुर्वेद^{२२७}, काठकसंहिता^{२२८}, और शतपथ-ब्राह्मण^{२२९} में द्रष्टव्य है तथा दुष्यन्त-शकुन्तला विषयक आख्यान शतपथ-ब्राह्मण^{२३०} तथा ऐतरेय-ब्राह्मण में^{२३१} मिलता है। एवमेव बालरामायण के द्वितीय अंक में राक्षस के कथन में भी दो वैदिक आख्यानों का संकेत है—(१) शुनःशेषाख्यान^{२३२}, जिसमें शुनःशेष को विश्वामित्र के धर्मपुत्र होने का गौरव प्राप्त है तथा (२) त्रिशङ्कु-विश्वामित्र आख्यान^{२३३}, जिनमें प्रथम का ऐतरेय-ब्राह्मण^{२३४} और शांखायन श्रौतसूत्र^{२३५} में तथा द्वितीय का तैत्तिरीयोपनिषद्^{२३६} में उल्लेख मिलता है।

२२० शतपथ-ब्राह्मण, ९.४.४.१७; ९.५.२.१५; १०.१.४.१०; १०.४.१.११; १०.६.३.५; १०.६.५.९।

२२१ छान्दोग्योपनिषद्, ३.११.४।

२२२ शाण्डिल्य के सविस्तर विवरण के लिए द्रष्टव्य सूर्यकान्तः वैदिक कोश, पृ० ५१३-१४

२२३ वैदिककाल से 'यम' मृत्यु के अधिष्ठातृ देवता भी माने गये हैं, परन्तु यहाँ वे ऋषियों के साथ उल्लिखित हैं। इस रूप में इनका संकेत ऋग्वेद में प्राप्त होता है। एतदर्थ विवरणार्थ द्रष्टव्य सूर्यकान्तः वैदिक कोश, पृ० ४२६।

२२४ द्रष्टव्य ऐतरेय-ब्राह्मण, अध्याय ३३ सम्पूर्ण।

२२५ बालभारत, २.२३: ऐलः प्राक् स पुरुरवाः प्रभुरभूद्यस्योर्वशीवल्लभो। दुष्यन्तः स च योऽभ्यसूत भरतं शाकुन्तलं शास्तये॥

२२६ ऋग्वेद, १०.९५.१-१८।

२२७ यजुर्वेद, ५.२; १५.१९।

२२८ काठक संहिता, ८.१०।

२२९ शतपथ-ब्राह्मण, ११.५.१.१-१७; ३.४.१.२२ उर्वशी वा अप्सराः पुरुरवा पतिरथ यत्तस्मिन्मिथुनादजायत तदायुः।

२३० शतपथ ब्राह्मण, १३.५.४.११, १३।

२३१ ऐतरेय-ब्राह्मण, ८.३९.२३।

२३२ बालरामायण, अंक १, पृ० १२ पर राक्षस की उक्ति- तत्रापि विश्वामित्रधर्मपुत्रः शुनःशेषः।

२३३ वही, अंक १, पृ० ११ पर राक्षस की उक्ति-“तत्त्वया मेनकाकामुकस्य त्रिशङ्क्याजिनः क्षत्रिय ब्राह्मणस्य तस्य प्रवृत्तिरस्मासु निवेदनीया”।

२३४ ऐतरेय-ब्राह्मण, ७.३३.१५-१७।

२३५ शांखायन श्रौतसूत्र, १५.२७।

२३६ तैत्तिरीयोपनिषद्, १.१०.१८^{C-0}. JK Sanskrit Academy, Jammu. Digitized by S3 Foundation USA

राजशेखर ने तीनों लोकों-द्यु, अन्तरिक्ष और पृथ्वी के लिए प्रायः सभी कृतियों में क्रमशः भूः, भुवः एवं स्वः शब्दों का प्रयोग किया है^{२३७}, जो सर्वथा वेदसम्मत है, क्योंकि संहिताओं, ब्राह्मण-ग्रन्थों आदि में तीनों लोकों के वाचक इन्हीं तीनों शब्दों (भूः, भुवः, स्वः) का व्यवहार अनेकत्र दृष्टिगोचर होता है। यद्यपि वैदिक वाङ्मय में ये तीन व्याहृतियाँ मानी जाती हैं। इन तीनों व्याहृतियों (भूः, भुवः, स्वः) का प्रयोग वाजसनेयिसंहिता के एक मन्त्र (गायत्री मन्त्र) के प्रारम्भ में हुआ भी है।^{२३८} पृथ्वी लोक का वाचक 'भूः' शब्द^{२३९}, अन्तरिक्षलोक का अभिधायक 'भुवः' शब्द^{२४०} तथा द्युलोक का पर्याय 'स्वः' शब्द^{२४१} अनेक वैदिक ग्रन्थों में देखा जा सकता है।^{२४२} तैत्तिरीय-ब्राह्मण में भी तीनों व्याहृतियों को उपर्युक्त तीनों लोकों का वाचक माना गया है।^{२४३} एवमेव राजशेखर ने अपनी रचना काव्यमीमांसा से द्वादश मासों-श्रावण, भाद्रपद, आश्विन, कार्तिक, मार्गशीर्ष, पौष, माघ, फाल्गुन, चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठ, आषाढ के वैदिक नामों क्रमशः-नभा, नभस्यः, ईष, ऊर्ज, सह, सहस्य, तपः, तपस्य, मधु, माधव, शुक्र, शुचि का प्रयोग किया है^{२४४}, जिनका उल्लेख तैत्तिरीयसंहिता में प्राप्त होता है।^{२४५}

राजशेखर के साहित्य में उपलब्ध संकेतों से ऐसा प्रतीत होता है कि वे वैदिक श्रौत तथा गृह्य यज्ञयागों से सुपरिचित थे। उन्होंने यजमान^{२४६}, यज्ञार्थ-दीक्षा^{२४७}, चारों प्रधान ऋत्विजों-(होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा) एवम् उनके द्वारा सम्पादित होने वाले यज्ञीय कर्मों^{२४८}, क्रतुक्रिया^{२४९}, प्रातःसवन^{२५०}, यज्ञ-निमन्त्रण^{२५१}, यज्ञविधि^{२५२}, यज्ञांश के भोक्ता देवगण^{२५३}, ब्राह्मणों द्वारा आहुति दान^{२५४}, हवन के लिए प्रज्वलित अग्नि^{२५५},

२३७ बालरामा०, १.६१ भूर्भुवः स्वस्त्रयेऽपि; अंक २, पृ० ३८ भूर्भुवः स्वस्त्रितयवासिभिः; अंक २, पृ० ४६ भूर्भुवः स्वस्त्रयी; वही, २.५० भूर्भुवः स्वस्त्रयीवीरः; वही, ६.३८ भूर्भुवः स्वस्त्रयस्य; वही, अंक ९, पृ० ३०३ भूर्भुवः स्वस्त्रयविहितनियमेन; वही, अंक ९, पृ० ३२० भूर्भुवः स्वस्त्रयैकवीरः; वही, अंक ९, पृ० ३२७ भूर्भुवः स्वस्त्रितयडामरः काव्य-मीमांसा, अध्याय १, पृ० १ भूर्भुवः स्वस्त्रितयवर्तिनीषु; वही, अध्याय १८, पृ० २६३ भूर्भुवः स्वस्त्रयेऽपि।

२३८ वाजसनेयिसंहिता, ३६.३; भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि।

२३९ ऋग्वेद, १.५२.१३; ३.५५.१३; यजुर्वेद, ७.२९; १३.१८; ३७.१८; शतपथब्राह्मण, ७.४.२.७ भूर्हीयं पृथिवी; निघण्टु १.१ भूरिति पृथिवी नाम।

२४० ऋग्वेद, १.८६.५; ४.१९.२; यजुर्वेद, ३.५; ३.३७; ७.२९; ऐतरेयब्राह्मण, ८.१३; शतपथ-ब्राह्मण, २.१.४.११; २.४.१.१; ८.७.४.५; ११.१.६.३ इत्यादि; वही, ८.७.४.५ भुव इत्यन्तरिक्षलोकः।

२४१ ऋग्वेद, ३.२.७; ५.८३.४; १०.६६.४, ९ इत्यादि। यजुर्वेद, २३.८; अथर्व०, ४.११.६; ४.१४.२ इत्यादि। शतपथ-ब्राह्मण, २.१.४.११ स्वरिति दिवम् एतावद्वा, इदं यावदिमे लोकाः; ऐतरेय-ब्रा०, ६.७ असौ द्यु लोकः स्वः।

२४२ तैत्तिरीय ब्राह्मण, २.२.४.३ एता वै व्याहृत्यः इमे लोकाः।

२४३ काव्यमीमांसा, अध्याय १८, पृ० २४९।

२४४ तैत्तिरीय-संहिता, १.४.१४.१।

२४५ बालरामा०, अंक १, पृ० ९ यजमानम्; अंक ३, पृ० ६२ यजमाने; वही, अंक १, पृ० २८ याज्यः।

२४६ वही, अंक १, पृ० १३ सत्रे दीक्षिष्यमाणः।

२४७ वही, अंक ३, पृ० ६२ द्रष्टव्य चित्रशिखण्ड की उक्ति-"तत्र यथोचित-सामोद्गारिष्युद्गातारि शस्तमन्त्रसंस्कृताहुतौ होतारि प्रचरणकर्मधुर्येऽध्वर्यौ दिव्या गिरमनुवर्तमाने यजमाने सम्यगवेक्षिताखिलकर्मणि ब्रह्माणि.....ज्योतिरुदज्जम्भत"।

२४८ बालरामा०, २.८ क्रतुक्रिया।

२४९ वही, अंक १, पृ० ९ प्रातःसवन।

२५० वही, अंक १, पृ० १० यज्ञोपनिमन्त्रकस्य।

२५१ वही, २.२३ क्रतुविधियुक्ते।

२५२ वही, १०.४ क्रतुबलिलिहो।

मन्त्रानुष्ठान^{२५५}, यज्ञकुण्ड एवं उसकी अग्नि^{२५६}, हव्य^{२५७}, यज्ञभागों^{२५८}, मख-अध्वर^{२५९}, यज्ञसुवा^{२६०}, पञ्चगव्य^{२६१}, सोमसुत (सोमाभिषव)^{२६२} आदि का उल्लेख किया है। इनसे अतिरिक्त अनेकत्र यज्ञ-यागों का संकेत है^{२६३}। यही नहीं, उन्होंने महासत्र (सत्रयाग)^{२६४} का भी उल्लेख किया है तथा सोमयाग के अन्त में सम्पाद्य 'अवभृथ' नामक कर्म का भी संकेत किया है^{२६५}। राजशेखर ने दक्षिणा का भी अनेकत्र उल्लेख किया है^{२६६}, क्योंकि दक्षिणा के बिना यज्ञ पूर्ण नहीं माना जाता।

यायावर कवि ने गृह्य, आवसथ्य, औपसन अथवा स्मार्त अग्नि में सम्पादित होने वाले तथा पाकयज्ञ संस्था के अन्तर्गत आने वाले वैश्वदेव कर्म अर्थात् पञ्चमहायज्ञों में कतिपय यज्ञों का भी प्रकारान्तर से वर्णन किया है। ये पाँच महायज्ञ-देवयज्ञ^{२६७}, भूतयज्ञ^{२६८}, पितृयज्ञ^{२६९}, मनुष्ययज्ञ^{२७०}, तथा ब्रह्मयज्ञ^{२७१} हैं। राजशेखर ने अपनी कृतियों में वेदाध्ययन एवम् अध्यापन^{२७२} से ब्रह्मयज्ञ का, सन्ध्यावन्दन^{२७३} से देवयज्ञ का तथा अतिथिसेवा^{२७४} से

२५३ वही, १०.४ जुह्वते यद्य विप्राः।

२५४ वही, अंक १०, पृ० ३५६ होमोह्यमानहुतवहा।

२५५ काव्यमीमांसा, अध्याय ४, पृ० ३४ मन्त्रानुष्ठाननिष्ठस्य।

२५६ बालभारत, १.६३ यागकुण्डशिखिगर्भसम्भवम्।

२५७ बालरामा०, १.२६ हव्यम्।

२५८ वही, १.२७ सर्वयागाङ्गवर्गे।

२५९ वही, अंक २ पृ० ३४ दक्षमखोन्माथि; वही, अंक १, पृ० १० अध्वरविधिः; बालभारत, २.३४ दुपदाध्वरे।

२६० बालरामा०, १.२७ चापस्रवोर्धारणात्; वही, १.३८ स्रक्सुगन्धिनिधिविधिः

२६१ कर्पूरमञ्जरी, जवनिक प्रथम, पृ० २७ पञ्चगव्यम्।

२६२ बालरामा०, २.१३ सोमसुत।

२६३ वही, ३.१९ सुरयजनसमुत्था; वही, अंक ३, पृ० ७३ यागभूमिः; वही, ३.३२ संवननं; वही, ४.३९ क्रतुषु।

२६४ वही, १.२६ महासत्रबन्धे।

२६५ वही, अंक १, पृ० १० अध्वरविधिखभृथावशेषो; बालभारत, २.३७ राजसूयावभृथपरिगमे मन्त्रपूतैः पयोभिः।

२६६ कर्पूरमञ्जरी, जवनिका ४, पृ० १६४-१६५ दक्षिणा दातव्या, दक्षिमादत्ता, दक्षिणाविहितः; वही० पृ० १७५ विवाहे

दक्षिणा दीयते आचार्यस्य दीयते वयस्य ग्रामशतं ते दत्तम्-राजा; बालरामा०, २.२३ दक्षिणीकृत्य पृथ्वीम्।

२६७ तैत्तिरीयारण्यक, २.१०ः यदग्नौ जुहोत्यपि समिधं तद्देवयज्ञः संतिष्ठते।

२६८ वही, २.१० यद्भूतेभ्यो बलिं हरति तद्भूतयज्ञः संतिष्ठते।

२६९ वही, २.१०ः यत्पितृभ्यः स्वधा करोत्यप्यपस्तत्पितृयज्ञः संतिष्ठते।

२७० वही, २.१०ः यद्ब्राह्मणेभ्योऽन्नं ददाति तन्मनुष्ययज्ञः संतिष्ठते।

२७१ वही, २.१०ः यत्स्वाध्यायमधीयीतैकामप्यृचं यजुः साम वा तद्ब्रह्मयज्ञः संतिष्ठते।

२७२ कर्पूरमञ्जरी, १.२४; बालरामा०, २.८; वही, अंक १, पृ० १२; वही, अंक १०, पृ० ३५७ बालभार० १.१०; १.१९

त्रयीध्यायिभिः; काव्यमीमां०, अध्याय २, पृ० ७; वही, अध्याय १४, पृ० १९९।

२७३ कर्पूरम० प्रथम जवनिका, पृ० ५१ सन्ध्यां वन्दितुम्; बालरामा०, अंक १, पृ० ९ सन्ध्यां वन्दमानस्य मे कालातिपातः;

विद्बाल०, अंक १, पृ० ३२ मध्याह्नसन्ध्यायां निर्वर्त्य; वही, अंक २, पृ० ५५ सन्ध्यामुपासितुम्; वही, अंक ४, पृ० ९२

उत्तिष्ठ सन्ध्यां वन्दितुम्।

२७४ बालरामा०, १.३८; वही, ४.३४ सज्जातिथेयोऽर्चति; वही, अंक ४, पृ० १०३ मुन्यतिथीनां मुखेभ्यः; वही, १०.६१

यदतिथिकृते।

मनुष्ययज्ञ का संकेत किया है। उन्होंने अपनी नाट्यकृति बालरामायण में इष्टापूर्त कर्म^{२७५} का भी उल्लेख किया है, जो कठोपनिषदादि^{२७६} में संकेतित है।

राजशेखर की नाट्यकृतियों में गृह्यसूत्रों में प्रतिपादित कतिपय गृह्य संस्कारों का भी उल्लेख प्राप्त होता है। इनमें उपनयन अथवा यज्ञोपवीत संस्कार^{२७७} का तो यत्र-तत्र संकेत मात्र मिलता है, परन्तु संस्कारों में प्रमुख विवाह-संस्कार का उल्लेख तत्सम्बद्ध अनेक कृत्यों के साथ हुआ है। बालरामायण में एकत्र प्रयुक्त 'उपनयनादिसंस्काराः' शब्द से अन्य संस्कारों का भी संकेत माना जा सकता है^{२७८}। इसी नाटके में एकत्र विवाह का उल्लेख है^{२७९}, और अन्यत्र शब्दतः विवाहविधि के संकेत प्राप्त होते हैं, परन्तु विधि नहीं दी गयी है^{२८०}। कर्पूरमञ्जरी में राजा चन्द्रपाल और कर्पूरमञ्जरी के विवाह^{२८१} तथा विद्वशालभञ्जिका में राजा विद्याधर मल्ल और मृगाङ्गावली (मृगाङ्गवर्मा) एवं कुवलयमाला के विवाह^{२८२}-प्रसङ्गों में इस संस्कार के अनेक कृत्यों का उल्लेख हुआ है। गृह्यसूत्रों तथा धर्मसूत्रों में वर्णित ब्राह्म, प्राजापत्य, आर्ष, दैव, गान्धर्व, आसुर, राक्षस एवं पैशाच इन आठ विवाहों में से राजशेखर ने गान्धर्व विवाह का उल्लेख किया है जिसकी परिणति अन्ततः प्राजापत्य विवाह में होती है। यद्यपि राजशेखर ने विवाह के लिए शुभलग्न और शुभनक्षत्र होने का तो संकेत किया है^{२८३}, परन्तु, मास, नक्षत्र आदि की दृष्टि से शुभ समय का स्पष्टतः उल्लेख नहीं किया है। सम्भवतः उन्हें गृह्यसूत्रों में निर्दिष्ट उत्तरफाल्गुनी, मृगशिरा, रोहिणी, स्वाति^{२८४} आदि शुभ नक्षत्र अभीष्ट रहे होंगे। उन्होंने विवाह चौकी का संकेत किया है, जिस पर बैठकर वर परिणयसूत्र में बँधता है या विवाह की विधि पूर्ण करता है।^{२८५} राजशेखर ने जिन प्रमुख वैवाहिक कृत्यों का उल्लेख किया है, वे हैं-विवाहार्थ कङ्कण-बन्धन अर्थात् विवाह-दीक्षा (परिसरबन्ध)^{२८६}, तारामेलन (परस्पर-

२७५ वही, ४.३४ इष्टापूर्तपवित्रमौश्रमपदम्।

२७६ कठोपनिषद्, १.१.८ इष्टापूर्ते पुत्रपशूँश्च सर्वान्; मुण्डकोपनिषद्, १.२.१० इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः।

२७७ बालरामा० १.५३ यज्ञोपवीतेन, ४.५० यज्ञोपवीतम्; वही, अंक ४, पृ० १०१ उपनयनादिकाः संस्काराः, पृ० १२४; विद्वशाल०, अंक १, पृ० ११ यज्ञोपवीतम्; काव्यमीमांसा, अध्याय ११, पृ० १५३ यज्ञोपवीती।

२७८ बालरामा० अंक ४, पृ० १०१।

२७९ वही, ४.४८ विवाहोऽभूदिति।

२८० वही, २.१ वृत्ते विवाहोत्सवे; ३.८७; ३.८८ विवहनविधिः; अंक ४, पृ० १२० वृत्तविवाहमङ्गलो; ४.४८; विद्वशाल, १.३ विवाहसमये; वही, अंक २, पृ० ३५ विवाहोपकरणानि, विवाहसामग्रीम्; वही, अंक ४, पृ० ९३, १०५ विवाहकौतूहल....।

२८१ कर्पूरम० चतुर्थ जवनिता, पृ० १७३-१७५।

२८२ विद्वशाल, अंक २, पृ० ४०; वही, अंक ४, पृ० ११०, ११२।

२८३ वही, अंक ४, पृ० ९४ प्रदोषे विवाहलग्नमिति, पृ० १०६ आसन्नं विवाहलग्नम्; वही, अंक ४, पृ० ११५ किं वा वृत्ते विवाहे नक्षत्रपरीक्षा

२८४ तैत्तिरीय-ब्राह्मण, १.५.२; पारस्करगृह्यसूत्र, १.४.६-७; बौधायनगृह्यसूत्र, १.१.१८-१९; मानवगृह्यसूत्र, १.७.५

२८५ विद्वशालभञ्जिका, अंक ४, पृ० १०६ विवाह चतुष्किका।

२८६ वही, अंक ४, पृ० १०८ करं कङ्कणबन्धेन विरचयत विवाहदीक्षाम् द्रष्टव्यं शांखायन-गृह्यसूत्र १.१२.६-८; कौशिकसूत्र, ७६.८।

समीक्षण)^{२८७}, पाणिग्रहण^{२८८}, भ्रामरी (अग्निपरिणयन)^{२८९}, लाजाहोम^{२९०}, ध्रुवदर्शन और सप्तर्षिमण्डलदर्शन^{२९१}, कौतुकगृह प्रवेश^{२९२} और दक्षिणादान^{२९३}। राजशेखर का 'तारामेलन' कृत्य ही गृहसूत्रों में प्रतिपादित परस्परसमीक्षण है। कवि ने विवाह के प्रसङ्ग में सप्तपदी^{२९४} तथा अश्वमारोहण^{२९५} का वर्णन नहीं किया है, परन्तु

२८७ विद्धशाल०, अंक ४, पृ० ४० एवं पृ० ११० कुरु तारामेलनम्; द्रष्टव्य पारस्करगृह्यसूत्र, १.४.१६; आपस्तम्ब गृह्यसूत्र, ४.४; बौधायन-गृह्यसूत्र, १.१.२४-२५।

२८८ कर्पूरमञ्जरी, चतुर्थ जवनिका, पृ० १७३ हस्तेन हस्तं गृहाण कर्पूरमञ्जर्याः; विद्धशाल; अंक ४, पृ० १०६ सहस्राणां पाणिं ग्राहितस्य क इह एवं पृ० ११६ कुवलयमालाया हस्तं गृहीत्वा राजहस्ते विनिवेश्य; देखिए ऋ० १०.१८.८ हस्तग्राभ; अथर्व०, १४.१.४९; शांखायन-गृह्यसूत्र, १.१३.२; आपस्तम्ब-गृह्यसूत्र, १.७.३; गोभिलगृह्यसूत्र, २.२.१६; खादिगृह्यसूत्र, १.३.१७-३१; हिरण्यकेशी-गृह्यसूत्र, १.६.२०.१।

२८९ कर्पूरमञ्जरी, चतुर्थ जवनिका, पृ० १७५ भ्रामर्यो दीयन्ताम्; विद्धशाल, अंक २, पृ० ४० त्वरितं दापय भ्रामर्यः; वही, अंक ४, पृ० ११२ साम्प्रतं भ्रामरीः करोतु; द्रष्टव्य शांखायन-गृह्यसूत्र १.१३.४; हिरण्यकेशिगृह्यसूत्र, १.२०.८१।

२९० कर्पूरमञ्जरी, चतुर्थजवनिका, पृ० १७५ हुतवहे लाजञ्जलयः क्षिप्यन्ताम्; बालरामा०, ३.८७ लाजायते च साक्षादुत्तरलस्तारकानिकरः; विद्धशाल०, अंक २, पृ० ४० प्रज्वलिते हुतावहे लाजाञ्जलिं मुञ्चतु; वही, अंक ४, पृ० ११२ दीयन्तामाज्यप्रज्वलिते हुतवहे लाजाः; द्रष्टव्य आश्वलायन-गृह्यसूत्र, १.७.७-१३; पारस्करगृह्यसूत्र, १.६; आपस्तम्ब-गृह्यसूत्र, ५.३-५; शांखायन-गृह्यसूत्र, १.१३.१५-१७; गोभिल गृह्यसूत्र, २.२.५; मानवगृह्यसूत्र, १.११.११; बौधायनगृह्यसूत्र, १.४.२५।

२९१ विद्धशाल०, अंक २, पृ० ४० ध्रुवं सप्तर्षिमण्डलं च पश्य, दृष्टध्रुवो दृष्टसप्तर्षिमण्डलश्चसंवृतोऽग्निः; दृष्टध्रुवा दृष्टसप्तर्षि-मण्डला च; द्रष्टव्य पारस्करगृह्यसूत्र, १.८.१८-१९; आपस्तम्बगृह्यसूत्र, ६.१२; सप्तर्षिमण्डल-दर्शन के लिए द्रष्टव्य आश्वलायन गृह्यसूत्र १.५.२२।

२९२ बालरामा०, ३.८८ कौतुकागारदीक्षाम्; विद्धशाल०, अंक २, पृ० ३९ एतच्च कौतूहलगृहं प्रविशतु देवः।

२९३ कर्पूरम०, चतुर्थ जवनिका, पृ० १७५ विवाहे दक्षिणा दीयते आचार्यस्य, दीयते वयस्य। ग्रामशतं दे दत्तम्; द्रष्टव्य पारस्करगृह्यसूत्र, १.८.१४-१७।

२९४ द्रष्टव्य पारस्करगृह्यसूत्र, १.८.१। सप्तपदी कुछ गृह्यसूत्रों के अनुसार पाणिग्रहण से पूर्व बौधायन-गृह्यसूत्र, १.४.१०; गोभिलगृह्यसूत्र, २.२.१६; खादिगृह्यसूत्र, १.३.२१ और कुछ के अनुसार उसके बाद आश्वलायन-गृह्यसूत्र, १.५.२० होती है। सप्तपदी पर ही विवाह की पूर्णता तथा वर को पतित्व की प्राप्ति मानी गयी है मनुस्मृति ८.२२७; स्मृतिचन्द्रिका, सं० मैसूर, संस्कारकाण्ड, १. पृ० १८४, २१९: "अत एव यमः-नोदकेन न वाचा वा कन्यायाः पतिरुच्यते। पाणिग्रहणसंस्कारात्पति त्वं सप्तमे पदे॥ अनेन सप्तमपदादवाक् परिणेतुर्मरणेऽनविधवात्वमित्युक्तं भवति"।

२९५ द्रष्टव्य शांखायन-गृह्यसूत्र, १.१३.११-१२; पारस्करगृह्यसूत्र, १.७.१; बौधायन गृह्यसूत्र, १.४.२४; आपस्तम्ब-गृह्यसूत्र, २.५.३; हिरण्यकेशि गृह्यसूत्र; १.१९.८; गोभिल-गृह्यसूत्र, २.२.१-४; कौशिकसूत्र, ७६.१५; मानव-गृह्यसूत्र, १.१०.१६, १७; काठकगृह्यसूत्र, २५.२८। विस्तर हेतु द्रष्टव्य रामगोपालः India on Vedic Kalpautras, Delhi, १९५९, PP २३२-३३।

बालरामायण में उल्लिखित 'साप्तपदीनसख्यम्'^{२९६} शब्द से इसका अनुमान लगाया जा सकता है। राजशेखर ने प्रायश्चित्त का भी उल्लेख किया है।^{२९७}

राजशेखर के साहित्य में प्रयुक्त कतिपय शब्दों की लौकिक संस्कृत में साधुत्व-सिद्धि कठिन है। उन्हें स्पष्टतः वैदिक भाषा के प्रभाव का परिणाम ही माना जा सकता है। उदाहरणार्थ-'ददानः' (विद्धशाल०, १.१२) शब्द में प्रयुक्त 'कानच्' प्रत्यय का प्रयोग वैदिक भाषा में ही विहित है, प्रायः लौकिक संस्कृत में नहीं^{२९८}। एवमेव उनको द्वारा प्रयुक्त 'त्रयम्बक+अण्' से सिद्ध होता है, जिसमें मूलपद 'त्रयम्बक' सन्धि नियमों के विरुद्ध है, क्योंकि लौकिक संस्कृत में त्रि+अम्बक इस स्थिति में 'इको यणचि' (अष्टाध्यायी, ६.१.७७) सूत्र से यण् होकर 'त्रयम्बक' बनेगा, न कि 'त्रियम्बक'। इसके विपरीत यह शब्द 'इयङ्' से निष्पन्न होता है, जो केवल वैदिकी ही में पाणिनि के सूत्र 'छन्दस्युभयथा' (अष्टाध्यायी, ६.४.८६) के वार्तिक "तन्वादीनां छन्दसि बहुलम्" से सिद्ध होगा और इस प्रकार वैदिक भाषा में 'त्रियम्बक' तथा 'त्रयम्बक' दोनों ही रूप साधु होंगे, जबकि लौकिक संस्कृत में 'त्रयम्बक' रूप ही साधु है^{२९९}। एवमेव राजशेखर द्वारा कर्पूरमञ्जरी में प्रयुक्त 'गिरिश' (१.३) शब्द भी उन पर वैदिक प्रभाव ही द्योतित करता है। वस्तुतः यह शब्द वैदिक है, जिसका प्रयोग वाजसनेयि-संहिता^{३००} में हुआ है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि राजशेखर पर छान्दस प्रभाव था।

राजशेखर की रचनाओं में उपलब्ध उपर्युक्त वैदिक सन्दर्भ एवम् उनके द्वारा यत्र-तत्र प्रयुक्त वैदिक आख्यान, देवी-देवता, कृषि-कृषिकाएँ, यज्ञ-यागादि, संस्कार, वैदिक पद आदि उन पर वैदिक प्रभाव के पुष्कल प्रमाण प्रस्तुत करते हैं, जो वैदिक वाङ्मय के प्रति उनकी प्रगाढ़ श्रद्धा एवम् आस्था के परिचायक हैं।

इतिशम

२९६ बालरामायण, अंक १, पृ० १२ भगवन्, साप्तपदीनं सख्यं मां मुखरयति; सप्तपद से मैत्री के लिए द्रष्टव्य, अथर्व, ५.११.९।

२९७ बालरामा०, अंक प्रथम, पृ० १५ प्रायश्चित्तिनौ वर्तावहे-शुनःशेष की उक्ति; वही, २.५२ प्रायश्चित्तं चरिष्यति। द्रष्टव्य-शतपथ-ब्राह्मण, १२.४.१.६; कौषीतकि-ब्राह्मण, ५.९.६.१२ इनसे भिन्न प्रायः समस्त धर्मसूत्रों में इसका सविस्तर विधान है।

२९८ द्रष्टव्य पाणिनिः अष्टाध्यायी, ३.२.१०५, १०६ छन्दसि लिट्, लिटः कानज्वा। द्रष्टव्य भट्टोजिदीक्षितः सिद्धान्तकौमुदी-इह भूतसामान्ये छन्दसि लिट्। तस्य विधीयमानौ कसुकानचावपि छान्दसाविति त्रिमुनिमतम्। कवयस्तु बहुलं प्रयुज्जते।

२९९ तुलनीय भागवतपुराण सं० पंचानन तर्करत्न, कलकत्ता संवत् १३३४, ११.२८.२०; त्रियवस्थ; सिद्धान्तकौमुदी, भाग ४, पृ० ३७०; अष्टाध्यायी, ६.४.७७ पर वार्तिक 'इयङुवङ्प्रकरणे तन्वादीनां छन्दसि बहुलमुपसंख्यानं कर्तव्यम्'। तथा कशिका।

३०० वाजसनेयि संहिता, १६.४; तुलनीय १६.२२ गिरिचराय, २९ गिरिशयाय भी।

ऋग्वेद के वनस्पति पद का अर्थविचार

डॉ. सत्यदेव निगमालंकार^१

वैदिक कोष निघण्टु में 'वनस्पतिः' पद पठित है^२। कौषितिकि ब्रह्मण में अग्नि और प्राण को^३, वाजसनेयिसंहिता तथा मैत्रायणी संहिता में देव को^४ 'वनस्पति' बताया है। वनानां पतिः वनस्पतिः, (वनों का पति) तथा वनानां पाता पालयिता वा (वनों का पालक) ऐसा निर्वचन वनस्पति पद का किया जा सकता है। वन और पति दोनों ही आद्युदात्त हैं^५ तथा "पारस्करप्रभृतीनि च संज्ञायाम्"^६ से सुट् का आगम निपातित होकर "वनस्पतिः" शब्द की सिद्धि होती है। कोशकारों ने वनस्पति पद का अर्थ एक बड़ा जंगली पेड़ जिसमें फूल के बिना ही फल निकलता है बताया है^७। भागवत् पुराण में बिना फूल के ही फल देने वाले वृक्ष का नाम 'गूलर' दर्शाया है^८। महर्षि मनु ने बिना पुष्प के ही फलवान् वृक्ष का नाम वनस्पति माना है-

अपुष्पाः फलवन्तो ये ते वनस्पतयः स्मृताः॥ १,४७

भावप्रकाश निघण्टु में स्थालीवृक्ष के साथ वनस्पति का नाम पढ़ा गया है-

नन्दीवृक्षोऽश्वत्थभेदः प्ररोही गजपादपः।

स्थालीवृक्षः क्षयतरुः क्षीरी च स्याद्वनस्पतिः॥^९

ऋग्वेद में 'वनस्पति' पद किन-किन अर्थों में आया है, इसका दर्शन हम कर रहे हैं।

वृक्षादि के रूप में प्रयुक्त-

वनस्पति पद का अर्थ ऋग्वेद में वनों के विशाल वृक्ष और ओषधि आदि पदार्थों को अधिक वृष्टि के हेतु से पालन करने वाले के लिये आया है-

अव सृजा वनस्पते देव देवेभ्यो हविः।

प्रदातुरस्तु चेतनम्॥ १,१३,११

देवता-अग्निः। हे देव वनस्पति! देवों का हव्य समर्पण करो, जिससे हव्यदाता को परम ज्ञान उत्पन्न हो^{१०}।

श्वामी दयानन्द ने यहाँ 'वनस्पते' इस पद का अर्थ "वनों के वृक्ष और ओषधि आदि पदार्थों को अधिक वृष्टि के हेतु से पालन करने वाला" किया है^{१०}।

१ रीडर, श्रद्धानन्द वैदिक शोध संस्थान, गुरुकुल कांगड़ी, विश्वविद्यालय

२ निघण्टु ५,२

३ अग्निर्वै वनस्पतिः १०,६, प्राणो वै वनस्पतिः १२,७

४ देवो देवैर्वनस्पतिः २१,५६; २८,२०;॥ ३,११,५; १४७, १५;

५ उभे वनस्पत्यादिषु युगपत्॥ अष्टा० ६,२,१४०

६ अष्टा० ६,१,१५७

७ वैदिक कोश-चन्द्रशेखर उपाध्याय

८ भागवत पुराण ३,१०,१९

९ वटादिवर्गः ६

उत स्म ते वनस्पते वातो वि वात्यग्रमित्।

अथो इन्द्राय पातवे सुनु सोममुलूखल॥ १,२८,६

देवता-इन्द्रयज्ञसोमाः। हे वनस्पते! तुम्हारे सामने वायु वहती है, इसलिये वनस्पते! इन्द्र के पानार्थ सोमरस तैयार करो।

आचार्य सायण ने यहाँ “ओखल-रूप काष्ठ (वृक्ष)” तथा श्वामी दयानन्द ने ‘वृक्षादि पदार्थ’ अर्थ माना है^{११}।

प्र वेपयन्ति पर्वतान् वि विञ्चन्ति वनस्पतीन्।

प्रो आरत मरुतो दुर्मदा इव देवासः सर्वया विशा॥ १,३९,५

देवता-मरुतः॥ मरुद्गण पहाड़ों को विशेषरूप से कँपाते हैं। वनस्पतियों को अलग-अलग कर देते हैं। देव मरुद्गण! प्रजागण के साथ तुम यथेच्छ उन्मत्तों की तरह सब स्थानों को जाते हो।

आचार्य सायण और स्वामी दयानन्द ने यहाँ वनस्पतीन् पद का अर्थ “बड़ और पिप्पल आदि वनस्पति” मानकर मन्त्रार्थ दर्शाया है^{१२}।

युवंह गर्भं जगतीषु धृत्यो युवं विश्वेषु भुवनेष्वन्तः।

युवमग्निं च वृषणावपश्च वनस्पतीरश्विनावैरयेथाम्॥ १,१५७,५

देवता-अश्विनौ। अश्विनौ! तुम दोनों गमनशील गौओं और सारे संसार के प्राणियों में अन्तःस्थित गर्भों की रक्षा करो। अभीष्टवर्षकद्वय! अग्नि, जल और वनस्पतियों को प्रवर्तित करो।

मन्त्र में अश्विनौ को अग्नि, जल और वनस्पतियों को प्रवर्तित करने को कहा गया है। आचार्य सायण और स्वामी दयानन्द ने “वनस्पतिः” पद का अर्थ “वनस्पति आदि वृक्ष” गृहीतकर अर्थ दिखाया है^{१३}।

यत्वेषयामा नदयन्त पर्वतान्दिवो वा पृष्ठं नर्या अचुच्यवुः।

विश्वे वो अजम्भयते वनस्पती रथीयन्तीव प्र जिहीत ओषधिः॥ १,१६६,५

देवता-मरुतः। मरुतों का गमन अत्यन्त प्रदीप्त है। वे जिस समय गिरिगह्वरों को ध्वनित करते हैं, अथवा मनुष्यों के हित के लिये अन्तरिक्ष के ऊपरी भाग में चढ़ते हैं, उस समय उनके पथ के सारे वनस्पति, डर के कारण, व्याकुल हो जाते हैं और रथारूढ़ा स्त्री की तरह ओषधियाँ एक स्थान से दूसरे स्थान पर चली जाती हैं।

आचार्य सायण ‘वनस्पतिः’ पद का अर्थ ‘वन का पालक वृक्षसमूह’ तथा श्वामी दयानन्द ‘वृक्ष’ करते हैं^{१४}।

वनस्पतिरवसृजन्नुप स्थादग्निर्हविः सूदयति प्र धीभिः।

त्रिधा समक्तं नयतु प्रजानन्देवेभ्यो दैव्यः शमितोप हव्यम्॥ २,३,१०

१० यो वनानां वृक्षौषध्यादि समूहानामधिक वृष्टिहेतुत्वेन पालयितास्ति सोऽपुष्पफलवान्॥

११ उत अपि च हे वनस्पते उलूखलरूपवृक्ष ते अग्रमित् तव पुरत एव वातो वि वाति स्म-सा०॥ वनस्पतेः वृक्षादेः-दया०॥

१२ वनस्पतीन् वटाश्वत्थादीन् वि मुञ्चन्ति परस्परवियुक्तान् कुर्वन्ति-सा०॥ वनस्पतीन् वटाश्वत्थादीन्-दया०॥

१३ वनस्पतीन् च ऐरयेथाम्-सा०। वनस्पतीन्-दया०॥

१४ वनस्य पालयिता वृक्षसमूहः-सा०॥ वनस्पती वनस्पतिवृक्षः-दया०॥

देवता-अग्निः॥ वनस्पति-रूप अग्नि हमारे कर्म जानकर हमारे पास है। विशेष कर्म द्वारा अग्नि भलीभाँति हव्य पकाते हैं। दिव्य शमिता नाम के अग्नि तीन प्रकार से अच्छी तरह सिक्त हव्य को जानकर उसे देवों के निकट ले जायें॥

स्वामी दयानन्द ने यहां 'वनस्पतिः' पद को 'वटादि' हेतु प्रयुक्त किया है^{१५}।

इन्द्र ओषधीरसनोदहानि वनस्पतिरसनोदन्तरिक्षम्।

विभेद बलं नुनुदे विवाचोऽथाभवद्मिताभिक्तूनाम्॥ ३,३४,१०

देवता-इन्द्रः॥ इन्द्र ने ओषधि प्रदान की है, दिन दिया है, वनस्पति और अन्तरिक्ष प्रदान किया है। उन्होंने मेघ को भिन्न किया है, विरोधियों का वध किया है, जो युद्ध करने सामने आये उनका वध किया है।

आचार्य सायण यहाँ 'वनस्पतीन्' पद का अर्थ 'खदिरपलाशादिलक्षण वाले वृक्ष' तथा स्वामी दयानन्द 'पीपल आदि वनस्पतियों को' करते हैं^{१६}।

मा काकम्बीरमुद्बुहो वनस्पतिमशस्तीर्वि हि नीनशः।

मोत सूर्योऽह एवा चन ग्रीवा आदधते वः॥ ६,४८,१७

देवता-पूषा॥ हे पूषन्, तुम कौओं (सन्तानों) के आश्रयभूत वनस्पति को नष्ट नहीं करना। मेरे निन्दकों को पूर्णतः नष्ट कर दो। जैसे व्याध चिड़ियों को फँसाने के लिये जाल फैलाता है, वैसे शत्रु लोग, किसी तरह भी मुझे नहीं बाँध सकें।

किसी भी वट आदि वृक्ष का विनाश करना वेद विरुद्ध है, यतोहि वह विभिन्न प्रकार से उपयोगी होने के साथ साथ पक्षियों का आश्रयस्थल भी है। आचार्य सायण एवं स्वामी दयानन्द ने यहां 'वनस्पतिम्' पद का अर्थ 'वटादि वृक्ष' लिया है^{१७}।

दिविस्पृथिव्याः पर्येज उद्धृतं वनस्पतिभ्यः पर्याभृतं सहः।

अपामोज्मानं परि गोभिराभृतमिन्द्रस्य वज्रं हविषा रथं यज॥ ६,४७,२७

देवता-रथः॥ ऋत्विको, तुम हव्य से रथ का यज्ञ करो। यह रथ, स्वर्ग और पृथिवी के सारांश से बना है, वनस्पतियों के स्थिरांश से घटित है, जल के वेग की तरह वेगवान् है, यह गौओं से युक्त तथा वज्र की तरह है॥

आचार्य सायण का कथन है "वनस्पति का विकार होने से रथ का" अर्थ गृहीत होगा, क्योंकि वनस्पति पृथिवी के सारभूत हैं और वे द्युसम्बन्धी उदक से प्रवृद्ध हुए हैं, अतः रथ की दो लोकों का सार प्राप्त होगा। स्वामी दयानन्द ने 'वनस्पति' का अर्थ 'वट आदि वनस्पति' किया है^{१८}।

तन्नो रायः पर्वतास्तन्न आपस्तद्रातिषाच ओषधीस्त द्यौः।

वनस्पतिभिः पृथिवी सजोषा उभे रोदसी परि पासतो नः॥ ७,३४,२३

१५ वनस्पतिः-वटादिः-दया०॥

१६ वनस्पतिः यज्ञार्थं खदिरपलाशादिलक्षणान् वृक्षान्-सा०॥

१७ वनस्पतिं वृक्षम्-सा०॥ वनस्पतिं वटादिकम्-दया०॥

१८ वनस्पति विकारत्वादथस्य, वनस्पतयो हि पृथिव्याः सारभूताः ते च द्युसम्बन्धिभिरुदकैः प्रवृद्धाः, अतो रथस्य लोकद्वयसारत्वमुपपन्नम्-सा०॥ वनस्पतिभ्यः वटादिभ्यः-दया०॥

देवता-विश्वेदेवाः। हमारे उस धन का पालन पर्वतगण करें, सारे जल भी हमारे उस धन का पालन करें, दान-परायणा देव-पत्नियाँ भी उसका पोषण करें, ओषधियाँ, द्युलोक, वनस्पतियाँ और अन्तरिक्ष भी उसका पालन करें। छावापृथिवी हमारी रक्षा करे।

आचार्य सायण और स्वामी दयानन्द ने 'वनस्पतिभिः' पद से 'वटादिभिः' पद का ग्रहण कर व्याख्या की है^{१९}।

यदप्सु यद्वनस्पतौ यदोषधीषु पुरुदंससा कृतम्।

तेन माविष्टमश्विना॥ ८, ९, ५

देवता-अश्विनौ॥ विविधकर्मा अश्विनौ! जल, वनस्पति और ओषधियों में जो तुमने भेषज किया है, उसके द्वारा हमारी रक्षा करो॥

आचार्य सायण ने 'वनस्पति' पद का व्याख्यान 'वनानां पतिर्वनस्पतिः' किया है। पर वे इसका अर्थ 'वृक्ष' मानते हैं^{२०}।

अच्युता चिह्नो अज्मन्ना नानदति पर्वतासो वनस्पतिः।

भूमिर्यामेषु रेजते॥ ८, २०, ५

देवता-मरुतः॥ मरुतो, तुम्हारे संग्राम में जाते समय न गिरने वाले मेघ और वनस्पति आदि बार-बार शब्द करते हैं, पृथिवी काँपती है॥

आचार्य सायण 'वनस्पति' पद से 'वृक्ष' अर्थ गृहीत करते हैं^{२१}।

यथेयं पृथिवी मही दाधारेमान्वनस्पतीन्।

एवा दाधार ते मनो जीवातवे न मृत्यवेऽथो अरिष्टतातये॥ १०, ६०, ९

देवता-सुबन्धोर्जीविताह्वानाम्॥ जैसे यह विस्तीर्ण पृथिवी विशाल-विशाल वृक्षों को धारण किये हुए हैं वैसे ही अग्नि ने तुम्हारे मन को धारण कर रखा है, ताकि तुम जीवित और कल्याण-स्वरूप रहो और मृत्यु दूर हो।

आचार्य सायण और ब्रह्ममुनि 'वनस्पति' पद का अर्थ 'वृक्ष' दिखाते हैं^{२२}।

त्रिःसप्त सप्त नद्यो महीरपो वनस्पतीन् पर्वताँ अग्निमूतये।

कृशानुमस्तृन्तिष्ठं सद्यस्थ आ रुद्रं रुद्रेषु रुद्रियं हवामहे॥ १०, ६४, ८

देवता-विश्वेदेवाः॥ इक्कीस प्रकाण्ड नदियों, वनस्पतियों, पर्वतों, अग्नि, सोम-पालक कृशानु गन्धर्व, बाण-चालक गन्धर्वों, नक्षत्र, हविःपात्र रुद्र और रुद्रों में प्रधान रुद्र को, यज्ञ में रक्षा के लिये, हम बुलाते हैं॥

स्वामी ब्रह्ममुनि यहाँ 'वनस्पतीन्' का अर्थ 'ओषधिवनस्पतीन्' मानते हैं^{२३}।

ब्रह्म गामश्वं जनयन्त ओषधीर्वनस्पतीन् पर्वताँ अपः।

सूर्य दिवि रोहयन्तः सुदानव आर्या व्रता विसृजन्तो अधिक्षमि॥ १०, ६५, ११

१९ वनस्पतिभिः-सा०॥ वटादिभिः-दया०॥

२० वनस्पतौ वनानां पतिर्वनस्पतिः। वनस्पतिषु वृक्षेषु-सा०॥

२१ वनस्पतयो वृक्षाश्च-सा०

२२ वृक्षादीन्-सा०; ब्रह्म०॥

२३ वनस्पतीन् ओषधिवनस्पतीन्-ब्रह्म०॥

देवता-विश्वेदेवाः॥ देवों ने अन्न, गो, अश्व, वृक्ष, लता, पर्वत और पृथिवी को उत्पन्न किया है और आकाश में चढ़ाया है। उनका दान अतीव शोभन है उन्होंने पृथिवी पर उत्तमोत्तम कार्य किये हैं॥

आचार्य सायण 'वनस्पतीन्' पद को वनस्पति तथा ब्रह्ममुनि 'फलवृक्ष' मानते हैं^{२४}।

उलूखलमूसल हेतु प्रयुक्त-

भाष्यकारों ने कतिपय मन्त्रों का अर्थ दिखाते हुए 'वनस्पति' पद उखली और मूसल अर्थ भी माने हैं। यतोहि उखली और मूसल काष्ठ से निर्मित हुए हैं।

ता नो अद्य वनस्पती ऋक्षावृक्षेभिः सोतुभिः।

इन्द्राय मधुमत्सुतम्॥ १, २८, ८

देवता-इन्द्रयज्ञसोमाः॥ हे सुदृष्य! दर्शनीय अभिषवमन्त्र द्वारा आज तुम लोग इन्द्र के लिये मधुर सोमरस प्रस्तुत करो॥

आचार्य सायण और स्वामी दयानन्द ने 'वनस्पती' पद का अर्थ 'काष्ठ के उखली मूसल' माने हैं^{२५}।

अग्निदेव हेतु प्रयुक्त-

अव सृजा वनस्पते देव देवेभ्यो हविः।

प्र दातुरस्तु चेतनम्॥ १, १३, ११

देवता-अग्निः॥ हे देव वनस्पति! देवों को हव्य समर्पण करो। जिससे हव्यदाता को परम ज्ञान उत्पन्न हो।

आचार्य सायण ने वनस्पति का अर्थ 'अग्निदेव' माना है^{२६}।

अवसृजन्नुपत्मना देवान् यक्षि वनस्पते।

अग्निर्हव्या सुषुदति देवो देवेषु मेधिरः॥ १, १४२, ११

देवता-वनस्पतिः॥ हे अग्निरूप वनस्पति, इच्छानुसार ऋत्विकों को भेजकर स्वयं देवों का यज्ञ करो। द्युतिमान् और मेधावान् अग्नि देवों के बीच हव्य भेजें॥

आचार्य सायण वनस्पति पद को अग्नि के रूप में व्याख्यात करते हैं^{२७}।

वनस्पतिरवसृजन्नुपस्थारग्निर्हविः सूदयाति प्र धीभिः।

त्रिधा समक्तं नयतु प्रजानन्देवेभ्यो दैव्यः शमितोप हव्यम्॥ २, ३, १०

देवता-अग्निः॥ वनस्पति-रूप अग्नि हमारे कर्म जानकर हमारे पास हैं। विशेष कर्म द्वारा अग्नि भलीभाँति हव्य पकाते हैं। दिव्य, शमिता नाम के अग्नि तीन प्रकार से अच्छी तरह सिक्त हव्य को जानकर उसे देवों के निकट ले जायें॥

आचार्य सायण यूपभिमानि एतन्नामक, अग्नि अर्थ 'वनस्पति' पद का करते हैं^{२८}।

२४ वनस्पतीन् च-सा०॥ फलवृक्षान्-ब्रह्म०॥

२५ अद्य अस्मिन् कर्मणि हे वनस्पति उलूखलमूसलरूपौ तौ युवाम्-सा०॥ ता तौ मूसलोलूखलाख्यौ वनस्पतीकाष्ठमयौ-दया०॥

२६ हे वनस्पते एतन्नामकाग्ने देव-सा०॥

२७ हे वनस्पते वनानां पालक यूपभिमानिदेव अग्नि-सा०॥

मित्रं न यं सुधितं भृगवो दधुर्वनस्पतावीद्वयमूर्ध्वशोचिषम्।

स त्वं सुप्रीतो वीतहव्ये अद्भुत प्रशस्तिभिर्महयसे दिवेदिवे॥ ६, १५, २

देवता-अग्निः॥ हे अद्भुत अग्नि, तुम अरणि के मध्य में निहित स्तवा हो और उद्भवं ज्वाला वाले हो। तुम्हें लोग गृह में सखा की तरह स्थापित करते हैं। वीतहव्य प्रतिदिन उत्कृष्ट स्तोत्र द्वारा तुम्हारी पूजा करते हैं, तुम उनके प्रति प्रसन्न होओ॥

आचार्य सायण ने 'वनस्पतौ' पद से अग्नि अर्थ गृहीत किया है^{३९}।

यूपाभिमानी देव हेतु प्रयुक्त-

भाष्यकारों ने अनेकत्र मन्त्रान्तर्गत समागत 'वनस्पति' का व्याख्यान यूपाभिमानी देव दिखाया है।

मधुमात्रो वनस्पतिर्मधुमाँ अस्तु सूर्यः।

माध्वीर्गावो भवन्तु नः॥ १, १०, ८

देवता-विश्वेदेवाः॥ हमारे लिये समस्त वनस्पति मधुर हों, सूर्य मधुर हों और गायें मधुर हों॥

आचार्य सायण ने यहाँ वनस्पति पद का अर्थ "वनो का पालक यूपाभिमानी देव" माना है^{३०}।

उप त्मन्या वनस्पते पाथो देवेभ्यः सृज।

अग्निहव्यानि सिष्वदत्॥ १, १८८, १०

देवता-आग्निः॥ हे अग्निरूपवनस्पति, तुम देवों का पशु रूप उत्पन्न करो। अग्नि सब हव्यों को स्वादिष्ट करे॥

आचार्य सायण ने यहाँ 'यूपाभिमानीदेव' अर्थ दिखाया है^{३१}॥

उच्छ्रयस्व वनस्पते वर्ष्मन् पृथिव्या अधि।

सुमिती मीयमानो वर्चो धा यज्ञवाहसे॥ ३, ८, ३

देवता-विश्वेदेवाः॥ हे वनस्पति, तुम पृथिवी के उत्तम यज्ञ-प्रदेश में उन्नत होओ। तुम सुन्दर परिमाण से युक्त हो। यज्ञ-निर्वाहक को अन्न दान करो।

आचार्य सायण मन्त्रार्थ करते हुए 'वनस्पति' पद का अर्थ 'यूप' करते हैं^{३२}।

यत्र वेत्य वनस्पते देवानां गुह्या नामानि।

तत्र हव्यानि गामय॥ ५, ५, १०

देवता-आग्नीम्॥ हे वनस्पति, तुम जिस स्थान में देवों के गुप्त नाम को जानते हो, उस स्थान में हव्य प्रेरित करो॥

आचार्य सायण ने यहाँ 'वनस्पते' पद को 'यूपाभिमानीदेव' ऐसा अर्थ माना है^{३३}।

वनस्पते रशनया निव्यूया देवानां पाथ उपवक्षि विद्वान्।

२८ यूपाभिमान्येतन्नामकोऽग्निः-सा०

२९ वनस्पतौ अरण्याम्-सा०

३० वनानां पालयिता यूपाभिमानी देवः-सा०

३१ हे वनस्पते यूपाभिमानी देव!-सा०

३२ हे वनस्पते यूप-सा०

३३ वनस्पते यूपाभिमानिदेव-सा०

स्वदाति देवः कृणवद्धवीष्यवतां द्यावापृथिवी हवं मे॥ १०,७०,१०

देवता-आप्रम्॥ वनस्पति से बने यूपकाष्ठ, तुम जानकार हो। तुम रज्जु के द्वारा बाँधे जाकर देवों को अन्न दो। वनस्पति देव हवि का स्वाद लें और हमारे दिये हुए हवि को देवों को दें। मेरे आह्वान की रक्षा द्यावापृथिवी करें॥

मन्त्र में समागत 'वनस्पते' का व्याख्यान भाष्यकार ने वनस्पति का विकार यूप को माना है^{३४}।

उपावसृज त्मन्या समञ्जन् देवानां पाथ ऋतुथा हवीषि।

वनस्पतिः शमिता देवो अग्निः स्वदन्तुः हव्यं मधुना घृतेन॥ १०,११०,१०

देवता-आप्रम्॥ यूप, तुम स्वयं यथासमय, देवों के लिये अन्न और अन्यान्य होमीय द्रव्य लाकर निवेदित करो। वनस्पति, शमिता और अग्नि, मधु और घृत के साथ, होमीय द्रव्य का आस्वादन करें॥

आचार्य सायण ने यहाँ वनस्पतिः का अर्थ 'यूपः' दिखाया है^{३५}

जङ्गल का पालक अथवा श्रेष्ठतम हेतु प्रयुक्त-

त्वं च सोम नो वशो जीवातुं न मरामहे।

प्रियस्तोत्रे वनस्पतिः॥ १,९१,६

देवता-सोमः॥ स्तुति-प्रिय और सारी ओषधियों के पालक सोम, यदि तुम हमारे जीवन-पालक की अभिलाषा करो, तो हम नहीं मरेंगे॥

मन्त्र में समागत 'वनस्पतिः' पद का अर्थ स्वामी दयानन्द ने 'जङ्गल का पालक अथवा श्रेष्ठतम दिखाया है^{३६}। आचार्य सायण को भी यही पदार्थ अभीष्ट है^{३७}।

मेघ हेतु प्रयुक्त-

मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमान् अस्तु सूर्यः।

माध्वीर्गावो भवन्तु नः॥ १,९०,८

इस मन्त्र के देवता विश्वेदेवाः हैं। स्वामी दयानन्द मन्त्रार्थ करते समय 'वनस्पतिः' पद का अर्थ 'वटादिवृक्षसमूह अथवा मेघ' मानकर दिखाते हैं^{३८}

वनों के पालक हेतु प्रयुक्त-

उप त्मन्या वनस्पते पाथो देवेभ्यः सुज।

अग्निर्हव्यानि सिष्वदत्॥ १,१८८,१०

मन्त्र के देवता आप्रियः हैं। स्वामी दयानन्द ने मन्त्र में समागत 'वनस्पते' पद का अर्थ "वनों के पालने वाले" किया है^{३९}।

३४ वनस्पते वनस्पतिविकारयूपं-सा०

३५ वनस्पतिः योऽयं यूपः-सा०

३६ वनस्पतिः संभक्तस्य पदार्थसमूहस्य जङ्गलस्य वा पालकः श्रेष्ठतमो वा-दया०

३७ वनस्पतिः वनानां मध्येरक्षणीयो वटादिवृक्षसमूहो मेघो वा-दया०

३८ वनस्पतिः वनानां मध्ये रक्षणीयो वटादिवृक्षसमूहो मेघो वा-दया० Digitized by S3 Foundation USA

३९ वनस्पते वनानां पालक-दया०

यान्वो नरो देवयन्तो निमिम्युर्वनस्पते स्वधितिर्वाततक्ष।

ते देवासः स्वरवस्तस्थिवांसः प्रजावदस्मे दिधिषन्तु रत्नम्॥ ३,८,६

देवता-विश्वेदेवाः। यूपो, देवाभिलाषी और कर्मों के नायक अध्वर्यु आदि ने तुम्हें गड्ढें में फेंक दिया है। वनस्पति, कुठार ने तुम्हें काटा है। तुम दीसिमान् और काष्ठ-खण्डवाले हो। हमें अपत्य के साथ उत्तम धन दो। भाष्यकार स्वामी दयानन्द ने यहां 'वनस्पते' पद को "वनों के रक्षक पुरुष" इस अर्थ में माना है^{४०}।

अयमस्मान्वनस्पतिर्मा च हा मा च रीरिषत्।

स्वस्त्या गृहेभ्य आवसा आ विमोचनात्॥ ३,५३,२०

देवता-रथाङ्गानि॥ वनस्पतियों द्वारा निर्मित यह रथ हम लोगों को मत त्यक्त करे, मत विनष्ट करे। जब तक हम लोग गृह न प्राप्त करें, तब तक रथ चलता रहे और जब तक कि अश्व विमुक्त न हो जायँ तब तक हम लोगों का मंगल हो॥

स्वामी दयानन्द ने 'वनस्पतिः' पद का अर्थ "वन का पालन करने वाला" किया है^{४१}।

किरण समूह के पालक हेतु प्रयुक्त-

मेघन्तु ते वह्नयो येभिरीयसेऽरिषण्यन्वीळयस्वा वनस्पते।

आयूया धृष्णो अभिगूर्या त्वं नेष्ट्रात्सोमं द्रविणोदः पिब ऋतुभिः॥ २,३७,३

देवता-द्रविणोदाः॥ द्रविणोदा, तुम जिस अश्व पर जाते हो, वह तृप्त हो। वनस्पति, किसी की हिंसा न करके दृढ़ होओ। धर्षणकारी, नेष्ट्रा का यज्ञ में आकर ऋतुओं के साथ सोमपान करो॥

स्वामी दयानन्द ने मन्त्रार्थ करते समय 'वनस्पति' पद का अर्थ "किरण समूह के पालक" किया है^{४२}।

वनस्पतेव सृजोप देवानग्निर्हविः शमिता सूदयाति।

सेदु होता सत्यतरो यजाति यथा देवानां जनिमानि वेद॥ ३,४,१०

देवता-आप्रियः॥ अग्निरूप वनस्पति! तुम देवों को पास ले आओ। पशु के संस्कारक अग्नि रूप वनस्पति, देवों के लिए हव्य दें। वे ही यज्ञरूप देवता लोगों को बुलाने वाले अग्नि यज्ञ करें। क्योंकि वे ही देवों का जन्म जानते हैं॥

स्वामी दयानन्द ने यहाँ 'वनस्पति' पद को "किरणों के पालने वाले" इस अर्थ में व्याख्यात किया है, जो सूर्य का सम्बोधन है^{४३}।

मित्रं न यं सुधितं भृगवो दधुर्वनस्पतावीड्यमूर्ध्वशोचिषम्।

स त्वं सुप्रीतो वीतहव्ये अद्भुत प्रशस्तिभिर्महयसे दिवेदिवे॥ ६,१५,२

मन्त्र का देवता अग्नि है। स्वामी दयानन्द ने मन्त्र में समागत 'वनस्पति' पद को "किरणों के पालक सूर्य" इस रूप में व्याख्यात किया है^{४४}।

४० वनस्पते वनानां पालक-दया०

४१ वनस्पतिः वनस्य पालक-दया०

४२ वनस्पते वनस्य किरणसमूहस्य पालक-दया०

४३ वनस्पते किरणानां पालक-दया०

४४ वनस्पतौ वनानां किरणानां पालक सूर्य-दया०

विद्वान् के रूप में प्रयुक्त-

अञ्जन्ति त्वामध्वरे देवयन्तो वनस्पते मधुना दैव्येन।

यदूर्ध्वस्तिष्ठा द्रविणेह धत्ताद्यद्वा क्षयो मातुरस्या उपस्थे॥ ३,८,१

देवता-विश्वेदेवाः॥ हे वनस्पतिदेव! देवों के अभिलाषी अध्वर्यु लोग देव-सम्बन्धी मधु द्वारा तुम्हें सिक्त करते हैं। तुम चाहे उन्नत भाव से रहो अथवा मातृ-भूत पृथिवी की गोद में ही शयन करो, हमे धन दो॥

स्वामी दयानन्द ने 'वनस्पति' पद को "किरणों के रक्षक सूर्य के समान वर्तमान तेजस्वी विद्वान्" अर्थ करते हुए मन्त्रार्थ दर्शाया है^{४५}। इसी प्रकार ३,८,३ मन्त्र का अर्थ करते हुए "सेवने योग्य धन के रक्षक विद्वान्!" इस सम्बोधन के साथ उन्होंने अर्थ किया है^{४६}।

वनस्पतेऽव सुजोष देवानाग्निर्हविः शमिता सूदयाति।

सेदु होता सत्यतरो यजाति यथा देवानां जनिमानि वेद॥ ७,२,१०

मन्त्र का देवता आप्रियः है। यह मन्त्र ३,४,१० पर भी आया है। स्वामी दयानन्द ने यहाँ 'वनस्पति' पद को 'विद्वान्' अर्थ में दर्शाया है^{४७}।

परोपकारी सज्जन के रूप में प्रयुक्त-

वनस्पते शतवल्शो विरोह सहस्रवल्शा वि वयं रुहेम।

यं त्वामयं स्वधितिस्तेजमानः प्रणिनाय महते सौभाग्य॥ ३,८,११

देवता-विश्वेदेवाः॥ हे वनस्पते, इस धारवाले फरसे ने तुम्हें महान् सौभाग्य प्रदान किया है। तुम हजार शाखाओं वाले होकर भलीभाँति उत्पन्न होओ। हम भी हजार शाखाओं वाले होकर भलीभाँति प्रादुर्भूत हों॥

स्वामी दयानन्द ने 'वनस्पति' का व्याख्यान इस मन्त्र में करते हुए इसे 'परोपकारी सज्जन' बताया है और सम्बोधन में अर्थ किया है-हे वनस्पति के समान वर्तमान परोपकारी सज्जन^{४८}।

देव अर्थ में प्रयुक्त-

पूषा विष्णुर्हवनं मे सरस्वत्यवन्तु सप्तसिन्धवः।

आपो वातः पर्वतासो वनस्पतिः शृणोतु पृथिवी हवम्॥ ८,५४,४

देवता-इन्द्रः॥ पूषा, विष्णु सरस्वती, सप्तसिन्धु जल, वायु, पर्वत और वनस्पति मेरे यज्ञ की रक्षा करें। पृथिवी आह्वान सुने॥

आचार्य सायण यहाँ पर 'वनस्पतिः' पद का अर्थ 'देवाः' करते हैं^{४९}।

वनस्पतिं पवमान मध्वा समङ् धि धारया।

सहस्रवल्शं हरितं भ्राजमानं हिरण्ययम्॥ ९,५,१०

४५ वनस्पते वनस्य रश्मिसमूहस्य पालक सूर्यस्तद्बद्धर्तमानः-दया०

४६ वनस्पते वननीयस्य धनस्य रक्षक-दया०

४७ वनस्पते वनस्पतिरिव वर्तमान-दया०

४८ वनस्पते वनस्पतिरिव वर्तमान-दया०

४९ वनस्पतिः वनानां पातारः पालक देवाः-सायणः। Academy, Jammu. Digitized by S3 Foundation USA

देवता-आप्रियः। पवमान सोम, हरित-वर्ण हिरण्यवर्ण, दीप्तिमान् और सहस्रशाखाओं वाले वनस्पति को मधुर धारा के द्वारा संस्कृत करो॥

आचार्य सायण ने यहाँ 'वनस्पति' पद को 'देव' अर्थ में प्रयुक्त कर व्याख्यान किया है^{५०}॥

रथ रूप में प्रयुक्त-

उभे धुरौ वह्निरापिब्दमानोऽतयेनिव चरति द्विजानिः।

वनस्पतिं वन आस्थापयध्वं नि षू दधिध्वमखनन्त उत्सम्॥ १०, १०१, ११

देवता-विश्वेदेवा ऋत्विजो वा॥ रथ की दोनों धुराओं का शब्दायमान करके रथ-वाहक पशु वैसे ही विचरण करता है, जैसे दो नौकाओं पर चलनेवाला पुरुष। काठ के शकट को काठ के आधार पर रखो भलीभाँति संस्थापित करो-ताकि शकट आधार-शून्य न होने पावे॥

मन्त्र में समागत 'वनस्पतिम्' पद को वनस्पति का विकार मानकर 'शकट' अर्थात् रथ अर्थ किया गया है^{५१}। आचार्य सायण ने ३, ५३, २० तथा ६, ४७, २६-इन दोनों मन्त्रों के अर्थ करते हुए भी वनस्पति पद को 'रथ' अर्थ में माना है^{५२}।

परमात्मा अर्थ में प्रयुक्त-

स्वामी ब्रह्ममुनि ने १०, ७०, १० मन्त्र के व्याख्यान में 'वनस्पते' पद को 'वन्नीय सुखविशेष के पालक परमात्मा' का सम्बोधन माना है^{५३}

भाष्यकारों ने इस पद को छिन्नमूल स्थाणु^{५४}, वनस्पति का विकार रूप पेटिका^{५५} तथा काष्ठ से निर्मित चमस आदि^{५६} अर्थ में व्याख्यात किया है। आचार्य यास्क ने १०, ११०, १० मन्त्र के व्याख्यान में 'वनस्पति' पद को 'गार्हपत्याग्नि' के रूप में दिखाया है। वहाँ पर मन्त्र का व्याख्यान करते हुए वे लिखते हैं-

वनस्पतिः, शमिता, देवो अग्निः-इत्येते त्रयः स्वदन्तु हव्यं मधुना च घृतेन च^{५७}॥

आचार्य ने, यहाँ 'वनस्पति' पद को 'गार्हपत्याग्नि' के रूप में माना है। साथ ही गार्हपत्याग्नि, दक्षिणाग्नि और आहवनीयाग्नि-इन तीनों अग्नियों द्वारा मिष्ट और घृत के साथ हविका आस्वादन करने का उल्लेख किया है। गार्हपत्याग्नि का सम्बन्ध गृहपति से है। अतः विवाह के समय जिस अग्नि से यज्ञ किया जाता है, उसी अग्नि को गृहस्थ आश्रम-वासी निजगृह में लाकर उसे प्रदीप्त रखता है तथा उसे कथमपि शान्त नहीं होने देता। साथ ही भोजन निर्माण काल में उसी अग्नि का उपयोग करता है। अतः इस अग्नि का नाम 'गार्हपत्य' अग्नि रखा गया है। आचार्य आश्वलायन ने इसे गार्हपत्याग्नि में से अग्नि को अन्यत्र लेकर दक्षिणाग्नि के कर्म हेतु निर्देश दिया है^{५८}।

५० वनस्पतिं देवम्-सा०

५१ वनस्पतिं वनस्पतिविकारं शकटम्-सा०

५२ क-वनस्पतिः वनस्पतिनिर्मितः अयं रथः-सा० ख-हे वनस्पते वनस्पतिविकार रथ-सा०

५३ वनस्पते हे वन्नीय सुखविशेषस्य पालक! परमात्मन् त्वम्-ब्रह्म०

५४ वनस्पते छिन्नमूलस्थाणो-सा०

५५ वनस्पते वनस्पतिविकाररूपपेटिके-सा०

५६ वनस्पतीन् दारुमयांश्चमसादीन्-सा०

५७ निरु० ८, ३, (१६), १६ Sanskrit Academy, Jammun. Digitized by S3 Foundation USA

५८ आश्वलायन श्रौतसूत्र २, २१

आचार्यों का मुख्य उद्देश्य त्रिविधानि की रक्षा है, जो गृहस्थी के माध्यम से निर्दिष्ट है। किन्तु इन तीनों में से भी गार्हपत्याग्नि की रक्षा सर्वथा अनिवार्य है, उसे गृहस्थ काल में शान्त नहीं होने देना चाहिये। क्योंकि गार्हपत्याग्नि से ही आहवनीय और दक्षिणाग्नि की गति सम्भव है।

आचार्य यास्क 'वनस्पति' पद से गार्हपत्याग्नि को बताते हुए साथ ही पुनः प्रश्न करते हैं कि यह वनस्पति है कौन ? इस विषय में कात्थक्य और शाकपूणि आचार्यों का मत क्रमशः प्रस्तुत करते हैं कि यज्ञस्तम्भ और अग्नि वनस्पति है^{५९}।

हमारी दृष्टि से उपर्युक्त तीनों ही आचार्यों का कथन उपयुक्त है। वनस्पति पद के तीनों ही आचार्य एक ही अर्थ को द्योतित कर रहे हैं। यतोहि वनस्पति पद मूल रूप में अग्नि का सूचक है। गृहस्थी हेतु गार्हपत्याग्नि मुख्य है और गार्हपत्याग्नि तभी सम्भव है जब विवाहकाल की अग्नि होगी। यथा यज्ञ की रक्षा हेतु यज्ञस्तम्भ अनिवार्य है तथैव गार्हपत्याग्नि की रक्षार्थ अग्नि है। एवं यास्क, कात्थक्य और शाकपूणि आचार्यों का वनस्पति विषयक व्याख्यान उसी अग्नि को इंगित कर रहा है।

अब यहाँ ध्यातव्य है कि वनस्पति पद अग्नि का ज्ञापक होकर वर्तमान में प्रचलित तथा पूर्व में भी भाष्यकारों ने कतिपय मन्त्रों के अर्थ करने में वृक्षादि का बोधक किस प्रकार हो ? आचार्य यास्क 'द्रविणोदस्' पद के व्याख्यान में इसको व्याख्यात करते हुए कहते हैं—

वनस्पत इत्येनमाह, एष हि वनानां पाता वा, पालयिता वा। वनं वनोतेः।^{६०}

यतोहि हमने 'वनस्पति' पद से अभी आचार्यों का मत प्रस्तुत कर 'अग्नि' अर्थ भी दिखाया था। अतः अग्नि कैसे है ? सो आचार्य बता रहे हैं कि यह वनस्पति (अग्नि) शुद्धिप्रदान कर (वन) वृष्टिजल की रक्षा करता है। 'पति' पद रक्षणार्थ 'पा' अथवा 'पाल' धातु से उणादि का डति प्रत्यय करके निष्पन्न किया जा सकता है^{६१} साथ ही 'वनम्' पद निघण्टुकार ने रश्मि के पन्द्रह और जल के एक सौ नामपदों में पढ़ा है तथा निरुक्त में वना-वनानि को वधार्थक व्याख्यात किया है^{६२}।

इस प्रकार हम देखते हैं कि लौकिक संस्कृत के कोषकारों ने जहाँ इस 'वनस्पति' पद को मात्र एक बड़ा जंगली वृक्ष विशेषकर वह जिसे बिना बौर आये फल लगता है^{६३}—ऐसा माना है वहीं यह पद ऋग्वेद में चवालिस स्थलों पर वनस्पतिः, वनस्पतिभिः, वनस्पतिभ्यः, वनस्पतिम्, वनस्पती, वनस्पतीन् वनस्पतीनाम्, वनस्पते, वनस्पतौ—इन रूपों में विभिन्न स्वरों के साथ प्रयुक्त हुआ है और भाष्यकारों ने इसको वृक्षादि के रूप में, उलूखल-मूसल के रूप में, अग्निदेव के रूप में, यूपभिमानि देव के रूप में, जङ्गल का पालक अथवा श्रेष्ठतम के रूप में, मेघ के रूप में, वनों के पालक के रूप में, किरण समूह के पालक सूर्य के रूप में, विद्वान् के रूप में, परोपकारी सज्जन के रूप में, देव के रूप में, रथ के रूप में, परमात्मा के रूप में, छिन्नमूल स्थाणु, विकार रूप पेटिका, काष्ठ से निर्मित चमस आदि के रूप में और गार्हपत्याग्नि के रूप में दर्शाया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'वनस्पति' पद के वैदिकसाहित्य में भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयोग हुए हैं। किन्तु वर्तमान में लोक में यह पद चिकित्सा हेतु प्राप्त वनस्पतियों के लिये ही रूढ़ हो गया है। अतः उसी दृष्टिकोण से

५९ तत्को वनस्पतिः ? यूप इति कात्थक्यः, अग्निरिति शाकपूणिः—निरु० दै०का०, अ०, ३पा०, १६खं० १५श०॥

६० निरु० दै० का० ८, अ० १पा०, २खं०, ४श०

६१ उणादिकोषः—४, ५७

६२ निघण्टु १, ५; १, १२; निरु० वनानीति वा, वधेनेति वा ५अ०, ३पा०, १६खा०, ५८श०

CC-0. JK Sanskrit Academy, Jammu. Digitized by S3 Foundation USA

६३ पारिजात-कोशः—ईश्वरचन्द्र शर्मा पृ० ८१६

विद्वान् वनस्पति का अर्थ अपुष्पफलवान् वृक्ष करते हैं। स्वामी दयानन्द ने यजुर्वेद २१, २१ पर इसे ओषधियों का राजा वृक्ष, माना और शतपथकार ने कहा कि यदि ये वनस्पतियाँ न हों तो मनुष्य यज्ञ नहीं कर पायेंगे-

वनस्पतयो हि यज्ञिया न हि मनुष्या यजेरन् यद्वनस्पतयो न स्युः॥३,२,२,९

वस्तुतः वनस्पति का प्राणियों के साथ अविभाज्य एवं नित्य सम्बन्ध है। इसके बिना प्राणियों का अस्तित्व ही असम्भव है। विद्वानों ने जो इसका अर्थ अग्नि, प्राण, पालक, मेघ, सूर्य, विद्वान्, देव, परोपकारी पुरुष, परमात्मा तथा अपुष्प फलवान् वृक्ष आदि अर्थ किये हैं वे समुचित ही हैं॥

वैदिक संहिताओं में विज्ञान जड़-चेतन के परिप्रेक्ष्य में

डॉ० अनिता सेनगुप्ता^१

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्। विज्ञानाद् एव खलु इमानि भूतानि जायन्ते। विज्ञानेन जातानि जीवन्ते।^२ आदि वैदिक वाक्य प्राचीन वैज्ञानिक दृष्टिकोण को प्रदर्शित करता है। वेद तो समस्त ज्ञानों का स्रोत है-सर्वज्ञानमयो हि सः^३। सांख्य-योग, न्याय-वैशेषिक, वेदान्त-मीमांसादि जो वेदों के उपाय कहलाते हैं, उनमें अष्टादश-पुराण, शिक्षाकल्प, व्याकरण, छन्द, निरुक्त ज्योतिषादि वेदाङ्ग एवं स्मृतिग्रन्थों में भी प्रचुर रूप में विज्ञान के सूत्र उपलब्ध होते हैं। अतः याज्ञवल्क्य ऋषि का यह वचन अक्षरशः सत्य प्रतीत होता है-

न वेदशास्त्रादन्यतः किञ्चिच्छास्त्रं तु विद्यते।

निःसृतं सर्वशास्त्रं तु वेदशास्त्रात् सनातनात्॥^४

वेद के मुख्य विषय चार हैं- विज्ञान, कर्म, उपासना तथा ज्ञान। इनमें से पहला 'विज्ञान' का विषय सबसे मुख्य है, क्योंकि उसमें परमेश्वर से लेकर सूक्ष्म कण तक के पदार्थों का ज्ञान प्राप्त होता है। श्री निरञ्जन लाल शर्मा के अनुसार प्राचीन भारतीय विज्ञान के क्षेत्र में बहुत आगे थे।^५ भौतिकी के आचार्य डॉ० मनोहर लाल गुप्त के अनुसार वेदों में सृष्टि के गूढ़ से गूढ़ रहस्यों का वर्णन है। अनेक ऐसे सत्य हैं, जिनके विषय में आधुनिक विज्ञान अनिश्चित है अथवा उन्हें जानने के लिए आज भी प्रयासरत है।^६ बड़े-बड़े वैज्ञानिकों ने कठोर परिश्रम करके वर्षों के परिश्रम के फलस्वरूप जो सिद्धान्त स्थिर किए, उन्हें आगे आने वाले वैज्ञानिकों ने बदल डाला, किन्तु वेद के किसी सिद्धान्त को अन्यथा नहीं किया जा सका, क्योंकि वे साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों द्वारा निर्धारित थे।

श्रुतियों में एकमात्र परमतत्त्व को ही चेतन कहा गया है, जबकि शेष सभी सांसारिक पदार्थ जड़ है। वेदान्त दर्शन पर शङ्कराचार्यकृत संक्षेप शारीरक भाष्य का आरम्भ इन्हीं तथ्यों से हुआ है, जो मिथ्या एवं जड़ से विलक्षण, देश-काल-वस्तुपरिच्छेदशून्य, रागादि मल, धर्मादि बन्धन तथा दुःख से सर्वथा विलक्षण है, अत्यन्त निकटवर्ती, जन्मादि षड्विकाररहित अर्थात् अस्ति, जायते, वर्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते, विनश्यति इन षड्विकारों से रहित है, अतः अविक्रिय है वही ब्रह्म है, चेतन तत्त्व है।^७ उस आत्मा से अतिरिक्त सब कुछ जड़ है। इसी कारण से आकाश भी जड़ है, वायु, तेज, जल, पृथिवी एवं उनके विकार भी जड़ हैं, क्योंकि तैत्तिरीयोपनिषद् में आत्मा से ही जड़ पञ्चभूतों की उत्पत्ति बतायी गयी है।^८

१ एसोसिएट प्रोफेसर संस्कृत, ईश्वर शरण डिग्री कालेज, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

२ तैत्तिरीयोपनिषद् ३/५

३ मनुस्मृति २/७

४ याज्ञवल्क्यस्मृति

५ भौतिक भू-विज्ञान- डॉ० निरञ्जन लाल शर्मा, सरोज प्रकाशन, इला० भूमिका में द्रष्टव्य।

६ भारतीय संस्कृति - मनोहर लाल गुप्त, पृ० ६५

७ वेदान्त दर्शन पर संक्षेप शारीरक भाष्य शङ्कराचार्य कृत-मंगलाचरण

८ एतस्माद्वा आत्मनः आकाशः सम्भूतः, आकाशाद् वायुः, वायोरग्नि-अग्नेराप अद्भ्यः पृथिवी।

इस विषय पर गहन चर्चा करने से पहले हमें ब्रह्माण्ड के अतीत में झाँकना पड़ेगा। ऋग्वेद का नासदीय सूक्त^९ कहता है कि आरंभ में ब्रह्माण्ड में न सत् था, न असत्, न रजस् (पृथिवी) था न व्योम (द्युलोक और अन्तरिक्षलोक), न वहाँ मृत्यु थी और न ही अमृतत्व था। कुछ एक था, जो अपनी स्वधा (शक्ति) से श्वास लेता था। चारों ओर अन्धकार था। अप्रकेत सलिल द्वारा सब व्याप्त था। वहाँ अपनी महत्ता के परिणामस्वरूप एक तपस् से उत्पन्न हुआ और फिर सृष्टि के लिए इच्छा (काम) उत्पन्न हुई। कोई नहीं जानता था कि यह सृष्टि किसने कब और क्यों बनाई? यह सृष्टि कहाँ से बनी क्योंकि देवता भी तो बाद में ही उत्पन्न हुए थे।

सातवलेकर मंत्र की व्याख्या में देवता की 'परमाणु' रूप अर्थ स्वीकार करते हैं।^{१०} यह विज्ञान आधुनिक विज्ञान से साम्य रखता है। सातवलेकर की व्याख्या के अनुसार परमाणुओं की उत्पत्ति भी बाद में हुई उनको उत्पन्न करने वाला ईश्वर ही है। वही चेतन तत्त्व है।

उस स्वप्रकाश आनन्दमय आत्मा को सूर्य, चन्द्र, तारागण, विद्युतादि कोई भी प्रकाशित नहीं करता, अपितु निखिल जगत् आत्मा की दीप्ति से प्रकाशित होते हैं, अतः आत्मा निखिल ब्रह्माण्ड का प्रकाशक होने के कारण चेतन है और ये ब्रह्माण्ड प्रकाश्य होने के कारण जड़ है।^{११}

जड़ की उत्पत्ति के विषय में आधुनिक विज्ञान की ये मान्यता है कि जड़ पदार्थ छोटे-छोटे कणों से मिलकर बने होते हैं। ये छोटे कण सर्वदा दिखाई नहीं पड़ते, इन्हें अनुभव किया जा सकता है। जैसे- एक धूपबत्ती जलाई, कुछ क्षण उसकी सुगन्ध से चारों दिशाएं आमोदित रहें। उस धूपबत्ती से अत्यन्त सूक्ष्म कण जो दृष्टिगोचर नहीं हो रहे हैं, बाहर निकलकर वायु में बिखरकर मिल रहे हैं, जिनकी संख्या गणनातीत है, जबकि धूपबत्ती एक नपी तुलसी छोटी सी वस्तु है। इसी प्रकार जल देखने में तो एक ही वस्तु है, किन्तु वाष्प, कुहरा, मेघादि देखने पर पता चलता है कि जल भी लाखों कणों की समष्टि है। वायु दिखता तो नहीं परन्तु उसके भी निर्माण की प्रक्रिया भी ऐसी ही है। इन अणुओं के मध्य में आकाश, अवकाश या ईथर है। लार्ड केल्विन अणुओं को ईथर की छोटी-छोटी कुण्डली समझते थे। यदि ईथर एक ही अवस्था में हो तो विशिष्ट जड़ द्रव्य की उत्पत्ति न होती। विविध प्रकार से विकार-विषमताएं होने पर ही ईथर से जड़ पदार्थ उत्पन्न हुआ।^{१२} सांख्य भी यह प्रतिपादित करती है कि प्रकृति के त्रिविध गुणों (सत्त्व, रजस् और तमस्) में विषमता होने पर ही सृष्टि की उत्पत्ति होती है।

सांख्य दर्शन में दो तत्त्वों की चर्चा की गई है- जड़ प्रकृति और चेतन पुरुष। सम्पूर्ण जड़ जगत् इसी जड़ प्रकृति का परिणाम-सत् कार्य है। यह प्रकृति 'अजा' अर्थात् अनादि और अनन्त अर्थात् अविनाशिनी है। इसमें सत्त्व, रजस् तथा तमस् तीन गुण हैं, इसीलिए यह त्रिगुण कहलाती है।^{१३} प्रकृति के ये तीनों ही गुण नित्य-परिणामी

९ क नासदासीन्नो सदासीत् तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परोयत्। किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद्बहनं गभीरम्॥ न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्रया अहं आसीत् प्रकेतः। आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्भान्यत्र परः किं चनास॥ तम आसीत् तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्। सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीप्या कवयो मनीषा॥ ऋ० १०.१२९.१-४ को अद्वा वेद क इह प्रवोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः। अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाऽथा को वेद यत आवभूव॥ - वही १०.१२९.६ ख द्र०-सातवलेकर ऋ० १०.१२९.६। वह देवता से अभिप्राय लेते हैं- विद्वान् दूरदर्शी, परमाणु।

१० ऋ १०.१२९.६

११ न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकम्। नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥ कठोपनिषद् २/२१

१२ The Turning Point Magazine, P. ९५ Digitized by S3 Foundation USA

१३ त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि। व्यक्तं, तथ प्रधानं, तद्विपरीतस्था च पुमान्। - सांख्य कारिका-११

हैं अर्थात् कभी परिणाम से वियुक्त नहीं होते, यहाँ तक कि प्रलयकाल में भी परिणाम होता रहता है।^{१४} प्रलयकाल में प्रकृति के स्वरूपभूत तीनों गुणों का साम्य नष्ट नहीं होता, जिससे विभिन्न कार्यों की सृष्टि हो सके, किन्तु सृष्टिकाल में गुणों में क्षोभ उत्पन्न होता है, जिसके फलस्वरूप उनके साम्य या संतुलन के नष्ट होने से तथा विविध अंशों के परस्पर संहत होने पर महत् अहंकार, तन्मात्र इन्द्रियाँ, पंचमहाभूत और यह सम्पूर्ण त्रिगुणात्मक जगत् सभी क्रमशः उत्पन्न होते हैं।^{१५}

यहाँ एक स्वाभाविक प्रश्न उपस्थित होता है कि जो गुण प्रलयकाल में सद्गुण या एकविध परिणाम उत्पन्न करते हैं वे ही सृष्टिकाल में विषम या विविध प्रपञ्च कैसे उत्पन्न करने लगते हैं? इसका उत्तर भी १६वीं कारिका की द्वितीय पंक्ति में कारिकाकार ने दिया है- जैसे मेघ का जल एक रस होने पर भी पृथिवी के नाना विकारों को प्राप्त करके नारियल, ताड़, करेले, बेल, तिन्दुक (इमली), आँवला, कैथ इत्यादि का रस बन जाने पर खट्टे-मीठे, नमकीन, तिक्त, कषैले तथा कड़वे आदि अनेक प्रकारों का हो जाता है, उसी प्रकार प्रत्येक काल में एक ही गुण का आविर्भाव होने से प्राधान्य प्राप्त उस गुण का आश्रय लेकर अप्रधान गुण अनेक परिणाम उत्पन्न करते हैं।^{१६}

जड़ एवं चेतन का स्वरूप

शतपथ ब्राह्मण में आत्मा को वाङ्मय, मनोमय एवं प्राणमय कहा गया है।^{१७} श्रुतियों में यही त्रिपुटी जड़ तत्त्व के रूप में निर्दिष्ट है। इन तीनों के विविधता के मध्य जो एकता है, उसे आत्मा शब्द द्वारा निर्दिष्ट किया गया है।^{१८}

छान्दोग्योपनिषद् के षष्ठाध्याय में आरुणि अपने पुत्र श्वेतकेतु से कहते हैं- मनो अन्नमयः, प्राणो आपोमयः, वाक् तेजोमयी च।^{१९} पिता आरुणि त्रिवृत्करण समझाते हुए श्वेतकेतु से कहते हैं- अन्न खाए जाने पर उसका सूक्ष्मतम अंश मन बनता है, उसी प्रकार जल पिए जाने पर उसका सूक्ष्मतम अंश प्राण बनता है, पुनः उसी प्रकार 'तेजस्' भीतर लिए जाने पर उसका सूक्ष्मतम अंश वाक् बनता है। श्वेतकेतु सुनकर यह नहीं समझ पाए कि किस प्रकार मन अन्नमय है, प्राण आपोमय है और वाक् तेजोमय है। पिता ने कितने ही दृष्टान्त व उपमा दिखाए - ये सौम्य, दही मथे जाने पर उसकी अणिमा (नवनीत कण) जैसे घृत होकर ऊपर उठ आती है, उसी प्रकार खाए गए अन्न का सूक्ष्मांश मन होकर ऊपर उठता है, किन्तु फिर भी श्वेतकेतु के मन का संशय दूर नहीं हुआ। उसने

१४ द्रष्टव्य सांख्यकारिका ११ के 'प्रसवधर्मित्व' पद की तत्त्वकौमुदी व्याख्या- 'प्रसवरूपो धर्मो यः, सोऽस्यास्तीति प्रसवधर्मि। प्रसवधर्मेति वक्तव्ये मत्वर्थीयः प्रसवधर्मस्य नित्ययोगमाख्यातम्। सरूपविरूपपरिणामाभ्यां न कदाचिदपि वियुज्यत इत्यर्थः॥

१५ द्रष्टव्य सांख्य कारिका १६ के प्रवर्तते त्रिगुणतः पदों की तत्त्वकौमुदी- प्रतिसर्गावस्थायां सत्त्वं रजस्तमश्च सद्गुणपरिणामानि भवन्ति। परिणाम- स्वभावा हि गुणा नापरिणम्य क्षणमप्यवतिष्ठन्ते। तस्मात् सत्त्वं सत्त्वरूपतया रजो रजोरूपतया तमस्तोरूपतया प्रतिसर्गावस्थायामपि प्रवर्तते।

१६ यथा हि वारिदविमुक्तमुदकमेकरसमपि तत्तद्भूविकारानासाद्य नारिकेलमतालतालीवित्वचिरवित्वन्दुकामलक प्राचीनामलककपित्थ फलरसतया परिणमन्मधुराम्ललवणतिक्तकषायकटुतया विकल्पते, एवमेकैकगुणसमुद्भवात् प्रधानं गुणमाश्रित्य अप्रधानगुणाः परिणामभेदात् प्रवर्तयन्ति- संख्याकारिका १६ की तत्त्वकौमुदी।

१७ अयमात्मा वाङ्मयो मनोमयः प्राणमयः-शतपथ ब्राह्मण १४/४/३/१०

१८ अत्र ह्येते सर्व एका भवन्ति तदेतत् पदनीयं सर्वस्य यदायमात्मा- शतपथ ब्राह्मण १४/४/२/१८

१९ छान्दोग्योपनिषद् का षष्ठाध्याय

पुनः कहा- भूय एव मा भगवान् विज्ञापयतु, तब पिता ने उसे साक्षात् परीक्षा में लगा दिया। कहा- पुरुष षोडशकल है चन्द्रमा के समान। तुम पन्द्रह दिन तक कुछ मत खाना, यथेच्छ जल अवश्य पीते रहना। श्वेतकेतु भोजन न करते हुए पन्द्रह दिन पड़ा रहा। १६वें दिन पिता के समीप आया तब पिता ने उसे वेद-विषयक प्रश्न पूछा। तब पुत्र ने उत्तर दिया-मेरी स्मृति में कुछ भी नहीं आ रहा है, कुछ भी प्रतिभात नहीं हो रहा है। तब पिता ने कहा- चन्द्रमा की कलाएं हैं। कृष्णपक्ष में प्रति रात्रि क्रमशः क्षीण होती हैं, अन्त में एक ही कला अवशिष्ट रहती है, वैसे ही उपवास से तुम्हारा मन क्षीण होकर केवल एक कला पर जाकर रुक गया, उस एक कला से कुछ भी स्फूर्त नहीं हो रहा है। अग्नि का, जब जुगनू जैसा एकमात्र अंश अवशिष्ट रहता है, तब उसमें दाहिका शक्ति का प्रकाश भी क्षीण रहता है, पुनः तृण, काष्ठादि एकत्रित कर उसी अङ्गार की दाहिका शक्ति को जगा लें तो सभी कुछ भस्म हो सकता है। तुम भी पुनः आहार करके मन की कलाओं को पुष्ट कर लो, पुनः वेदविद्या तुम्हें प्रतिभात हो जाएगी। तब श्वेतकेतु अनवय-व्यतिरेक से अन्न व मन के संपर्क को समझने में समर्थ हुआ। इसी प्रकार प्राणों का पोषक जल है, जल न हो तो प्राणों को स्फूर्ति नहीं होती और वाक् चिदात्मा की चित् शक्ति है, विश्व चेतना की अभिव्यक्ति है। वाक् बिना चेतना संभव ही नहीं- मनसैव वाग्भृता^{२०}।

जड़पदार्थ गतिशील

वैदिक विज्ञान जड़ पदार्थ को गतिशील मानता है। उसके गतिमत्त्व में वेद का प्रमाण है- स वा एष आत्मा प्राणमयः। प्राण का अर्थ है- क्रियाशक्ति। अतः कोई भी पदार्थ क्षणमात्र भी क्रिया या गतिरहित नहीं है।

आधुनिक विज्ञान की भी यही अवधारणा है कि पदार्थ निष्क्रिय तथा उदासीन नहीं है, अपितु निरन्तर कम्पमान गति की स्थिति में है- Matter not at all as passive and inert but as being in a continuous dancing and vibrating motion whose rhythmic patterns are determined by the molecular, atomic and nuclear configuration.^{२१}

श्रुति के अनुसार वाक्, प्राण तथा मन से सृष्टि की उत्पत्ति होने के कारण ये तीनों एक-दूसरे में ओत-प्रोत हैं। शतपथ ब्राह्मण में इस त्रिपुटी का व्याख्यान विस्तार से हुआ है- त्रयो लोका एत एव। वागेवायं लोको, मनोऽन्तरिक्षलोकः, प्राणोऽसौ लोकः। त्रयो वेदाऽतएव वाक् एव ऋग्वेदो, मनो यजुर्वेदः प्राणः सामवेदः।^{२२} तैत्तिरीय ब्राह्मण में ऋक् से मूर्तिरूप पिण्ड की उत्पत्ति बताई गई, जो ऋक् की वाक् रूपता को सिद्ध करता है क्योंकि वाक् से समस्त मूर्ति तथा पिण्ड बनते हैं। यजुर्वेद को गति या क्रिया का मूल कारण कहा गया है, जो यजुः की प्राणरूपता को प्रतिपादित करती है, संपूर्ण क्रियाओं का मूल कारण 'प्राण' ही है-

ऋभ्यो जातां सर्वशो मूर्तिमाहुः। सर्वागतिर्यजुषी हैव शश्वत्॥

सर्व तेजः सामरूपं हि शश्वत्तमम्। सर्वहीदं ब्राह्मणा है व सृष्टम्॥^{२३}

प्रस्तुत ऋचा में 'तेज' को सामवेद कहा गया है। यहाँ पर 'तेज' से रूप विवक्षित है। क्योंकि रूप ही तेज का मुख्य गुण है- चक्षुर्मात्रग्राहो गुणो रूपम्। तत्त्व पृथिवी, जल, तेजोवृत्तिः।^{२४} इस रूप का विस्तार मनस्तत्त्व के कारण होता है, अतः सामवेद से मन का ग्रहण होता है।

२० कपिष्ठल कठ संहिता ३७१४

२१ Turning Point Page-८८

२२ शतपथ ब्राह्मण १४/४/३/११-१४

CC-0. JK Sanskrit Academy, Jammu. Digitized by S3 Foundation USA

२३ तैत्तिरीयब्राह्मण-२/१२

जड़ पदार्थों में भी चेतनता

उपनिषदों में मूल तत्त्व आत्मा से सर्वप्रथम मन का प्रादुर्भाव बताया गया- तन्मनोऽकुर्वन् (बृहदारण्यकोपनिषद्)। ऋक् संहिता के नासदीय सूक्त में भी सर्वप्रथम मन तथा उसके इच्छावृत्ति का उद्भव बताया गया है- कामस्तदग्रे सवमवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं तदासीत्। तैत्तरीयोपनिषद् में अव्यय पुरुष की कलाओं का निरूपण हुआ है-आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण तथा वाक्। इसमें शक्ति के द्वारा परिच्छिन्न होने पर सर्वप्रथम मन का प्रादुर्भाव बताया गया। इससे यह प्रमाणित होता है कि सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ में मनस्तत्त्व अर्थात् चेतनता है। वेद एवं पुराणों में ऐसे अनेक मंत्र बताए हैं वृहद जिनसे स्पष्ट होता है कि मन तथा प्राण का अन्योऽन्य सम्बन्ध है-

मन इव सर्वमेकं भूत्वा प्राणे प्रतिष्ठितम्।^{२५} मनसा हि प्राणो धृतः॥^{२६} मनसैव प्राणमाप्नोति।^{२७}

श्रुतियों में तो पाषाण में भी चेतनता मानी गई है। इसीलिए वैदिक ऋषि पाषाणों को सम्बोधित करते हैं- शृणोतु ग्रावाणः^{२८} वैदिक मान्यतानुसार पाषाण में वाक् तथा प्राण अर्थात् Matter और Energy दोनों उपस्थित हैं, किन्तु इसके साथ ही मन अर्थात् Mind भी है, भले ही व्यक्त न हो।

आधुनिक विज्ञान भी वाक् तथा प्राण से आगे मनस्तत्त्व को स्वीकार करते हैं। भौतिकशास्त्री हाइजनबर्ग पदार्थ तथा मन का सम्बन्ध स्थापित करते हुए यह तर्क करते हैं कि चेतना विश्व का अपरिहार्य पक्ष है, अचेतन प्रकृति के स्वभाव को समझना अत्यन्त असंभव है-

Physicist argue that consciousness may be an essential aspect of the universe and that we may be blocked from further understanding of natural Phenomena if we insist on excluding it.^{२९}

ईशावास्योपनिषद् चेतन तत्त्व को कम्पनरहित (अविचलित), अकेला (अद्वितीय), मन से भी वेगवान्, पहले से वर्तमान तथा सर्वज्ञ मानता है। वह स्थिर रहते हुए भी दूसरे दौड़ने वालों का अतिक्रमण कर देता है। उसके होने पर ही वायु आदि जल वर्षणादि क्रियाओं को धारण करते हैं।^{३०} कठ श्रुति भी कहती है-

आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः।

कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति।^{३१}

इस प्रकार के विरोधाभास यदि आत्मतत्त्व में हो तो आश्चर्य का विषय नहीं है। इलेक्ट्रान का आविष्कार होने पर वैज्ञानिक कठिनाई में पड़ गए कि उसे कण कहें या तरङ्ग, क्योंकि वह एक साथ ही करण अर्थात् स्थिर तथा तरङ्ग अर्थात् प्रवहमान का सा व्यवहार करता है। उस स्थिति में वैज्ञानिक इलेक्ट्रान में एक साथ दोनों गुण

२४ तर्कभाषा गुणप्रकरण

२५ जैमिनीय ब्राह्मण ३/३७

२६ कपिष्ठल कठसंहिता ४२/१

२७ मैत्रायणी संहिता ४/५/५

२८ तैत्तरीय संहिता १/३/१३/१

२९ Turnig Point, P. ९७

३० ईशोपनिषद्-मंत्र ४

३१ कठोपनिषद् २/२१

कण और तरङ्ग स्वीकार करने को बाध्य हुए। इस द्विरूप इलेक्ट्रान को नया नाम दिया-क्वांटा। क्वांटा की खोज ने यह सिद्ध कर दिया कि दो विपरीत लक्षण एक साथ एक तत्त्व में घटित हो सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आधुनिक पाश्चात्य विज्ञान ने बहिर्मुख पर्यवेक्षण परीक्षा-निरीक्षा के द्वारा जिन सब तत्त्वों का आविष्कार किया है, प्राचीन प्राच्य विज्ञान ने अन्तर्मुख साधना में समीक्षा-अन्वीक्षा का अवलम्बन लेकर उस एक ही तत्त्व की और भी गहरे अन्तस्तल में उपलब्धि की थी। विज्ञान के क्षेत्र में तत्कालीन भारतीयों की उपलब्धियों की वस्तुपरक जानकारी का प्रचार न केवल हमारे राष्ट्रीय गौरव का विषय है अपितु हमारे समाज में वैज्ञानिक संस्कृति को समाहित करने का प्रेरणास्रोत भी है।

अथर्ववेदीय नारी का स्वरूप

डॉ० नरेश कुमार^१

गृहस्थाश्रम में नारी का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। वह पुरुष की सहयोगी, सहायक एवं सहधर्मिणी है। जिस प्रकार रथ की गति में दोनों चक्र समान रूप से अपना महत्त्व एवं उपयोगिता रखते हैं उसी प्रकार स्त्री और पुरुष गृहस्थाश्रम रूपी रथ के दो चक्र माने गये हैं। जिस प्रकार किसी एक चक्र के बिना रथ की गति असम्भव है उसी प्रकार गृहस्थ जीवन में स्त्री और पुरुष दोनों का समानरूप से महत्त्व है। नर-नारी का सम्बन्ध शाश्वत है। किसी एक के बिना सृष्टि का विकास असम्भव है। मनुस्मृति में यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता कह कर नारी को पूजनीय एवं सम्माननीय माना है।^२ दुहिता, पत्नी, बहन, माता इत्यादि रूपों में वह सर्वथा सम्माननीय रही है। याज्ञवल्क्य और मनु ने स्त्रियों को अत्यधिक सम्मान प्रदान किया है। उनके अनुसार गुरु, आचार्य, उपाध्याय और ऋत्विज् क्रमानुसार पूजनीय होते हैं, किन्तु माता इन सबसे अधिक पूजनीय होती है।^३ तैत्तिरीय ब्राह्मण में नारी की महत्ता को उद्धाटित करते हुए कहा गया है कि अपत्नीक व्यक्ति यज्ञादि धार्मिक अनुष्ठानों का अधिकारी नहीं है। यज्ञादि धार्मिक कृत्य सहधर्मिणी के सानिध्य में सम्पन्न एवं सफल होते हैं।^४ ऋग्वेद तथा यजुर्वेद में स्त्री के लिये जिन विशेषणों का प्रयोग किया गया है, उनसे नारी के गुणों का बोध होता है। इसमें स्त्री को अषाढा (अज्ञेय), सहमाना (जीतनेवाली), सहस्रवीर्या (असंख्य पराक्रम वाली), असपत्ना (शत्रुरहित), सपत्नघ्नी (शत्रुओं को नष्ट करने वाली), जयन्ती (विजेता), अभिभूवरी (सबको तिरस्कृत करने वाली) आदि कहा गया है।^५ अथर्ववेद में इन्द्राणी का अज्ञेय सेनानी के रूप में वर्णन प्राप्य है।^६ अथर्ववेद के विवाह प्रकरण के एक मन्त्र में नारी के महत्त्व को प्रतिपादित कहा है कि वह सास, श्वसुर, ननद तथा देवों की सम्राज्ञी अर्थात् स्वामिनी है। यथा-सम्राज्यैधि श्वशुरेषु सम्राज्युत देवेषु। ननान्दुः सम्राज्यैधि सम्राज्युत श्वश्र्वा॥^७ अथर्ववेद में नारी के लिए कहा गया है कि वह स्वयं को अबला न समझकर सबला समझे।^८ इन्द्राणी के प्रसङ्ग में

१ प्रोजेक्ट फैलो, वेद विभाग, गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार उत्तराखण्ड।

२ मनु०-३.५६

३ याज्ञ०स्मृ०१.३४, ३५

उपाध्यायान्दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता। सहसं तु पितृन् माता गौरवेणातिरिच्य॥ मनु०-२.१४५

४ अयज्ञो वा ह्येष योऽपत्नीकः-तै०ब्रा०२.२.२६

५ अषाढासि सहमाना सहस्वराति सहस्व पतनायुतः। सहस्रवीर्यासि सा मां जिन्वा॥ यजु०१३.२६ असपत्ना सपत्नघ्नी जयन्त्यभिभूवरी। आवृक्षमन्यासां वर्चो राधो अस्थैयसामिव॥ ऋग्०१०.१५९.५

६ प्रेतं पादौ प्रस्फुरतं वहतं पृणतो गृहान्। इन्द्राण्यै तु प्रथमाजीतामुषिता पु०॥ अथर्व०१.२७.४

७ अथर्व०१४.१.४४

८ अवीरामिव मामयं शरारुभि मन्यते। उताहमस्मि वीरिणीन्द्रपत्नी मुरुत्सखा विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥ अथर्व०-२०.१२६.९

स्त्री के गुण बताते हुए कहा गया है कि वह सौभाग्यवती, सुख देने वाली, सरस, सुन्दर और कठिन परिश्रमी हो।^{१०} वह स्वयं संयमी होते हुए विविध शास्त्रार्थों में भाग ले।^{१०}

अथर्ववेद का चौदहवाँ काण्ड गृहस्थ जीवन के सम्बन्ध में पर्याप्त प्रकाश डालता है। वहाँ नारी को पतिगृह की सम्राज्ञी बनने का उसी प्रकार उल्लेख मिलता है जैसे बलवान् समुद्र नदियों पर साम्राज्य करता है।^{११} अथर्ववेद के अनुसार नारियाँ बाह्याभ्यन्तर से शुद्ध तथा यज्ञिय हैं।^{१२} ये शुभ गुणों की खान^{१३} तथा सब पुरुषों, पशुओं एवं समस्त क्षेत्र के लिये कल्याणकारिणी हैं।^{१४} अग्निस्वरूप परमात्मा ने आयु तथा तेज के साथ पत्नी (नारी) उत्पन्न किया है।^{१५} श्वसुर, पति, गृह तथा सम्पूर्ण प्रजा के लिए सुखकर होने के कारण ही उसे इन सबके पोषक होने का आशीर्वाद भी दिया गया है।^{१६} अथर्ववेदीय नारी को सम्मानजनक स्थान प्राप्त था। अथर्ववेद में नारी के विभिन्न रूपों का वर्णन प्राप्त होता है। यथा-

१. कन्या के रूप में नारी का वर्णन-

अथर्ववेदवर्णित कन्या को असाधारण एवं अद्भुत शक्तिसम्पन्न माना गया है। उसे यश^{१७} तथा वर्चस्^{१८} से युक्त होने के साथ-साथ कुल की रक्षिका बतलाया गया है।^{१९} वधु के रूप में कन्या का स्वागत करते हुए कहा गया है-एषा तै राजन् कन्या वधूर्नि धूयतां यम। सा मातुर्बध्यतामं गृहेऽथो भ्रातुरथो पितुः॥^{२०} आजकल मुख्य अवसरों पर जिस प्रकार कन्याभोज का प्रचलन है, वह कन्याओं के प्रति परम्परा से चले आ रहे सत्कार का प्रतीक है। वर्तमानकालिक पुरुष प्रधान समाज की तरह अथर्ववेद में भी पुत्री की अपेक्षा पुत्र को श्रेष्ठ माना गया है, क्योंकि उससे सम्बन्धित जिस संस्कार का शुभारम्भ हुआ; पुंसवन संस्कार के नाम से अभिहित किया गया है। यथा-

१ न मत्स्त्री सुभुसत्तु न सुयाशुतरा भुवत्। न मत् प्रतिच्यवीयसी न सक्थ्युद्यमीयसी विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः।
अथर्व०-१२६.६

१० भास्त्वेतो नैयतु हस्तगृह्याक्षिना त्वा प्र वहतां रथेन। गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथासौ वशिनी त्वं विदधमा वंदसि॥
अथर्व०-१४.१.२०

११ यथा सिन्धुर्नदीनां साम्राज्यं सुषुवे वर्षा। एवा त्वं सम्राज्येधि पत्युरस्तं पुरेत्य॥ अथर्व०-१४.१.४३

१२ शुद्धाः पूता योषितो यज्ञिया इमा आपश्चरुमव सर्पन्तु शुभ्राः। अर्दुः प्रजां बहुलान् पशून् नः पक्तौदनस्य सुकृतामेतु लोकम्॥ अथर्व० ११.१.१७

१३ एमा अगुयोषितः शुष्ममाना उत्तिष्ठ नरि तवसं रभस्व। सुपत्नी पत्या प्रजया प्रजावत्या त्वागन् युजः प्रति कुम्भं गृभाय॥
अथर्व०-११.१.१४

१४ शिवा भव पुरुषेभ्यो गोभ्यो अश्वेभ्यः शिवा। शिवास्यै सर्वस्मै क्षेत्राय शिवा न इहैधि॥ अथर्व०-३.२८.३

१५ पुनः पत्नीमग्निरेदादायुषा सह वर्चसा। दीर्घायुरस्या यः पतिर्जीवाति शरदः शतम्॥ अथर्व०-१४.२.२

१६ स्योना भव श्वशुरेभ्यः स्योना पत्यै गृहेभ्यः। स्योनास्यै सर्वस्यै विशे स्योना पुष्टायैषां भव॥ अथर्व०-१४.२.२७

१७ यथा यशः कन्यायां यथास्मिन्तसंभूति रथे। एवा मै वरणो मुनिः कीर्तिं भूतिं नियच्छतु तेजसा मा समुक्षतु यशसा समनक्तु मा॥ अथर्व०-१०.३.२०

१८ कन्यायां वर्चो यद भूमे तेनास्माँ अपि सं सृज मा नो द्विषत कश्चन॥ अथर्व०-१२.१.२५

१९ एषा तै राजन् कन्या वधूर्नि धूयतां यम। सा मातुर्बध्यतामं गृहेऽथो भ्रातुरथो पितुः॥ एषा तै कुलपा राजन् तामु ते परि ददासि। ज्योक् पितृर्वासाता आशीर्णः समोप्यात्॥ अथर्व०-१.१४.२-३

२० अथर्व०-१.१४.२-३ JK Sanskrit Academy, Jammu. Digitized by S3 Foundation USA

प्रजापतिरनुमतिः सिनीवाल्यचीक्लृपत्। स्त्रैषूयमन्यत्र दधत् पुमांसमु दधद्दिह॥^{२१}

भाषार्थः- (अनुमतिः) अनुकूल बुद्धिवाली, (सिनीवाली) अन्नवाली (प्रजापतिः) प्रजापालक शक्ति परमेश्वर ने (अचीक्लृपत्) यह शक्ति दी है। (अन्यत्र) दूसरे प्रकार में (स्त्री का रज अधिक होने में) (स्त्रैसूयम्) स्त्री जन्म सम्बन्धी क्रिया (दधत्) वह (ईश्वर) धारण करता है और (इह) इसमें (पुरुष का वीर्य अधिक होने पर) (उ) निश्चय करके (पुंमांसम्) बलवान् सन्तान को (दधत्) वह स्थापित करता है।

भावार्थ- मनुष्य उत्तम बुद्धिवाला, अन्नवान् और प्रजापालक होकर ईश्वर नियम से गृहस्थाश्रम के योग्य होता है और स्त्री का रज अधिक होने पर कन्या तथा पुरुष का वीर्य अधिक होने पर पुरुष सन्तान उत्पन्न होती है।

२. कुमारी के रूप में नारी की महत्ता-

अथर्ववेद में विवाह के योग्य स्त्री को कुमारी नाम से अभिहित किया गया है। यथा-आ नौ अग्ने सुमुतिं संभृतो गमेदिमां कुमारीं सुह नो भगेन। जुष्टा वरेषु समनेषु वल्लुरोषं पत्या सौभगमस्त्वस्यै॥^{२२} इसी अर्थ में कन्या या कन्यला शब्द भी प्रयोग किया गया है। ये कन्याएँ विवाह की इच्छा से युक्त होकर पिता के घर से पति के घर जाने की इच्छा करती हैं। ऐसा सङ्केत अथर्ववेद के अधोलिखित मन्त्रांश में द्रष्टव्य है-

उशतीः कन्यला इमाः पितृलोकात्पतिं यती। अव दीक्षामसृक्षत स्वाहा॥ अथर्व०-१४.२.५२

भाषार्थ- (इमाः) यह (उशतीः) कामना करती हुई (कन्यलाः) शोभावती कन्यायें (पितृलोकात्) पितृलोक (पितृकुल) से (पतिम्) अपने अपने पतिकुल को (यतीः) जाती हुई (स्वाहा) सुन्दर वाणी के साथ (दीक्षाम्) दीक्षा (नियम व्रत की शिक्षा) को (अवसृक्षत) दान करें।

३. पत्नी के रूप में नारी की महत्ता-

पत्नी गृहस्थ जीवन का एक अभिन्न अङ्ग है। जिसके बिना गृहस्थ जीवन के समस्त रस, सुख एवं सौन्दर्य विनष्ट हो जाते हैं। अधोलिखित मन्त्र में पत्नी के गुणों का वर्णन किया गया है-

अघोरचक्षुरपतिघ्नी स्योना शुग्मा सुशेवा सुयमा गृहेभ्यः।

वीरसूर्देवकामा सं त्वयिधिषीमहि सुमनस्यमाना॥^{२३}

इस मन्त्र में कहा गया है कि वह अघोरचक्षु हो अर्थात् किसी को कुदृष्टि से न देखे। अपतिघ्नी हो अर्थात् पति का किसी भी प्रकार से अहित न करे। स्योना और सुयमा शब्दों से अभिप्राय है कि वह परिवार के लिए सुखद हो तथा संयमी जीवन बिताने वाली हो। सुशेवा से अभिप्राय है कि वह परिवार के लोगों की सेवा करने वाली हो। उसके अन्य गुण हैं- वह वीर सन्तानों को जन्म देने वाली हो, देवभक्त तथा आस्तिक हो, सौमनस्य वाली हो तथा देवों आदि को हानि पहुँचाने वाली न हो। पद्यपुराण में कहा गया है कि पतिव्रता स्त्री वह हो जो कार्यों में दासी की भान्ति, सहवास में अप्सरा जैसी, भोजन के समय माँ जैसी तथा विपत्ति में मन्त्री के समान मार्ग सुझाने वाली हो।^{२४} तैत्तिरीयारण्यक में पत्नी को साक्षात् श्रद्धा,^{२५} तथा गोपथ ब्राह्मण में पत्नी को घाटय अर्थात् गृहस्थधारिका

२१ अथर्व०-६.११.३

२२ अथर्व०-२.३६.१

२३ अथर्व०-१४.२.१७

२४ धर्मशास्त्र का इतिहास, पृष्ठ ३२९, पद्मपुराण, सृष्टिविष्ट।

२५ श्रद्धा पत्नी-तै०आ०-१०.६४.१

कहा गया है।^{२६} अथर्ववेद में इन्द्रादि के तुल्य उनकी पत्नियों को भी देवतुल्य आदर प्राप्त था। उन्हें भी यज्ञ में आमन्त्रित किया जाता था।^{२७} अथर्ववेद में पत्नी का स्थान बहुत उत्कृष्ट बताया गया है। उसे गृहस्वामिनी, गृहलक्ष्मी, सम्राज्ञी, कल्याणी आदि कहा गया है। वह घर की सारी व्यवस्था देखती है अतः उसे सम्राज्ञी कहा गया है। यथा-

भगस्त्वेतो नयतु हस्तगृह्णाश्विनां त्वा प्र वंहतां रथेन।

गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथासौ वशिनी त्वं विदथमा वंदासि॥

यथा सिन्धुर्नदीनां साम्राज्यं सुषुवे वृषा। एवा त्वं सम्राज्येष्टि पत्युरस्तं परेत्य॥^{२८}

इस प्रकार स्पष्ट है कि पत्नी गृहस्थाश्रम का आधार है। उसके बिना गृहस्थाश्रम दुःखमय एवं कष्टमय हो जाता है। गृहस्थ जीवन की सफलता पत्नी के विशिष्ट गुणों तथा व्यवहार पर निर्भर करती है।

४. माता के रूप में नारी-

सामाजिक दृष्टि से माता का स्थान सर्वोच्च माना गया है। अथर्ववेद के अनुसार पुत्र को जन्म देने के कारण ही ऋषियों ने माता को जनित्री कहा है। पुत्र के लिए कहा गया है कि सर्वथा माता के अनुकूल रहे। यथा-
अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः। जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम्॥^{२९} कुछ इसी तरह का उल्लेख आपस्तम्ब धर्मसूत्र में भी मिलता है, वहाँ पर कथन है कि पुत्र का यह सर्वप्रथम कर्तव्य बनता है कि वह अपनी माता की सदैव सेवा करे, भले ही वह जातिच्युत हो चुकी हो, क्योंकि माता अपनी सन्तान के लिए महान् कष्टों को सहन करती है।^{३०} अथर्ववेद के मन्त्र में स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि पुत्र को जन्म देने वाली माताएँ ही समाज में सम्माननीय एवं आदरणीय हैं। यथा-पुमांसं पुत्रं जनयु तं पुमाननु जायताम्। भवासि पुत्राणां माता जातानां जनयाश्च याना॥ अथर्व०-३.२३.३। महाभारत के आदि पर्व में कहा गया है कि सर्वेषामेव शापानां प्रतिघातो हि विद्यते। न तु मात्राभिशातानां मोक्षः कश्चन विद्यते॥ अर्थात् सभी प्रकार के शापों से मुक्ति पायी जा सकती है, किन्तु माता के द्वारा प्रदत्त शाप से मुक्ति पाने का कोई भी उपाय नहीं है। अतः मनुष्य को हमेशा अपनी माता की सेवा करनी चाहिए। अथर्ववेद में वर्णित मातारूप में नारी की महत्ता को व्याख्यापित करने के बाद नारी के अधिकारों एवं कर्तव्यों की चर्चा करना नितान्त आवश्यक है।

५. अथर्ववेद में वर्णित स्त्री के अधिकार-

नारी के अधिकारों के अन्तर्गत यह विचारणीय विषय है कि घर एवं परिवार में नारी को कितना अधिकार प्राप्त है। उसकी स्थिति परिवार में गृहस्वामिनी के तुल्य है अथवा दासी के समान है? वह परिवार में कैसा जीवन व्यतीत करती है? अथर्ववेद स्त्री को पति के घर में रानी के समान स्थान प्राप्त करने तथा चमकने का आशीर्वाद देता है। यथा-सुवाना पुत्रान् महिषी भवातिगत्वा पतिं सुभगा विराजतुम्।^{३१} अथर्ववेदीय मन्त्र १४.१.२०

२६ पत्नी धाटया। गो०उ०-३.२१.२२

२७ उतगना व्यन्तु देवपत्नीरिन्द्राण्यग्नाय्यश्विनी राट्। आ रोदसी वरुणानी शृणोतु देवीर्य ऋतुर्जनीनाम्॥ -अथर्व०-७.४९.२

२८ अथर्व०-१४.१.२०, १४.१.४३

२९ अथर्व०-३.३०.२

३० माता पुत्रत्वस्य भूयांसि कर्माव्यारमते तस्यां शुश्रूषा नित्यं पतितायामपि। आप०धर्म०-१.१०.१८.९

३१ अथर्व०-२.६३.३

में उसे वशिनी कह कर उसका अधिकार स्वीकार किया है।^{३२} वह पति के घर में जाकर वैसे ही सम्राज्ञी बनती है जैसे नदियों का वृषा समुद्र। इस उपमा से स्पष्ट है कि नदियाँ जैसे अपना समस्त जल समुदाय समुद्र को अर्पण कर देती हैं, ऐसे ही घर के समस्त धन पर उसी का अधिकार है।^{३३} अथर्ववेद का एक अन्य मन्त्र पत्नी के अधिकारों की ओर सङ्केत करते हुए कहता है-

अहं वंदामि नेत् त्वं सुभायामह त्वं वद।

ममेदसस्त्वं केवलं नान्यासां कीर्तयाश्चन॥ अथर्व०-७.३८.४

अर्थात् घर के कार्यों में पत्नी बोले और बाहर के कार्यों तथा सभा आदि में पति बोले। उत्तानपर्णे सुभगे देवजूते सहस्वति। सुपत्नी मे परा णुद्र पति मे केवलं कृधि- इस मन्त्र में पति पर पत्नी के एकाधिकार होने सङ्केत प्राप्त होता है।^{३४} यहाँ पत्नी को धर्मपत्नी तथा पति को गृहपति माना गया है। जैसा कि इस मन्त्रांश में स्पष्ट कथन मिलता है-

पत्नी त्वमसि धर्मणाहं गृहपतिस्तव। अथर्व० १४.१.५१

अथर्ववेद नारी को यज्ञाधिकारिणी मानता है तथा स्त्री के यज्ञ भाग लेने का उल्लेख प्राप्त होता है।^{३५} कुछ स्थलों पर स्त्रियों के सभा तथा समिति में जाकर भाग लेने तथा अपने मत प्रस्तुत करने का भी उल्लेख मिलता है।^{३६} इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि अथर्ववेदवर्णित नारी को घर में सभी प्रकार के अधिकार प्राप्त थे। उसे यज्ञ में भाग लेने का अधिकार प्राप्त होने के साथ-साथ सभा में अपने मत प्रस्तुत करने का भी अधिकार था।

६. अथर्ववेद में वर्णित नारी के कर्त्तव्य-

अथर्ववेद में स्त्री के अधिकारों के साथ-साथ उसके कर्त्तव्यों का भी वर्णन प्राप्त होता है। अथर्ववेद कहता है कि प्रत्येक नारी का कर्त्तव्य है कि वह पति के आदेशानुसार चले तथा पति की इच्छानुसार कार्य करे- आजामि त्वार्जन्मा परि मातुरथो पितुः। यथा मम कृतावसो मम चित्तमुपायसि॥^{३७} वह सदा पति के अनुकूल रहे, पति का कभी विरोध न करे।^{३८} पति से मधुर और शान्तिपूर्ण वचन कहे तथा पति के सङ्ग होकर जीवन को अमृतमय बनावे। जैसा कि अधोलिखित मन्त्रों में सङ्केत दिया गया है-

जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम्॥ अथर्व०-३.३०.२

पत्युरनुव्रता भूत्वा सं नह्यस्वामृतायु कम्॥ अथर्व०-१४.१.४२

अथर्ववेद में एक अन्य स्थल पर स्त्री के कर्त्तव्यों का उल्लेख करते हुए कहा गया है-सुमङ्गली प्रतरणी गृहाणां सुशेवा पत्ये श्वशुराय शं भूः। स्योना श्वश्र्वै प्र गृहान् विशेमान्॥^{३९} अर्थात् वह परिवार का कल्याण करने

३२ गृहान् गच्छ गृहपती यथासौ वशिनी त्वं विदधुमा वंदसि॥ अथर्व०-१४.१.२०

३३ अथर्व०-१४.१.४३

३४ अथर्व०-३.१८.२

३५ पत्नी यदृश्यते पत्नी यक्ष्यमाणा जरितरोऽथामो द्वैव। होता विष्टीमेन जरितरोऽथामो द्वैव। अथर्व०-२०.१३५.५

३६ अहं वंदामि नेत् त्वं सुभायामह त्वं वद। ममेदसस्त्वं केवलं नान्यासां कीर्तयाश्चन॥ अथर्व०-७.३८.४

३७ अथर्व०-३.२५.५

३८ एवा भार्गस्य जुष्टेयमस्तु नारी संप्रिया पत्याविराधयन्ती। अथर्व०-२.३६.४

३९ अथर्व०-१४.२.२६ CC-0. JK Sanskrit Academy, Jammu. Digitized by S3 Foundation USA

वाली, पति, सास-ससुर आदि के लिए सुखद हो। वह सूर्योदय से पूर्व उठकर यज्ञ करे।^{४०} वह प्रतिदिन यज्ञ करे। वह ससुर आदि के सामने जाने पर लज्जा करे, जैसे सूर्य की किरणों के सम्मुख कृमि आदि। यथा-ये सूर्यात् परिस्पर्शन्ति स्नुषेव श्वशुरादधि। ब्रजश्च तेषां पिङ्गश्च हृदयेऽधि नि विध्यताम्।^{४१} स्त्री के कर्तव्यों में सूत कातना और वस्त्र बुनना भी सम्मिलित हैं। अधोलिखित मन्त्र इस तथ्य की ओर सङ्केत करता है-

या अकृन्तन्नवयुन् याश्च तल्लिरे या देवीरन्तां अभितोऽददन्त।

तास्त्वां जरसे सं व्ययन्त्वायुष्मतीदं परि धत्स्व वासः। अथर्व०-१४.१.४५

अथर्ववेद में नारी (स्त्री) के कुछ दैनिक कर्तव्यों का भी उल्लेख प्राप्त होता है यथा-घर में जल भर कर रखना, स्वच्छ जल भर कर लाना, पानी भरने जाना, यज्ञ करना, सुन्दर वस्त्र और आभूषण पहनना, ऋतु के अनुकूल भोजन करना, अतिथि-सत्कार करना, घर की व्यवस्था करना आदि।^{४२} इह प्रियं प्रजायै ते समृध्यतामस्मिन् गृहे गार्हपत्याय जाग्रहि। एना पत्यां तन्वं १ सं स्पृशस्वाथु जिविर्विदथ्यमा वंदासि-अथर्ववेदीय मन्त्र स्त्री को गृहस्थ-कार्यों के प्रति सदा जागरूक रहने की ओर सङ्केत करता है।^{४३} धाता रातिः संवितेदं जुषन्तामिन्द्रस्त्वष्टा प्रति हर्यन्तु मे वचः। हुवे देवीमर्दिति शूरपुत्रां सजातानां मध्यमेष्टा यथासानि-मन्त्र में कहा गया है कि दिव्य, अद्वितीय एवं अखण्ड व्रतवाली गुणसम्पन्ना स्त्री वीरपुत्रों को जन्म देने वाली हो।^{४४} अथर्ववेदीय मन्त्र प्रोष्ठेश्यास्त्येश्या नारीर्या वंह्यशीवरीः। स्त्रियो याः पुण्यगन्धयुक्ता सर्वाः स्वापयामसि (अथर्व० ४.५.३)-में स्त्रियों के शयन स्थान में तख्त, पलङ्ग, मञ्च एवं हिण्डोला आदि का उल्लेख प्राप्त होता है। उनके सुगन्धित द्रव्य लगाने का भी वर्णन है। स्त्री का कर्तव्य है कि वह पतिव्रता हो, सद्भावयुक्ता हो, मधुरभाषिणी एवं सरल स्वभाव वाली हो। जैसाकि अधोलिखित मन्त्रों में निर्दिष्ट है-

शुचा विद्धा व्योषया शुष्कास्याभि सर्प मा। मृदुर्मिमन्तुः केवली प्रियुवादिन्यनुव्रता। अथर्व०-३.२५.४

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि नारी सृष्टि का आधार है। वैदिक वाङ्मय विशेषतः अथर्ववेद में नारी शक्ति गृहरक्षिका, सन्तानवर्धिका, पति की सहयोगिनी एवं पिता की कृतज्ञा के रूप में दृष्टिगत होती है। नारी के बिना संसार के सञ्चालन एवं प्रगति की कल्पना करना दुर्लभ है। वह माता, पत्नी, बहन तथा कन्या के रूप में घर की शोभा है। अथर्ववेदीय नारी को समाज में पुरुष के समान वेदाध्ययन अधिकार, धार्मिक अधिकार, सामाजिक अधिकार, तथा राजनीतिक अधिकार प्राप्त हैं। कुछ संदिग्ध स्थलों को छोड़कर उसके उदात्त रूप को प्रस्तुत किया गया है, उसे केतु, मूर्धा तथा तेजस्विनी कहने के साथ-साथ पति द्वारा अनुकरणीय माना है। यदि मानव जीवन में उन्नति चाहता है तो उसे नारी की महत्ता को स्वीकार करने के साथ-साथ उसे सम्मान प्रदान करना होगा।

४० आ रौह तल्पं सुमनस्यमानेह प्रजां जैनयु पत्यै अस्मै। इन्द्राणीव सुबुधा बुध्यमाना ज्योतिरग्रा उषसुः प्रति जागरासि॥
अथर्व०-१४.२.३२

४१ अथर्व०-८.६.२४

४२ अथर्व०-११.१.१३-१७

४३ अथर्व०-१४.१.२१

४४ अथर्व०-३.८.२

विश्वहिताय वैदिकी अभयभावना

डॉ० विजयलक्ष्मीः^१

भीस्तु सर्वासामेव आपदां निधानम्। सभयो हि समर्थो न भवति आत्मत्राणे, अन्येषां तु का कथा। भीतिः मानवं तथा पीडयति यथा न अरातयोऽपि। अभयचेतसा तु जनः सहजभावेन प्रवर्तते कार्यक्षेत्रे। विगतभया एव भवन्ति भाजनानि समस्तसुखानाम्। अद्यतनीये परिवेशे विरला एव जना सत्यं वक्तुं पारयन्ति परं निर्भयो जनः प्रभवति तथ्यं प्रस्तोतुम्।

अभयप्रधानेन मनसा जीवने जनः साधयति असाध्यमपि, अवाप्नुते च अमन्दमानन्दम्। भिया क्रियमाणेषु कार्येषु मानवानां न तथा प्रीतिर्जायते यथा भयरहितेन चेतसा विधीयमानेषु कृत्येषु। यदा जनः जगति सर्वत्र अभयत्वम् अनुभवति तदा स्नेह-उदारता-स्थिरता-अहिंसा-मैत्री-करुणा-मुदिता-सहिष्णुता-आत्मविश्वासादयो गुणाः सामाजिकानां स्वान्तेषु समुद्भूता भवन्ति। चेतसि जायमानास्ते गुणा जनानां वाचि आचारे व्यवहारे च मूर्तरूपामाकृतिं लभन्ते। वेदा हि सन्ति समस्तानां ज्ञानानां विज्ञानानां व्यवहाराणामाधारभूताः। विद्यन्ते च वेदेषु विविधा अभयप्रार्थनापरा मन्त्राः। न केवलमात्महिताय अपितु समस्तचराचराय अभयकामना अवलोक्यन्ते वेदभगवति-

यतो यतः समीहसे ततो नो ऽ अभयं कुरु। शं नः कुरु प्रजाभ्योऽभयं नः पशुभ्यः॥^२

मन्त्रेऽस्मिन् समेषां स्थावरजङ्गमानां कृते अभयप्रार्थना विहिता वर्तते अर्थात् समस्ताः सत्त्वाः अस्मान् प्रति कल्याणकारिणः स्युः, वयमपि तेषां हितरक्षणे च प्रयत्नशीलाः भवेम। भयदृष्ट्या मानवाः निम्नतराः पशूनामपेक्षया, पशवस्तु समुपस्थिते हि भीतिकारणे भीताः भवन्ति, पशूनां प्रकृतिरियं यदि तेषां जीवनाय भयं नास्ति तदा ते अन्यान् न भाययन्ति, अभिज्ञानशाकुन्तल-उत्तरामचरितादिग्रन्थेषु आगताः प्रसङ्गाः विदुषां कृते विदिता एव स्युः। तथा च रामायणे

इममाश्रममागम्य मृगसंघा महीयसः। अहत्वा प्रतिगच्छन्ति लोभयित्वाकुतोभयाः॥^३

वनगमनकाले कौशल्यापि रामाय अभयत्वमुपदिशति।^४

परं वयं बुद्धियुक्ताः मनीषिणो मानवा अन्योन्यं भीतिमुत्पादयन्तः स्वयमपि भीताः जीवनं यापयामः। जनास्तु अतीतं भयं संस्मृत्य अनागतभयञ्च मनसैवोत्पाद्य विचार्य च भीता भवन्ति। वेदे ज्ञातभयादज्ञातभयाद् वयं दूरीभवेम इति रुचिरतया प्रतिपादितम्^५ हितोपदेशेऽपि बहुशोभनमुदीरितम्-

तावत् भयान्न भेतव्यं यावद् भयमनागतम्। आगतं तु भयं वीक्ष्य प्रहर्तव्यमभीतवत्।^६

१ संस्कृत-प्रवक्त्री, सनातनधर्ममहाविद्यालयः, मुजफ्फरनगरम् उ.प्र.

२. यजु० ३६.२२

३. वाल्मीकिरामायणम् ३.७.१८

४. वाल्मीकिरामायणम् २.२५.१७, राक्षसानां पिशाचानां रौद्राणां क्रूरकर्मणाम्। क्रव्यादानां च सर्वेषां मा भूत् पुत्रक ते भयम्॥

५. अथर्व० १९.१६.६, अभयं मित्रादभयममित्रादभयं ज्ञातादभयं पुरो यः। अभयं नक्तमभयं दिवा नः सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु।

६. हितोपदेशः १.५७.११

देशकालपरिस्थित्यनुसारं बहूनि खलु भीतिकारणानि परं शैशवे प्राप्ताः संस्काराः, परिवेशः, अनर्थभयम्, दृष्टा श्रुता घटनादुर्घटना वा सामान्यरूपेण भीतिकारणानि लोके। शैशवे काले प्रायशः मात्रा पारिवारिकजनैश्च बालमनसि अनेका भयोत्पादकाः भावाः समारोप्यन्ते यथा- आगमिष्यति मूषकः विडालः वानरो वा आभिः बिभीषाभिः भीताः बालाः पर्यावरणेन सह आत्मीयं सम्बन्धं स्थापने सहजभावं नानुभवन्ति, तत्पश्चाच्च विद्यालये पठनस्य भयम्, शिक्षकस्य भयम् अंकानां भयम्, पित्रोरग्रजानां वा भयम्, एवं भयमेव भयम्, जीवनं कुत्र? परं वेदभगवता मानवाः निर्दिष्टाः सर्वथा अभयजीवनाय^७

अभयं न करत्यन्तरिक्षमभयं द्यावापृथिवी उभे इमे।

अभयं पश्चादभयं पुरस्तादुत्तरादधरादभयं नो अस्तु॥

अद्यत्वे C.D. इति यन्त्रे आविष्कृताः। क्रीडा अपि मारणं हननं विनाशमेव शिक्षयन्ति बालान् तथाविधाः क्रीडाः नोपकाराय बालानामपितु अपकाराय एव। अनेन बालमनसि स्थिताः कोमलाः भावाः विनष्टप्राया भवन्ति, परिणतिरूपेण बालकेषु अनेका दुष्प्रवृत्तयो विशेषतस्तु क्रूरतादुष्टतादयः बालमनसि प्रविष्टा वर्धमानाश्च द्रष्टुं शक्यते, इमे भयसंस्कारा भाविनि जीवने जनयन्ति नैकान् क्लेशान्।

परिवेशजभयम्-

यत्र वसति मानवः तत्स्थानम् राष्ट्रं तत्रत्यं पर्यावरणं सामाजिकं वातावरणं च परिवेशनाम्ना ज्ञायते। सन्दर्भेऽस्मिन् बहुशोभनमुक्तं रामायणकारेण- यदयोध्यायां जनाः दुर्भिक्ष-वातजाग्निजतस्करभयैः रहिता आसन्। इमा सन्ति समाजिकानां जीवने जायमानाः भीतयः। तस्करभयेन भीता लोकाः रात्रौ तु विश्रामं लभन्ते एव न, प्रत्युत दिवसेऽपि ते न सन्ति विगतभयाः। जयपुरनगरे नवम्बरमासे २००९ वर्षे अग्निना धनस्य, जनजीवनस्य महती हानिस्तु जाता एव, इतोऽपि अधिकतरं वातावरणे प्रवृद्धं प्रदूषणं जीवानां तेषां जीवातुभूतानाञ्च विनाशाय एव जातम्, प्रदूषणस्यास्य दुष्प्रभावः जनजीवनं बहुकालं यावत् दंक्ष्यति।

वातजभयम्-

मुम्बईनगरे २००९ वर्षान्ते आगतः Cyclone Phyan नामकः वातोत्पातः विनाशकारक आसीत्। विगतवर्षेषु Katrina इति वातेनापि बहु अपकारः जातः लोकस्य। एतादृशानां भयानां निराकरणाय सर्वकारैः जनैश्च सम्मेल्य प्रकृतिसंरक्षणाय, लोकेषु नैतिकगुणसंवर्धनाय च प्रयत्नो विधेयः। वेदेऽपि कथितम् इन्द्रस्य (राज्ञः) सख्ये वयं अभयाः स्याम^१ -

सख्ये त इन्द्र वाजिनो मा भेम शवसस्यते। त्वामभि प्र णोनुमो जेतारमपराजितम्॥

अर्थात् वयं अनन्तबलस्य स्वाम-इन्द्रस्य (नृपतेः) सख्यं विन्देम येन वयं कदापि कुत्रापि भीताः न भवेम। तमसातटे समागतान् पुरवासिजनान् प्रति रामस्योक्तिः सन्दर्भेऽस्मिन् अवधेया खलु-^{१०} कथयति राम-भरतः भवतां समेषां भयानामपहारको भविष्यति यतो हि भरतो वर्तते ज्ञानवृद्धो गुणान्वितश्च। अनेन रामवचसा

७. अथर्व० १९.१६.५.

८. वाल्मीकिरामायणम् १.१.९०, ९२, ९३, प्रह्लादः मुदितो लोकस्तुष्टः पुष्टः सुधार्मिकः। निरामयो ह्यरोगश्च दुर्भिक्षभयवर्जितः। न चाग्निजं भयं किञ्चित्पुनः मज्जन्ति जन्तवः। न वातजं भयं किञ्चित्पुनः ज्वरकृतं तथा॥ न चापि क्षुत् भयं तत्र न तस्करभयं तथा। नगराणि च राष्ट्राणि धनधान्ययुतानि च॥

९. ऋक् १.११.२.

१०. वाल्मीकिरामायणम् २.४५.८, ज्ञानवृद्धी वयो बाला मृदुवीर्यगुणान्विताः। अनुरूपः स वो भर्ता भविष्यति भयापहः॥

स्फुटीभवति यत् राजानः स्युः ज्ञानशालिनः, पराक्रमशीलाः उदारप्रकृतयश्च, तदैव ते प्रजानां भीतिनिवारणे क्षमाः भवेयुरिति। कोसलजनपदं वर्णयता राममुखेन जगाद वाल्मीकिः^{११}—परित्यक्तो भयैः सर्वैः।

साम्प्रतं विश्वस्मिन् विश्वे व्याप्तो वर्तते विविधानामातंकिसङ्गठनानां भयम्, एभिः संत्रस्तो लोको न कुत्रापि निर्भरमाबध्नाति पदम्। राजनीतिकदृशा तु वशमापन्नो शत्रुः न मोक्तव्यः यतो हि तथाविधः दुरात्मा अधिगते हि बले अवकाशे अवसरे वा अवश्यं प्रहरति। भीषयते च जनान्। वर्तमाने राजनीतिकपरिवेशे राजनीतिकजनैः विचारणीयः मननीयः महाराजविदुरस्य विधिरयम्^{१२}। येन प्राणिनः सर्वत्र प्राप्नुयुः अभयत्वम्। इमे आतंककारिणः साहसहीना भीरव एव। वीरताविषये कथितञ्चैकेनचिद् विदुषा—The idea of a warrior is based on a sense of fundamental fearlessness... Warriorship is a basic sense of unshakeability. It's a sense of immovability and self-existing dignity rather than you trying to fight with something else. Chogyam Trungpa (Times Of India Nov 9, 2009)

अथर्ववेदे कथितं इन्द्रविषये यदसौ वृत्रहा वर्तते स अस्मान् सर्वासु दिक्षु रक्षेत्—

स रक्षिता चरमतः स मध्यतः, स पश्चात्स पुरस्तान्नो अस्तु।

इन्द्रस्त्रातोत वृत्रहा परस्फानो वरेण्यः॥^{१३}

अत्र चाग्रिमेऽपि सूक्ते अतिरुचिरतयाभिहितम्—

असपत्नं पुरस्तात्पश्चान्नो अभयं कृतम्। सविता मा दक्षिणत उत्तराम्ना शचीपतिः॥^{१४}

अभिप्रायोऽयं यद् हे ईश्वर (सविता) संसृतौ सर्वत्राकुतोभयाः वयं वसेम।

अनर्थभयम्—

अनर्थभयमपि संसारे भयस्य अन्यतमं कारणम् अनेन भीताः देहधारिणः कानिचन लोकोपकारकार्याणि कुर्वन्ति इति तु सम्यक्, परं यदि भयं विहाय पावनचेतसा इदं सर्वं कृतम्भवेत् तर्हि तु श्रेयस्करम्, परं सभयाः जना यदा पशूनां बालानां वा बलिं यच्छन्ति स्वकीयपापनिवृत्तये तत्तु भयावहः। अस्मिन्नेव नवम्बरमासे पंचविंशतिशतकोटिरुप्यकाणामनियमिततासु (२५०० करोड़) संलिप्तः झारखण्डराजस्य श्रीमधुकोड़ा इत्याख्यस्य पूर्वमुख्यमन्त्रिणः पत्न्या एकादशाजानां बलिः दत्तः।^{१५} मूकानां विपन्नानां शरणागतानां तेषां वराकाणां जीवानां घातने कथं स्यादनर्थस्य निवारणम्। इतोऽपि आश्चर्यकरं यदिदमखिलं कृत्यजातं धर्मनाम्ना कृतम्। यदि तासामजानां पालनं तथा स्वीकृतम्भवेत् तर्हि तु कार्यमिदं कल्याणाय कल्पेत, भवेच्च श्रेयस्यकरमुभयोः कृते। सन्दर्भेऽस्मिन् आचार्यचाणक्यस्य मतमवधेयं खलु, आचार्यचाणक्यस्तु भयहेतुना कृतमादानम्प्रदानञ्च स्तेयरूपेणाङ्गीकरोति तथा च तस्य कृते कठोरदण्डव्यवस्थामादिशति। तद्यथा—

दण्डभयादाक्रोशभयादनर्थभयाद् वा भयदानं प्रतिगृह्णतः स्तेयदण्डप्रयच्छतश्च।^{१६}

११. वाल्मीकिरामायणम् २.१००.४५.

१२. विदुरनीतिः ६.२८,

१३. अथर्व० १९.१५.३.

१४. अथर्व० १९.१६.१.

१५. द्रष्टव्यः ९ नवम्बर, २००९ ऊर्गसे र्द च्ही, झु हद-४

१६. अर्थशास्त्रम् षोडशः अध्यायः, प्रकरणम् ७०

दृष्टा श्रुता घटना दुर्घटना वा-

कदाचित् लघीयसी एव घटनापि भयहेतुतामावहति। यस्मिन् स्थले गृहे देशे वा आत्मीयबन्धुभिराघातं कष्टं वानुभूतम्भवेत्, तत्र व्यवहरणे आचरणे च मानवानां मानसेषु स्वाभाविकी आशंका भवत्येव इति संसृतौ प्रत्यहं प्रत्यक्षीक्रियते जनैः, परं ऋग्वेदस्यैका ऋक् मनोहररीत्या निराकरोति तादृशमपि साध्वसम्-

इन्द्र आशाभ्यस्परि सर्वाभ्यो अभयं करत्। जेता शत्रून् विचर्षणिः॥^{१७}

अर्थात् जयशीलः इन्द्रः प्राणभृतां कृते समस्ताभ्यः दिग्भ्यः अभयं प्रयच्छति। तथा च अन्यस्मिन्नेकस्मिन् मन्त्रे प्रतिपादितम्-^{१८} हे आदित्य! यदा भयमागच्छेत् तदा तव सान्निध्यमहमाप्नुयाम्, अर्यमन् त्वया निर्दिष्टे पथा गच्छन्नहं सर्वाणि दुरितानि दूरीकुर्याम्।

वेदे प्रतिपदं प्रेरिता प्राणिनः निर्भयजीवनाय, अनेनैव सह निर्दिष्टाश्च पापापाकरणाय। अशुभकर्मभिः विरहितस्य जनस्य जीवनं जायते जनकल्याणाय, आत्महिताय च, एवंविधे जीवने नास्ति किञ्चिदपि भयकारणम्।

प्रमादः

वेदे प्रार्थितम्- असन्नप्रायुवो रक्षितारो दिवे-दिवे^{१९}-देवाः प्रतिदिनं निष्प्रमादिनः सन्तोऽस्मद् रक्षकाः भवन्तु। प्रमादिनः खलु जनाः कालेन कार्यमकुर्वाणाः भयमवनतिञ्चोभयं लभन्ते। अथर्ववेदस्यैकस्मिन् सूक्ते निर्भयजीवनाय महत्त्वपूर्णानि सूत्राणि दत्तानि, तत्र ज्ञापितम्^{२०} यथा सूर्यचन्द्रमसौ निर्भयरूपेण पक्षपातमपहाय स्व कीयानि विहितकर्माणि नियमानुसारं सम्पादयतः, यथा नियतकर्मसु व्यापृता इमे देवाः तिष्ठन्ति गतभयाः, वेदस्य सन्देशः मनुष्या अपि तथैव व्यवहरन्तु दैनन्दिने जीवने। तैरपि पक्षपातं परित्यज्य कालेन कार्यं कुर्वद्भिः भाव्यम्। दयादाक्षिण्यदानादयः दीपयन्तु तेषां जीवनानि। अन्यत्रापि कथितम्^{२१}

स्वस्ति पन्थामनुचरेम सूर्यचन्द्रमसाविवा। पुनर्ददताघ्नता जानता सङ्गमेमहि॥

अथ च अहोरात्रं साधु विभज्य, समस्तकार्यकलापार्थं समयनिर्धारणं कृत्वा जीवने आचरेद्येत् तत्र न स्यात् प्रमादावसरः। कालेन विधीयमानेषु कृत्येषु भयावसरोऽपि नैवोपपद्यते। एवं सुविचार्य अवहितेन चेतसा कृतानि कार्याणि परिणामे रमणीयानि भवन्ति, नास्त्यत्र सन्देहावसरः।

साध्वसे जने हिंसाया भावाः प्रादुर्भवन्ति, तेन हिंसा द्वेषादयः दुर्गुणाः मानवानां चेतांसि दूषयन्ति। प्रकरणेऽस्मिन् रामायणं कथयति- भयं भीतात् हि जायते, पशवः पक्षिणः मानवा वा स्युः संसारे प्रत्यहं प्रत्यक्षीभवति यत् भीता अन्यान् भाययन्ति। मनीषिणा महर्षिपतञ्जलिना अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः^{२२} इति प्रतिपादितम् योगदर्शने। सूत्रस्यास्य भोजवृत्तौ कथितम्-तस्याहिंसा भावयतः सन्निधौ सहजविरोधिनामप्यहिनकुलादीनां वैरत्यागो निर्मत्सरतयाऽवस्थानं भवति। हिंसा अपि हिंस्रत्वं परित्यजन्तीत्यर्थः। मनसा वचसा कर्मणा हिंसात्याग एवास्ति सामाजिकेषु सख्यभावस्य कारणम्। परस्परं मैत्रीमापन्नाः सत्त्वाः निर्भया

१७. ऋक् २.४१.१२.

१८. ऋक् २.२७.५, विद्यामादित्या अवसो वो अस्य यदर्यमन् भय आ चिन्मयोभु। युष्माकं मित्रावरुणा प्रणीतौ परि श्वभ्रेव दुरितानि वृज्याम्॥

१९. यजु० २५.१४

२०. अथर्ववेदः २.१५.७-६।

२१. ऋग्वेदः ५.५१.१५

२२. योगदर्शनम् ३.३७. JK Sanskrit Academy, Jammun. Digitized by S3 Foundation USA

एव स्युः। सामवेदे अभिहितं यत् हिंसापापादय अस्मज्जीवने न आगच्छन्तु^{२३}। निर्भय एव जन आत्मत्राणे आत्मोत्थाने शक्तः सन् अन्येष्वपि अभयत्वमुत्पादयति। दक्षिण-अफ्रीका-राष्ट्रस्य प्राक्तनराष्ट्रपतिनेल्सनमण्डेला महाभागेन प्रकरणेऽस्मिन् सम्यक् समुदीरितम्-

“In the end, the only way to end violence is to end it. (ऊर्से द गर्ह-द- ११, २००९.)

विदुरनीतावपि निगदितम्- हिंसाबलमसाधूनाम्^{२४} तथा च अहिंसैका सुखावहा^{२५}। महाभारतानुसारं तु हिंसायुक्तो ब्राह्मणः शूद्रत्वमेति- हिंसानृतप्रियालुब्धाः सर्वकर्मोपजीविनः। कृष्णा शौचपरिभ्रष्टास्ते द्विजा शूद्रतां गताः॥^{२६}

अहिंसा पालनाय निर्भयता नितरामावश्यकी, भीरुः मानवोऽहिंसापालने कथं भवेद् कृतसङ्कल्पः। अभयता वर्तते अहिंसायाः प्राणसदृशः, प्राणिषु परस्परभयकारणेनैव हिंसा वर्धमाना वर्तते। भीतः त्रस्तः देशश्च अपरदेशमाक्रामति, परमाणुतुल्यानां भीषणानां शस्त्रास्त्राणां संरक्षणे कोऽन्यः हेतुः। शस्त्रनिर्माणे यावती ऊर्जा, यावद् धनम्, यावान् कालात्ययो भवति तेन तु भोजन-भवन-बुभुक्षा-शिक्षा-स्वास्थ्यसदृशानि नैकानि आवश्यकानि जीवातुभूतानि वस्तुजातानि उपलब्धानि भवेयुः तस्य कृते अनिवार्यं परस्परविश्वाससम्पादनम्, अधिगते हि विश्वासे अभयत्वमागच्छति जनजीवने, अभयत्वेनैव निरस्त्रीकरणं शक्यम्, हिंसाया भावाः सामाजिकानां स्वान्तेषु समुत्पन्ना न भवेयुः येन निर्भयता आगच्छेत् जनजीवने इति प्रयासः समस्तैः सांसारिकैरनुष्ठेयः।

द्वेषः

यत इन्द्र भयामहे ततो नो अभयं कृधि। मघवं छग्धि तव त्वं न ऊतिभिर्विद्विषो विमृधो जहि॥^{२७}

हे इन्द्र! अस्मान् सर्वतः अभयं कुरु तथा येऽपि सन्ति द्वेषिणः तान् विनाशय, अर्थाद् भयमपाकरणाय द्वेषस्य विनाशोऽपि अनिवार्यः। ऋग्वेदेऽपि कथितं अस्मज्जीवने समायातान् द्वेषान् वयं स्वस्तिनौकया तरेम।^{२८} साधूक्तं आंग्लविदुषा-

A bit of hatred that goes out of the heart of man comes back to him in full force, nothing can stop it, स्वेटमार्डनमहोदयेनापि लिखितम्-

What is this world but as you take it Thakrey (थैकरे) calls the world a looking glass that gives back the reflection one's own face, frown at it, it will look sourly upon you, and laugh at it, it is jolly companion

अभिप्रायोऽयं यत् यादृशा अपि भावाः हिंसा-अहिंसा-ईर्ष्या-प्रेम-द्रोह-स्नेहादय आगच्छन्ति अस्मद् हृदये तादृशाः एव भावाः प्रादुर्भवन्ति अन्येषामपि चेतस्सु। द्वेषे एकोऽन्यदपि महान् दोषो दरीदृश्यते यदयं दुष्टो द्वेष्टारमेव दशति सर्वप्राथम्येन, यतोहि हृदि प्रविष्टा दूषिता विचाराः मानवस्य मानसं मलिनीकुर्वन्ति तदनु

२३. सामवेद-पूर्वार्चिकः, पञ्चमः प्रपाठकः, पञ्चमः खण्डः ७। अपामीवामप सिधमप सेधत दुर्मतिम्। आदित्यासो युयोतना नो अहंसः॥

२४. विदुरनीतिः २.७५

२५. तत्रैव १.५७

२६. महाभारतं शान्तिपर्व १८१.१३

२७. अथर्व० १९.१५.१ CC-0. JK Sanskrit Academy, Jammu. Digitized by S3 Foundation USA

२८. ऋग्वेदः ८.१६.११, स नः प्रप्रिः पारयति स्वस्ति नावा पुरुहूतः। इन्द्रो विश्वा अतिद्विषः॥

मनोशारीरिकमनामयत्वमुत्पादयन्ति। प्रत्यक्षमेव यदग्निः यत्रापि प्रज्वलिता भवति पूर्वं तदेव स्थानं भस्मीसात्करोति, अन्येषु स्थानेषु तु तस्य प्रवेशः पश्चादेव जायते। इत्थमेव ईष्यद्विषादयो दुर्गुणा अपि मानवस्य मनसः पावनतां शान्तिञ्च विदारयन्ति। सन्ध्यायां निर्धारितेषु मन्त्रेषु योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जप्ते दध्यः^{२९} पञ्चषः कथयित्वा द्वेषदमनाय भूयोभूयः प्रेरिताः मानवाः। अथर्ववेदस्यैकस्मिन्नन्यस्मिन्नपि मन्त्रे वयं न द्विष्मः, अतः अभयमस्तु सर्वत्र।^{३०} अध्ययनेनानेन स्फुटीभवति यत् निर्भयतावासये हिंसा द्वेषप्रमादसदृशाः दोषाः दूरीकरणीया।

वेद एकत्र^{३१} कथितं यैः विविधज्ञानानि आत्मसात्कृतानि त एव वीराः। तथाविधाः वीराः भयरहिताः ज्ञानवन्तः सावधानेन चेतसा लौकिकनियमान् पालयन्ति, सत्यपि निर्भये चित्ते न कमपि पीडयन्ति, न केनापि विवदन्ते, न लङ्घयन्ति लोकमर्यादाम्, नापि तिरस्कुर्वन्ति साधून्। वृद्धावस्थायामपि विद्यां वर्धय इत्यस्ति वेदस्योपदेशस्तनुभूतां कृते। जिर्विः विदथमावदासि^{३२} अर्थात् पश्चिमेऽपि वयसि विदथम्-ज्ञानं विद्या वा प्रचरसि। यतोहि अस्मिन् वयसि प्राणाः भवन्ति आदित्यरूपाः। यथा समेषां चराचराणामाधारभूत आदित्यः विश्वस्मिन् विश्वे स्वीयान् रश्मीन् आतनोति तथैव त्वमपि नैजं ज्ञानमनुभवञ्च समाजहिताय प्रदेहि।

ये जनाः जीवने ज्ञानमुपासते, परमेश्वरस्य मित्रतायां निवसन्ति सृष्टिनियमान् पालयन्ति, प्रमादिनः न सन्ति, हिंसादिदुर्गुणैः विरतास्सन्ति तेषां कृते न कुत्रापि किञ्चिदपि भयम्। भयकारणेनैवानेकानां मनोशारीरिकरोगाणामुत्पत्तिः अद्यतनीये समाजे विचारणीयो विषयः। अतस्त्याज्योऽयं दुर्गणः। वेदे अभयपदेन सह तमप्रत्ययस्य प्रयोगः पदस्यास्य माहात्म्यमुररीकरोति। तद्यथा-

पूषेमा आशा अनुवेद सर्वाः सो अस्माँ अभयतमेन नेषत्।

स्वस्तिदा आघृणिः सर्वं वीरोऽप्रयुच्छन् पुर एतु प्रजानन्॥^{३३}

इत्थमिदं सर्वं पाठं पाठं कथयितुं शक्यते यत् वेदे निर्भयताविषयकाः बहवः मन्त्राः विद्यन्ते येषु वर्तते शोभन उपदेशः, यत्र विविधौदाहरणपुरस्सरं कृतमुपदेशमनुभूयाधीत्य चामन्दमानन्दमाप्नोति अध्येता। परिणामरूपेण अस्य स्वाध्यायशीलस्य मनीषिणो मानवस्य जीवनं च जायते नितरां निर्भयम्।

२९. अथर्व० ३.२७.१-६

३०. अथर्व० १९.१४.१, इदमुच्छ्रेयोऽवसानमागां शिवे मे द्यावापृथिवी अभूताम्। असपत्नाः प्रदिशो मे भवन्तु न वै त्वा द्विष्मो अभयं नो अस्तु॥

३१. ऋग्वेदः १०.६७.२

३२. अथर्व० ८.१.६

३३. अथर्व० ७.९.२

जन्द-अवेस्ता पर वेद का प्रभाव

डॉ० दिनेशचन्द्र शास्त्री^१

डॉ० अमित कुमार^२

मानव जीवन को सर्वप्रथम प्राप्त होने वाली प्राचीनतम ज्ञाननिधि 'वेद' है। इस तथ्य के आलोक में 'विश्ववारा प्रथमा संस्कृति'^३ - अर्थात् धरा पर विकसित होने वाली प्रथम संस्कृति वैदिक है- इस स्वयं सिद्ध सिद्धान्त को भी किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। वेद को समस्त ज्ञान का भण्डार बताते हुए महर्षि मनु ने कहा 'सर्वज्ञानमयो हि सः।'^४ हालांकि मनु का यह कथन पर्याप्त था, लेकिन फिर भी उन्होंने ज्ञान की सर्व विशिष्ट विधा 'धर्म' के लिए कहा 'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्'^५ क्योंकि 'यतोऽभ्युदयानिःश्रेयस् सिद्धिः सः धर्मः'^६ अर्थात् जो मानव को सांसारिक अभ्युदय और उसके चिर प्रतीक्षित लक्ष्य परमानन्द निःश्रेयस् को प्राप्त कराए, वह धर्म कहलाता है।

कालान्तर में वेद पठन-पाठन में आई शिथिलता के कारण धर्म के नए-नए व्याख्याकार हुए। उनकी धर्म-व्याख्या अथवा समझ, नया नाम लेकर एक धर्म विशेष के रूप में प्रचलित हो गई। मनु की उक्त साक्षियों के प्रकाश में धर्म की इन नवीन व्याख्याओं का वैदिक छाया से मुक्त होना सम्भव न था। इसी कारण धर्म की सभी नूतन व्याख्याएं धर्म ग्रन्थ व उनके व्याख्याता सन्त अपने धर्मतत्त्व के लिए वेद के ऋणी हैं।

इस कड़ी में जिस सन्त ने सर्वप्रथम धर्मोद्धार सम्बन्धी यह कार्य किया उनका नाम जरथुस्त्र था। उनका धार्मिक मत पारसी (जरथुस्त्री) है और उनके द्वारा की गई धर्म की व्याख्या जन्द-अवेस्ता में आबद्ध है।^७ जन्द-अवेस्ता में 'अवेस्ता' मूल ग्रन्थ और 'जन्द' उसकी टीका, मूल व टीका को मिलाकर जन्द-अवेस्ता कहा जाता है। कहा जाता है कि मूल जन्द-अवेस्ता में २० लाख पद्य थे, जिनमें अब केवल ८३००० पद्य ही शेष हैं। इस ग्रन्थ के चार भाग हैं। १. यश्त, २. वीस्परत, ३. यस्त्र, ४. वेदीदाद।^८

यस्त्र- इसमें पूजा विधि का प्रतिपादन है। इसमें ७२ 'हा' (अध्याय) हैं। इसका गाथा नामक भाग प्राचीनतम माना जाता है। इन गाथाओं को महात्मा जरथुस्त्र के मुख से निकली ईश्वरीय वाणी कहा जाता है और ये प्राचीनतम भी हैं। अहुनवइति, उश्नवइति, स्पेन्तामन्यु, वोहक्षथ, वहिश्तोइश्ति ये पाँच गाथाओं के नाम से प्रसिद्ध हैं।

वीस्परत् - यह भी कर्मकाण्ड सम्बन्धी है। इसमें २३ अध्याय हैं।

१ रीडर, वेद विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार

२ अंशकालिक प्रवक्ता श्रद्धानन्द वैदिक शोध संस्थान गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार

३ भूमिका भास्कर, स्वामी विद्यानन्द सरस्वती, पृष्ठ १८

४ मनुस्मृति २/६

५ मनुस्मृति २/७

६ वैशेषिक दर्शन १/१/२

७ धर्म का आदि स्रोत- प. गंगा प्रसाद, चीफ जस्टिस, पृष्ठ १२५

८ सर्वधर्मकोश- रामसरूप रसिकेश- पृष्ठ २०

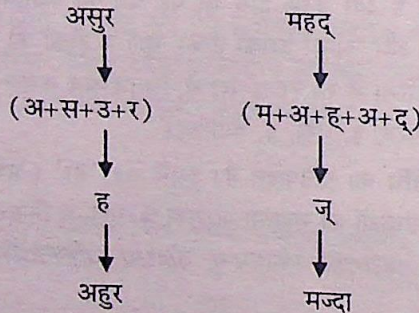
यस्त्र - देव स्तुतियों वाला भाग है।

वेदीदाद - इसमें सामाजिक व व्यावहारिक विधियों का वर्णन है।

वेद की मूल संस्कृति और अवेस्ता की मूल संस्कृति में बहुत निकट का सम्बन्ध रहा है। यह सम्भव है कि वैदिक आर्यों की एक धारा अर्येन वएजह की ओर बढ़ी जिसने अवेस्ता की रचना की। संस्कृतियों में प्रवाहित होते भाव अनन्त काल तक निर्बाध गति से प्रवाहित होते रहते हैं जो साहित्य के माध्यम से कभी न कभी प्रस्फुटित होकर अपने नैरन्तर्य का परिचय देते हैं, जो हमें उनके ग्रन्थों में दृष्टिगत होता है।^१ इसी कारण अवेस्ता के भाषा विन्यास, दार्शनिक मान्यताएं, सामाजिक व धार्मिक जीवन पर वैदिक प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।^२

जन्द अवेस्ता के शब्दों पर वैदिक प्रभाव-

जन्द अवेस्ता का 'जन्द' शब्द धर्म पुस्तक और उसकी भाषा दोनों के लिए प्रयुक्त होता है। यह 'जन' धातु से निष्पन्न माना जाता है जो 'ज्ञान' से सम्बन्धित है।^{११} इसी प्रकार महर्षि पाणिनि ने वेद की भाषा को 'छन्द' कहा है और वेद का नाम 'छन्द' भी कहा है।^{१२} छन्द का अपभ्रंश जन्द के रूप में विद्वानों को सर्वथा मान्य है।^{१३} 'अवस्था' अर्थात् स्थापित की गई व्यवस्था, जन्द की भाषा में 'अवेस्ता' बन जाती है। इस प्रकार 'छन्द' के रूप में की गई व्यवस्था 'जन्द-अवेस्ता' नाम ही का अर्थ देकर वेद का प्रभाव अपने ऊपर स्पष्ट दिखाता है। वेद का असुर ईश्वर के 'प्राणदाता' स्वरूप का वर्णन करता है।^{१४} और वेद का महद् शब्द महान् अर्थ वाला है।^{१५} अवेस्ता में यह असुर 'अहुर' में और 'महद्' मज्दा के रूप में मिलता है। अहुर-मज्दा का जन्द में अर्थ महान् प्राणदाता अर्थात् ईश्वर ही है।



९ वेद और अवेस्ता- डॉ. सिद्धनाथ शुक्ल का निबन्ध, पृष्ठ ७२

१० द्रष्टव्य- धर्म का आदिस्त्रोत- पं. गंगा प्रसाद चौफ जस्टिस, पंचम अध्याय Indo-Iranian Religion with Parallelism in the hindu and Zorostrrian scriptures, Bombay-१९२५

११ डॉ. हाग का उद्धरण- धर्म का आदिस्त्रोत- पं. गंगा प्रसाद चौफ जस्टिस, पृ. ७४

१२ द्रष्टव्य- 'बहुलं छन्दसि' नामक सूत्र पाणिनि अष्टाध्यायी में यत्र तत्र फैले हैं।

१३ Chips from a vedic workshop. Vol- I, Maxmullar P.- ८४

१४ तनूनपादसुरो विश्ववेदा देवो देवेषु देव- यजु. २६/१२ अयं देवानामसुरो विराजति। अथर्व. १/१०/१

१५ महत्तन्नाम गुहां पुरुस्पृयेन भूतं जनयो येन भव्यम्। ऋग् १०/५५/२ त्वामग्ने अंगिरसो..... महत्तत्त्वामाहुः। ऋग्. ५/११/६ महत्तद्विष्णो असुरस्य नाम ऋग्. २/३८/४

यह तथ्य सामवेद के ब्राह्मण मन्त्र ब्राह्मण^{१६} और गोभिल गृह्यसूत्र में आए 'अहुर' शब्द से भी स्पष्ट होती है।^{१७} वेद शब्द अवेस्ता में 'वएदम्' के रूप में मिलता है। वदएम् को आचार्यों ने विदलृ लाभे धातु से निष्पन्न किया है जिससे वेद शब्द भी सिद्ध किया जाता है। यदि वेद की एक अन्य व्युत्पत्ति विदलृ-ज्ञाने से इसको ज्ञान अर्थात् पवित्र गाथा के रूप में समझा जा सकता है और इस अर्थ में यह गाथा में वीदुश्^{१८} वएदम्नो^{१९} वएदा^{२०} वीदुये^{२१} वीद्वाओ^{२२} वीस्तो^{२३} के रूप में मिलता है।^{२४} इनको हम क्रमशः वेदम्, वेदाः, वेदेन, वेदमनो, वेदोक्तम्, वेदेमनो, वेदिष्ठो के भाव वाला मान सकते हैं।^{२५}

इतना ही नहीं यस्त ४५/५ में ईश्वर द्वारा वेद के ईश्वरीय वाणी और उससे प्रकट होने का स्पष्ट संकेत प्राप्त होता है-

अत फ्रवख्वाया ह्यत् मोइ प्रओत सेंपन्तो तेंमो।

वच स्रूथ्याइ ह्यत् मरतएइब्बो महिश्तेंम्।।

अर्थात् अब मैं तुम्हें उसका शुभ आशीष क्या है उसके विषय में बताऊँगा। वह 'शब्द' है जो नैतिकता को जानने के लिए सर्वोत्तम व आवश्यक है।^{२६}

यहाँ पर आये 'वच' शब्द का अर्थ 'वेद' किया जाए तो इस आयत और इससे पूर्व की आयत का भाव यजुर्वेद^{२७} के उस मंत्र के भाव से साम्य रखता है, जहाँ वेद को वाचम् कहकर मनुष्य मात्र के लिए कल्याण करने वाला कहा गया है। 'कल्याण' का भाववाचक यहाँ 'सर्वोत्तम' है।

इसी प्रकार यस्त ४५/३, ४, ६ में क्रमशः वीद्वाओ, वएदा, वीस्तो के रूप में वेद को प्रथम सर्वोत्तम, सबसे बड़ी शिक्षा, उनका ईश्वर द्वारा जो अहुर के उपासकों को अनुदान में ईश्वर द्वारा दी गई है। यस्त १/१/१० कहता है कि-त्वम् मज्दा अहुरा प्रोमा सीषा थ्वह्यात वओचइहे।

अर्थात् हे अहुर मज्दा तुमने मुझे अपने आशीर्वाद पूर्ण वाणी से शिक्षित किया। यह प्रमाण भी वेद वएदा, वच, वाच, वेद के ईश्वर द्वारा प्रदत्त होने का सूचक है।^{२८}

वेद के अनेक शब्द अल्प परिवर्तन परन्तु समान अर्थ के साथ अवेस्ता में मिलते हैं। यथा-समान वर्तनी व अर्थ वाले शब्द^{२९}

१६ १/६/२१

१७ The vedic origin of zorastrianism- R.R. Kashyap i'B' ११

१८ गाथा- २९/१० व ३२/११

१९ गाथा- २८/४,

२० गाथा- २८/५

२१ गाथा- २८/१०

२२ गाथा- २९/३

२३ गाथा- २९/६

२४ गाथा- २९/६ व २९/८

२५ The Vedic origin of zorastrianism, R.R. Kashyap, Page ५८

२६ The Vedic origin of zorastrianism, R.R. Kashyap, Page ६२

२७ यथेमां वाचं कल्याणीमिदं निजनेभ्यः ३६/३

२८ The Vedic origin of zorastrianism, R.R. Kashyap, Page ६४

Digitized by S3 Foundation USA

क्रम	वैदिक भाषा	जन्द भाषा	अर्थ
१.	पशु	पशु	पशु
२.	उक्षन	उक्षन	बैल
३.	मक्षी	मक्षी	मक्खी
४.	यव	यव	जौ
५.	नमस्ते	नमस्ते	नमस्ते
६.	अथर्वन	अथर्वन	पुरोहित
७.	इन्द्र	इन्द्र	देवता
८.	गाथा	गाथा	भजन
९.	इष्टि	इष्टि	पूजन क्रिया
१०.	युज	युज	जोड़ना

२. समान अर्थ वर्तनी में अल्प परिवर्तन वाले शब्द^{३०}

१.	अहि	अजि	सर्प, पाप, दानव
२.	वैद्य	वैध्य	चिकित्सक
३.	इषु	इशु	बाण
४.	रथेष्ठ	रथेस्थ	रथसवार
५.	अथ	अथा	इसलिए
६.	यौष्मक	यूष्माक	तुम, तुम्हारा
७.	द्वारम्	द्वरम्	द्वार
८.	स्तुतस्	स्तुतो	प्रार्थना
९.	चिद्	चीत्	भी
१०	यज्ञ	स्न	यज्ञ

भाषा विन्यास पर वैदिक प्रभाव-

उक्त प्रकार के शब्द अवेस्ता में बहुत बड़ी संख्या संख्या में हैं। इसी प्रकार वैदिक संस्कृत और जन्द-अवेस्ता के भाषा विन्यास में भी अनेक समानताएं हैं। अवेस्ता की भाषा व्याकरण में संस्कृत के समान तीन लिंग

२९ The vedic origin of zoroastrainism, R.R. Kashyap, P- ३०-३१

३० धर्म का आदिस्त्रोत, प. गंगा प्रसाद जी, - पृ. ७१-७४

- पुल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग, नपुंसकलिङ्ग, तीन वचन- एकवचन, द्विवचन, बहुवचन। संज्ञा व विशेषण की आठ विभक्तियाँ और ऐवा (एक) और बेवर (१००००) के अतिरिक्त अन्य संख्याओं के नाम समान हैं।^{३१}

संस्कृत के समान उपसर्ग और प्रत्यय लगाकर अनेक शब्दों का निर्माण करना, सन्धि के नियम आदि व्याकरण सम्बन्धी नियम उपनियम अवेस्ता की भाषा में भी समान रूप से उपयोग में लाए जाते हैं। पं. गंगा प्रसाद जी ने जन्द के कुछ वाक्यांशों का अनुवाद प्रस्तुत किया है।^{३२} यथा-

वैदिक भाषा जन्द भाषा

विश्व दुरक्षो जिन्वति *विस्प दुक्ष जनैति*

विश्व दुरक्षो नश्यति *विस्प दुक्ष नशैति*

यदा शृणोति एतो *यथा हणोति ऐषाम् वाचम्*^{३३}

अर्थ- प्रत्येक बुरी आत्मा का नाश हो जाता है, प्रत्येक बुरी आत्मा भाग जाती है जब वह इन शब्दों को सुनता है।

एक अन्य उदाहरण है-

इत्था अत्र (आत्) यजामहे असुरम् *इथा आत् यज महदे ? अहुरम्*

महान्तम् यः गाम् च इषम् च *मज्दामं य गांमचा अषम्*

अदात् और्वियाश्च वस्ती २ (च) रूपश्च अदात् *चा दात् अपस्चा दात् उर्वरा*

भूमिम् च विश्वा च वसूनि। *आस्चा बहुहीश रओचाओस्चा*

दात् बमीन्वा वीस्पाचा वोहू।^{३४}

विद्वानों के अनुसार और्वियाश्च और वसूनि के अतिरिक्त सभी शब्द संस्कृत व्याकरणानुसार शुद्ध हैं।^{३५} इन दोनों उदाहरणों व अन्य साक्षियों से पता लगता है कि अवेस्ता की भाषा में वचन, लिङ्ग, विशेषण, विभक्ति, संख्याएं, उपसर्ग, प्रत्यय, सन्धि और शब्दान्त आदि के साथ-साथ छन्दों के प्रकार भी वैदिक भाषा से समानता रखते हैं। यस्त्र ३१/८ (जो ऊपर उद्धृत किया गया है) में आठ-आठ अक्षर के तीन पाद हैं जो वैदिक छन्द गायत्री के समान व्यवस्था वाला है।^{३६} जन्द-अवेस्ता के गाथा भाग में गायत्री आसुरी उष्णिक् आसुरी और पंक्ति आसुरी मिलते हैं, जबकि वेद में छन्दों के ५६ प्रकार मिलते हैं। वैदिक सोम औषधि का वर्णन भी अवेस्ता में प्राप्त होता है। अवेस्ता में वेद के अनुसार ही सोम का दिव्य रूप स्वीकार किया गया है, वहां इसे 'सोमरुख' संज्ञा दी गई है। जिस प्रकार वेद में इन्द्र और अग्नि के बाद सबसे अधिक सोम पर सूक्त समर्पित हैं, उसी प्रकार अवेस्ता में भी कई सूक्तों में इसकी स्तुति की गई है। वेद के समान ही अवेस्ता में भी सोम को औषधि रूप में प्रसारित किया गया है। अवेस्ता का यह प्रमाण उन लोगों के विरुद्ध एक पर्याप्त साक्ष्य है जो अपनी विद्वता के दंभ के फलस्वरूप सोम को आधुनिक शराब का रूप देना चाहते हैं।

३१ The Vedic origin of zoroastrianism, R.R. Kashyap, Page १२

३२ धर्म का आदिस्त्रोत, पं. गंगा प्रसाद जी पृ. ७५-७६

३३ The vedic origin of zoroastrianism, R.R. Kashyap i B 7&10] ; Lu& ३१८

३४ गाथा- ३७/१

३५ The vedic origin of zoroastrianism, R.R. Kashyap, P-१६

३६ धर्म का आदिस्त्रोत- पं. गंगा प्रसाद, पृष्ठ ७७

जन्द अवेस्ता पर वेद का प्रभाव उस समय और भी अधिक दृढ़ता व व्यापकता लिए हुए दिखाई देता है जब हम उसमें दार्शनिक, सामाजिक व धार्मिक तथ्यों के अतिरिक्त वेद मंत्रों के अंशों को ज्यों का त्यों समान अर्थों के साथ उद्धृत हुआ पाते हैं।^{३७} जैसे-

अह्मा यासा नमंहा उस्तानजस्तो रफ्रंघ्रह्मा (गाथा १/१/१)

ऋअस्य याचा नमसा उत्तानहस्तो रफ्रग्रस्यद्ध

गाथा का यह वचन ऋग्वेद ६/१६/४६ में इस प्रकार मिलता है- उत्तानहस्तो नमसा विवासेता॥

यहां गाथा व वेद में आए समान वाक्यांशों का अर्थ समान है। यथा- हाथ ऊपर उठाकर हृदय से उसकी उपासना करो। इसी अर्थ के साथ गाथा का यह वाक्यांश यजुर्वेद १८/७५ में भी प्राप्त होता है 'उत्तानहस्ता नमसोपसद्य'।^{३८} गाथा २/२/३ का वाक्यांश है कस्ता जांथा पता। यजुर्वेद १७/२७ के यो न पिता जनिता यो विद्याता व अथर्ववेद २/१/३ के स न पिता जनिता का अनुवाद मात्र है वह सृष्टिकर्ता व रक्षक है।

इसी प्रकार यस्न- ५४/२/१ का वाक्यांश अइर्यमनम् यजमइदे अथर्ववेद अर्यमणं यजामहे (१४/१/१७) अर्यमन् को हम स्तुति द्वारा बुलाते हैं।^{३९}

यस्न ६५/११ में आया 'आपो यासामि' जैसे ज्यों का त्यों ऋग्वेद १०/१/५ 'अपो याचामि' सुलेख के रूप में लिख दिया गया प्रतीत होता है।^{४०}

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि जन्द-अवेस्ता का लेखक पूर्ण रूप से वेद और उसकी विचारधारा का पोषक था। वह वैदिक मतानुसार ही धर्म की कुरीतियों का नाश करके वैदिक धर्म का प्रचार-प्रसार करने में संलग्न था। इसी कारण उसने वैदिक विचारधारा ही नहीं अपितु वेद मंत्रों को भी अपने ग्रन्थ का आधार बनाया। इस विवेचन से जहां पारसी मत पर वेद के प्रभाव का पता लगता है। वहां मनु का 'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्' व महर्षि दयानन्द का 'वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है' कथन सत्य सिद्ध होता है।

३७ वेद, अवेस्ता और सोम औषधि, उमेश कुमार सिंह द्वारा प्रस्तुत विश्व वेद सम्मेलन नवम्बर २००९, गुंकां विज्ञानविद्यालय की गुरुकुल शोध पत्रिका विशेषांक में पृष्ठ ६२ पर प्रकाशित शोध लेख

३८ The vedic origin of Zoroastrianism, R.R. Kashyap, P- ९४

३९ The ethical conception of Gatha, J.M. Chatterji- P- १३२

४० तदेव पृष्ठ २०१ The vedic origin of Zoroastrianism, R.R. Kashyap, P- ९४

वैदिक वाङ्मय में आत्मदर्शन

डॉ० तुलसी देवी^१

जीवन भौतिक और आध्यात्मिक तत्त्वों का मिश्रित रूप है। भौतिक सृष्टि का मूल 'प्रकृति' और 'प्रकृति' निर्मित शरीर को जीवन्त बनाने वाला आत्मतत्त्व है। 'सांख्य' ने सृष्टि के मूल प्रकृति और पुरुष (आत्मा) के संयोग को पट्ट-अन्धवत् संयोग माना है।^२ तात्पर्य यह है, कि जिन दो मूल तत्त्वों से सृजन की प्रक्रिया पूर्ण होती है, उनमें से एक (भौतिक तत्त्व) जड़ है और दूसरा चेतन। जड़ में दर्शन की सामर्थ्य नहीं है। देखने वाला आत्मा है, क्योंकि वह चेतन है। शरीर में अवतरित होने के बाद आत्मा की यात्रा भौतिक जगत् से प्रारम्भ होती है; क्योंकि भौतिक पदार्थों के बिना शारीरिक धर्म का निर्वाह सम्भव नहीं है। अत एव, आत्मा प्रथमतः पदार्थ-दर्शन की ओर अग्रसर होती है। परन्तु जब तक आत्मा का दर्शन नहीं होता, तब तक जीवन का उद्देश्य पूर्ण नहीं हो पाता। परम शान्ति और आनन्द की प्राप्ति नहीं हो पाती,^३ जिसे पाने के लिए मनुष्य जीवन भर छटपटाता है। भौतिक सुख आते और चले जाते हैं, अट्टहास करते हुए। भौतिक-जीवन के इस कटु यथार्थ से परे अध्यात्म जगत् है, जहाँ शान्ति और आनन्द के साथ-साथ ऊर्जा का अजस्र और अक्षय भण्डार है। वह ऊर्जा जिससे लोक-जीवन की यात्रा भी सुगम हो जाती है।^४ वैदिक ऋषि उद्घोष करते हैं कि मधु का, आनन्द का स्रोत है वहाँ।^५ उसको पाने का मार्ग है- आत्मदर्शन अर्थात् आत्मा का दर्शन। इसके अतिरिक्त मुक्ति का दूसरा कोई मार्ग नहीं है।^६ विचारणीय प्रश्न है कि आत्मा का दर्शन कौन करेगा? देखने वाला तत्त्व तो केवल एक है और वह आत्मा है। तो क्या आत्मा ही आत्मा का द्रष्टा है? निःसन्देह शास्त्र कहते हैं कि आत्मा से आत्मा का दर्शन करे,^७ 'स्व' का दर्शन करे, द्रष्टा 'स्व' में उतर जाए, अपने स्वरूप में स्थित हो जाए।

आत्मा के दर्शन का आत्मा से पृथक् कोई साधन नहीं है। उपनिषद् के ऋषि कहते हैं- 'जिससे यह सब जाना जाता है, उसको किससे जानें?'^८ अपने शुद्ध स्वरूप का जानना नहीं होता, उसमें तो स्वरूप-स्थित होती है। अत एव आत्मदर्शन का अर्थ आत्मा के द्वारा आत्मा की अनुभूति है, 'स्व' की, अनुभूति।^९ आत्मा वै यज्ञः^{१०} इत्यादि वैदिक वाक्यों से यह पूर्णतः स्पष्ट होता है कि वैदिक ऋषियों की दृष्टि में उपास्य तत्त्व 'आत्मा' है। अपने

१ रीडर-संस्कृत-विभाग, म०गाँ०बा० पी०जी० कॉलेज, फिरोजाबाद उ०प्र०

२ सांख्यकारिका - २१

३ तैत्तिरीयो०- २.७ क रसो वै सः, रसं हयेवार्यं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति। ख कठो० २.२.१२, १३-तमात्मसंस्थं येऽनुपश्यन्ति

धोरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्, तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्

४ क- तैत्तिरीयो-२.८. ख- मुण्डको०-३.१.९ यस्मिन् विशुद्धे विभक्त्येष आत्मा।

५ ऋग्वेद - १.१५४.५ विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः।

६ यजुर्वेद - ३१.१८ तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।

७ कठो० - १.२.२२ महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति।

८ योगसूत्र - १.३ तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।

९ योगसूत्र - १.३ तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।

१० बृहदा० - २.४ येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्।

११ कठो - १.२.२३ आत्मा विवृणुते तन् स्वरूपम्।

भीतर स्थित यही तत्त्व जानने योग्य है।^{१२} जो साधक अपने हृदय में स्थित आत्मा को निर्मल मन के द्वारा चिन्तन करके जान लेते हैं, वे अमृत हो जाते हैं।^{१३} सदा के लिए जन्म-मरण के दुःखों से छूट जाते हैं।^{१४} इसके विपरीत जो केवल भौतिक सुखों में लीन रहते हैं; और आत्म-स्वरूप को पहचानने का प्रयास नहीं करते, वे वस्तुतः अपनी आत्मा का हनन करते हैं।^{१५}

शृण्वन्तो पि बहवो यं न विद्युः,^{१६} नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः^{१७} इत्यादि मन्त्रों के द्वारा वैदिक ऋषियों की यह अवधारणा मुखर होती है कि आध्यात्मिक जीवन की पूर्णता के लिए मात्र शास्त्र-ज्ञान का श्रवण, मनन आदि पर्याप्त नहीं है, इसके लिए अध्यात्म-योग की आवश्यकता है। ध्यान के द्वारा आत्मा में प्रवेश करके ही सत्य का सम्यक् दर्शन किया जा सकता है; क्योंकि वह अत्यन्त गूढ़ (दुर्दर्श), जीवात्मा में व्याप्त, हृदयाकाश में स्थित और सूक्ष्मातिसूक्ष्म है।^{१८} प्रकारान्तर से 'केनोपनिषद्' में इसी आशय को व्यक्त किया गया है।^{१९} 'शतपथ ब्राह्मण' में उल्लेख मिलता है कि शरीर में तो तेजोमय, अमृतमय पुरुष है, वही अध्यात्म है, जो आत्मा है, वह अमृत है तथा यह सब कुछ ब्रह्म है।^{२०} वैदिक वर्णन-शैली में 'आत्मा पद जीवत्मा और परमात्मा'^{२१} दोनों अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। 'ईशावास्योपनिषद्' के उपदेश ऋषि कहते हैं कि हिरण्यपात्र से सत्य का मुख ढका हुआ है। सत्यान्वेषण की जिज्ञासा को धारण करने वाला सत्यधर्मा साधक प्रार्थना करता है कि हे प्रभु! आप इस आवरण को दूर कर दो, जिससे कि मैं सत्य-स्वरूप का साक्षात्कार कर सकूँ।^{२२}

साक्षात्कार की दृष्टि प्राप्त करने के लिए वैदिक वाङ्मय में विविध रूपकों के माध्यम से विवेचन प्राप्त होता है। यथा प्रणव धनुष है, आत्मा बाण और ब्रह्म लक्ष्य।^{२३} इस उद्धरण में ईश्वर नाम (प्रणव) रूपी धनुष के साहचर्य से आत्मा रूपी बाण को परमात्मा में संलग्न करने का निर्देश दिया गया है। 'श्वेताश्वतरोपनिषद्' में ध्यान रूप मन्थन के अभ्यास से काष्ठ में व्याप्त अग्नि के समान आत्मदर्शन की प्रक्रिया वर्णित है।^{२४} वैदिक ऋषियों का अभिप्राय यह है कि आत्मदर्शन के लिए जिस आभ्यन्तर दृष्टि को विकसित करने की आवश्यकता है, जिसके द्वारा आन्तर चेतना अर्थात् आत्मा का दर्शन होता है, उसके लिए ध्यानात्मक अभ्यास अपरिहार्य है।^{२५}

१२ शतपथ ब्रा० - ६.२.१.७

१३ श्वेता० - १.१२ एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थम्।

१४ वही - ४.२० हृदा हृदिस्थं मनसा य एनमेवं विदुरमृतास्ते भवन्ति।

१५ यजु० - ४०.३ तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महोना जनाः।

१६ कठो० - १.२.७

१७ वही - १.२.२३

१८ वही - १.२.१२

१९ केनो० - १.३.८ न तत्र चक्षुर्गच्छति।

२० शतपथ ब्रा० - ४.५.५.१

२१ वही - ४.२.२.१ सर्वं ह्ययमात्मा।

२२ ईशावास्यो० - १५ हिरण्यमयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्। तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥

२३ मुण्डको० - २.२.४ प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।

२४ श्वेता० - १.१४ स्वदेहमरणं कृत्वा.....।

२५ यजु० - ११.२ युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे।

इस अणु आत्मा को चित्त से जानना चाहिए^{२६} इत्यादि वर्णन परोक्ष को प्रत्यक्ष अर्थात् अनुभूतिगम्य बनाने का निर्देश देते हैं। कहने का आशय यह है कि परोक्ष अर्थात् अन्तरात्मन् पुरुष के साक्षात्कार के लिए बाह्य जगत् में अनुरक्त चित्त को अन्तर्मुखी बनाकर आत्मा में स्थिर करना चाहिए। अन्तर्निमग्नता ही आत्मदर्शन की योग्यता का आधार है। मनुष्य-शरीर में विराजमान गूढ़ देवात्म तत्त्व^{२७} का रहस्योद्घाटन करते हुए 'अथर्ववेद' के ऋषि ने देवपुरी (शरीर) को अष्टचक्रा कहकर यही संकेत दिया है कि क्रमशः ऊर्ध्वगामी अष्टचक्रों में ध्यान केन्द्रित करने से ऊर्ध्वोन्मुख होती हुई चेतना द्वारा शुद्धात्मा का दर्शन होता है।^{२८} द्रष्टा, जो देखने की शक्तिमात्र है, स्वरूपतः शुद्ध और निर्विकार होता हुआ भी विषयासक्त चित्त के सानिध्य से चित्त की वृत्तियों के अनुसार देखता हुआ सुख-दुःखादि का अनुभव करता है।^{२९} ऐसे पुरुष को तत्त्ववेत्ता मनीषियों ने भोक्ता,^{३०} कर्ता^{३१} आदि नामों से अभिहित किया है। इसके विपरीत चित्त से किसी प्रकार का सम्बन्ध न रहने पर जीवात्मा का सुख-दुःखादि से मुक्त होकर अपने शुद्ध-स्वरूप में पुनः प्रतिष्ठित हो जाने का नाम आत्मदर्शन है। इसी को कैवल्य की संज्ञा दी गई है।^{३२}

शरीर में रहने वाला अशरीरी आत्मा सूक्ष्म एवं गुह्यतम है।^{३३} अत एव, इसकी प्राप्ति के साधन भी सूक्ष्म एवं आन्तरिक हैं। दार्शनिक भाषा में इन्हें अन्तःकरण^{३४} कहा गया है, जिसका अर्थ है भीतरी साधन। इनमें से प्रमुख मन है। मन जीवात्मा को बाह्य जगत् से जोड़ने वाला प्रमुख उपकरण है। सभी ज्ञान मन के होने पर होते हैं। इसलिए बन्ध का कारण होने के साथ-साथ 'मोक्ष' का कारण भी मन को ही कहा गया है।^{३५} मूल बात यह है कि मन को नकार नहीं सकते हैं। मन को विषयों के चिन्तन से पृथक् कर आत्मानुरागी बनाने का अभ्यास करने पर निर्मल हुए मन से आत्मा का दर्शन किया जा सकता है।^{३६}

मन सतत प्रवाहमान विचारों का एक पुंज है। शान्त एकान्त भाव से ध्यान में बैठकर निरन्तर आते-जाते विचारों को तटस्थ भाव से देखने का अभ्यास करने पर विचारों का क्रम शनैः शनैः रुकने लगता है और एक स्थिति में आकर विचार शान्त हो जाते हैं, तब केवल आत्मतत्त्व की अनुभूति होती है। यही आत्मा का दर्शन है, आत्मा से जुड़ना है, आत्मा से योग है। शरीर और मन से परे अनुभव में आने वाला यही आत्मा है। अमृत को चाहने वाला कोई धीर (संयमी) और विवेकीपुरुष, ज्ञान की निर्मलता से जिसका अन्तःकरण शुद्ध हो चुका है वह वह आवृतचक्षु होकर इस आत्मा को देख पाता है।^{३७} तत्त्वदर्शी ऋषियों ने निगूढ़ देवात्मशक्ति को ध्यानयोग से

२६ मुण्डको० - ३.१.९ एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः।

२७ अथर्व० - १०.२.३२.३३

२८ वही - १०.२.३१ अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या। तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः॥

२९ योगसूत्र - २.२० द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः।

३० कठो० - १.३.४ आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः।

३१ भगवद्गीता - १३.२९ यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति।

३२ योगसूत्र - ४.३४

३३ क- कठो० - १.२.२२ अशरीरं शरीरेषु। ख- प्रश्नो० - ३.६ हृदि ह्येष आत्मा।

३४ सांख्यकारिका - ३३

३५ ब्रह्मविन्दु उप० - १.२ न देहो न जीवात्मा नेन्द्रियाणि परन्तप। मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः॥

३६ कठो० - २.१.११ मनसैवेदमाप्तव्यम् ...।

३७ कठो० - २.१.१ कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृतचक्षुरमृततत्त्वमिच्छन्। ख मुण्डको० - ३.१.८ ज्ञानप्रसादेन

देखा।^{३८} इत्यादि श्रुति-वाक्यों से आत्मदर्शन के अधिकारी का ज्ञान होने के साथ-साथ यह भी विदित होता है कि प्रत्यक् आत्मा ध्यानगम्य है। ध्यान में मन को साधने की प्रक्रिया प्रमुख रूप से विद्यमान है। मन उस अन्तरिन्द्रिय का नाम है, जो हमें बाह्य जगत् से जोड़ने के साथ ही अध्यात्म से सम्बद्ध करने में भी पूर्ण समर्थ है। मन का स्वरूप संकल्प अर्थात् चिन्तन करना है।^{३९} चिन्तन की दृष्टि जब बहिर्मुख से अन्तर्मुख होती है, तब वह 'ध्यान' में परिणत होती है।^{४०} वैदिक काल से मानस संयम को परमशान्ति का स्रोत माना जाता रहा है। वैदिक ऋषि मन के नियन्त्रण द्वारा ही अनन्त शक्तियों के स्वामी बन सके थे। 'यजुर्वेद' के ऋषि कहते हैं - हे अमृतपुत्रो ! सुनो ! जिस उपासना के द्वारा हमारे पूर्वज मोक्ष-सुख को प्राप्त हुए, उसी उपासना से तुम लोग भी उन सुखों को प्राप्त करो।^{४१} वह उपासना कैसे की जाए, इस पर प्रकाश डालते हुये साक्षात्कृतधर्मा ऋषि कहते हैं जब पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ मन के साथ स्थिर हो जाती हैं और बुद्धि भी चेष्टारहित हो जाती है, उसको परमगति कहते हैं।^{४२} इसी का नाम योग है।^{४३}

उपनिषदों का यह वर्णन आत्मसाक्षात्कार की चरम स्थिति का परिचायक है। मन का इतना संयम कि बुद्धि निश्चेष्ट हो जाए। दृष्टा भाव भी जहाँ समाप्त हो जाए। 'आत्मदर्शन स्वरूप स्थिति' में परिणत हो जाए, क्योंकि उस समय साधक प्रमाद से सर्वथा रहित हो जाता है। अपने स्वरूप को भूला हुआ जो वृत्ति सारूप्य प्रतीत हो रहा था, उससे पूर्णतः रहित शुद्धात्म रूप में स्थित हो जाता है।^{४४} पातंजल योगदर्शन में इसे 'निर्बीज समाधि'^{४५} और असम्प्रज्ञात समाधि^{४६} कहा गया है। महर्षि पतंजलि ने मन को एकाग्र करने की प्रक्रिया दो रूपों में वर्णन की है। सर्वप्रथम, मन को किसी एक विषय में निरन्तर इस प्रकार लगाए रखना कि दूसरा विचार न आने पाए।^{४७} इस अभ्यास से 'सम्प्रज्ञात-समाधि की सर्वोच्च अवस्था प्राप्त होने पर सत्वगुण की प्रधानता से योगी का चित्त इतना निर्मल हो जाता है कि उसे प्रकृति पर्यन्त समस्त पदार्थों का यथार्थ ज्ञान हो जाता है। इसे ज्ञानप्रसाद^{४८} अध्यात्मप्रसाद^{४९}, ऋतम्भराप्रज्ञा^{५०}, विवेकख्याति^{५१} इत्यादि नामों से अभिहित किया गया है। यही वह 'दिव्य चक्षु' है, जिसे प्राप्तकर सारा मोह नष्ट हो जाता है।^{५२} साक्षात् अनुभूत सत्य को धारण करने वाली इस प्रज्ञा से चित्त का

३८ श्वेता० १.३ ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्।

३९ सांख्यकारिका - २७

४० योगसूत्र - ३.१२ तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्।

४१ यजुर्वेद - ११.५ शृण्वन्तु विश्वेऽमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः।

४२ कठो० - २.३.१० 'यदा पंचावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह। बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम्।

४३ वही - २.३.११

४४ वही - २.३.११ अप्रमत्तस्तदा भवति.।

४५ योगसूत्र - १.५१

४६ व्यासभाष्य - योगसूत्र - १.५।

४७ योगसूत्र - ३.२ तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्।

४८ मुण्डको - ३.१.८.....। ज्ञानप्रसादेन.।

४९ योगसूत्र - १.४७ निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः।

५० वही - १.४८

५१ वही - २.२६

५२ भगवद्गीता - ५.१-१२ दिव्यं ददामि ते चक्षुः.।

आत्माध्यास छूट जाता है और योगी को चित्त से पृथक् आत्मा का साक्षात्कार होता है।^{५३} उसकी आत्मभाव-भावना कि मैं कौन हूँ? क्या हूँ? इत्यादि निवृत्त हो जाता है।^{५४}

‘विवेकख्याति’ चित्त की ही एक वृत्ति है। अत एव ‘महर्षि पतंजलि’ कहते हैं, कि यह ‘स्वरूप स्थिति’ नहीं है, इत्यादि के रूप में ‘परवैराग्य’ द्वारा चित्त की इस ज्ञानत्मिका वृत्ति का भी निरोध हो जाने पर सभी वृत्तियों का निरोध होने से ‘आत्मस्वरूप में अवस्थिति’ घटित होती है। ‘आत्मदर्शन’ और ‘स्वरूप स्थिति’ के इसी सूक्ष्म अन्तर को श्रुतियों में ‘बुद्धिश्च न विचेष्टते’ कहकर प्रतिपादित किया गया है।

५३ मुण्डको० - ३.१.८ ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः।

५४ योगसूत्र - ४.२५ विशेषदर्शिनः आत्मभावभावना विनिवृत्तिः।

दास-दस्यु एवं शूद्र : वेद के सन्दर्भ में

डॉ० राजेन्द्र विद्यालंकार^१

संक्षेपिका प्राचीन भारतीय इतिहास में दास-दस्यु और शूद्र के सन्दर्भ बहुत उलझे हुए हैं। वेदसंहिताओं सहित विशाल वैदिक साहित्य में दास-दस्यु और शूद्रों के अनेक उल्लेख हैं। वेद में उपलब्ध दास-दस्यु आदियों के विरुद्ध आर्यों द्वारा की जाने वाली कठोर कार्यवाही के उल्लेख को अनेक विद्वान्, समालोचक और इतिहासकार शूद्रों के प्रति किए जाने वाले घृणापूर्ण व्यवहार की अनुशंसा मानते हैं। वस्तुतः यह सही नहीं है। वेद में उल्लेखित दस्यु और दास, शूद्र नहीं हैं। वस्तुतः वेदवर्णित 'दस्यु' ऐसा व्यक्ति है जो अपने आचरण से समाज की रचनात्मक और सभ्य प्रवृत्तियों को क्षति पहुंचाता है जबकि मन्त्रों में 'दास' पद का अनेक अर्थों में प्रयोग हुआ है। इन पदों से कथित व्यक्ति वर्णगत शूद्र नहीं है। वेद की ऋचाएं शूद्रों के प्रति बहुत उदारता और सम्मान अभिव्यक्त करती हैं। श्रम के प्रति उच्चस्तरीय सम्मान वेद में विद्यमान है। लिंग, जाति, रंग या व्यवसाय के आधार पर किसी के साथ भेदभाव वेदसंहिताओं में नहीं किया गया है। वेद ने समाज में निम्न समझे जाने वाले विभिन्न कार्यों को करने की न केवल प्रेरणा दी है अपितु उन्हें करने वालों को बहुत महत्त्वपूर्ण विशेषणों से अभिहित भी किया है। वैदिक सूक्तों में ऋषि और राजा तक भी श्रमसिद्ध कार्यों को उत्साहपूर्वक सम्पादित करते दिखाई पड़ते हैं। वेदमन्त्रों में नहर, तालाब, कूपखनन, वस्त्रवयन, वर्म, प्रत्यंचा का निर्माण, सड़कनिर्माण, तक्षकर्म, औषधनिर्माण, कृषिकर्म, पशुपालन, धातुओं व मृत्तिका से विभिन्न उपयोगी सामग्री का निर्माण तथा गायन, वादन सहित अनेक राजकीय और सामाजिक सेवाकार्यों को करने वालों की प्रशंसा करते हुए उनसे अभ्यर्थना की गई है। सामाजिक सौहार्द और सामंजस्य का एतादृशी अंकन सभ्यता के शिखर का सन्दर्शन कराता है। निष्कर्षतः वेदसंहिताओं में वर्तमानकालिक सामाजिक जातीय विकृतियों को या उनके बीज को खोजना साहित्यिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और ऐतिहासिक अनैतिकता है। हाँ! उत्तरवर्ती साहित्य निश्चय ही न्यूनाधिक रूप से इसके लिए उत्तरदायी है।

भारत के सामाजिक इतिहास में वर्ण-व्यवस्था का विशेष महत्त्व है। प्राचीन भारतीय समाज के राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक संगठन की रूपरेखा वर्ण-व्यवस्था के आधार पर ही विकसित हुई। मूलतः वर्णों का विभाजन व्यक्तिगत स्वभाव पर आधारित है, जो अपरिवर्तनीय नहीं है। सामाजिक आवश्यकताओं और वैयक्तिक कर्मों के अनुसार लोगों को विभिन्न वर्णों में बांट दिया गया है। सम-विषम पथ पर संघर्ष-विघर्ष का सामना करते हुए देशकाल जन्य अनेक संशोधनों के साथ यह प्रणाली सुदीर्घकाल तक चलती रही। इस मध्य वर्णों का परस्पर एक दूसरे के ऊपर प्रभाव घटता-बढ़ता रहा। भारतीय इतिहास में प्रभाव एवं प्रभुता के लिए वर्णों का यह पारस्परिक सम्बन्ध एवं संघर्ष सामाजिक इतिहास के लिए उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना राजनीतिक इतिहास में सिंहासनो के लिए राजवंशों का पारस्परिक सम्बन्ध एवं संघर्ष। वर्णगत इतिहास का एक साहित्यिक पक्ष भी है। वर्णगत सौहार्द या वैमनस्य का सांकेतिक या स्पष्ट निदर्शन हमें साहित्य में ही उपलब्ध होता है। वर्तमान में विमर्श का यह एक प्रमुख बिन्दु है कि शूद्रों के प्रति अन्य वर्णस्थों को आक्रामक व अनुदार बनाने के लिए कौन सा

^१ एसोसिएट प्रोफेसर, संस्कृत एवं प्राच्यविद्या संस्थान, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र

साहित्य अधिक उत्तरदायी है? क्या प्रथम ग्रन्थ वेद भी इस वैमनस्य के उद्भावक और समर्थक हैं? प्रस्तुत आलेख इसी सन्दर्भ के तथ्यात्मक आकलन का एक प्रयास है।

वैदिक ऋचाओं में वर्णभेद केवल कार्य विभाजन के आग्रह से किया गया है। वर्ण के आधार पर सामाजिक घृणा और आर्थिक शोषण का किंचित् मात्र भी संकेत वैदिक ऋचाओं में नहीं है। ये विकृतियाँ उत्तरवर्ती स्मृतिग्रन्थों एवं पुराणग्रन्थों की देन हैं। वर्ण को जातीय आधार देने का दुर्भाग्यपूर्ण श्रेय भी इन्हीं ग्रन्थों को जाता है। कई प्रसङ्गों में ब्राह्मणग्रन्थ, आरण्यकग्रन्थ, कल्प-साहित्य और अन्य-सूत्र साहित्य भी इन विकृतियों से स्वयं को मुक्त नहीं रख सका है, फिर पुराणों का तो कहना ही क्या। साम्प्रतिक शूद्रविमर्श मूलतः वैदिक साहित्य के इन्हीं दुर्भाग्यपूर्ण स्थलों पर केन्द्रित है। डॉ. अम्बेडकर ने विशाल वैदिक साहित्य का सघन आलोडन किया है। अपनी मीमांसा में उन्होंने निष्कर्ष निकाला है कि दलितों पर हुए लम्बे ऐतिहासिक अत्याचारों के लिए सम्पूर्ण वैदिक साहित्य उत्तरदायी है। उन्होंने इस पर बहुत दुःख व्यक्त किया है कि वर्तमान में इन्हीं शास्त्रों की निगरानी में अन्त्यजों पर धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अत्याचारों का सिलसिला चल रहा है। इसीलिए उन्होंने इन सब शास्त्रों को डायनामाइट से उड़ा देने का भी सुझाव दिया है। अपनी इस मीमांसा में डॉ. अम्बेडकर वेद-संहिताओं और इतर वैदिक साहित्य में कोई विभाजक रेखा खींचते दिखाई नहीं पड़ते हैं। समानरूप से उनका आक्रोश वेद-संहिताओं पर भी है। उन्होंने अपने अंग्रेजी में लिखे विश्रुत ग्रन्थ Who were the Shudras के संक्षिप्त हिन्दी अनुवाद शूद्रों की खोज - में शूद्रों के मूल स्वरूप एवं उनके चतुर्थ वर्ण में पहुँचने की सम्भाव्य स्थितियों का निबन्धन किया है। इसी ग्रन्थ के अन्त में निम्न दस प्रश्नात्मक स्थापनाओं, जिन्हें उन्होंने पहली कहा है, को उपस्थापित किया है :-

(१) यह कहा जाता है कि शूद्र अनार्य थे और आर्यों ने उनको लड़कर जीत लिया। यदि यह सत्य है तो यजुर्वेद तथा अथर्ववेद में ऋषिगण ने शूद्रों का गुणगान कैसे किया और वे उनका कृपापात्र क्यों बनना चाहते थे?

(२) यह कहा जाता है कि शूद्रों को वेदाध्ययन का अधिकार नहीं है। यदि यह सही है तो सुदास, जो एक शूद्र था, उसने कैसे ऋग्वेद के मंत्रों की रचना की?

(३) यह कहा जाता है कि (शूद्र को) यज्ञ करने का अधिकार नहीं है। तो सुदास ने अश्वमेध यज्ञ कैसे किया और शतपथ-ब्राह्मण में यह क्यों बताया गया है कि यदि यज्ञ करने वाला शूद्र हो तो उसका सम्बोधन कैसे होना चाहिए?

(४) शूद्रों को उपनयन का अनधिकारी बताया जाता है। यदि आदि से यह अधिकार शूद्रों को प्राप्त नहीं था तो इसके बारे में विवाद क्यों हुआ? बादरि और संस्कर गणपति यह क्यों कहते हैं कि शूद्रों को उपनयन का अधिकार है।

(५) यह भी कहा जाता है कि शूद्रों को धन-संचय करने का अधिकार नहीं था। यदि ऐसा माना जाये तो मैत्रायणी एवं काठक संहिताओं में शूद्रों को धनी एवं वैभवशाली कैसे बतलाया गया है?

(६) ऐसा माना जाता है कि शूद्र राज्य का अधिकारी बनने के लिए अयोग्य घोषित थे; तब महाभारत में शूद्रों के मन्त्री से राजा होने तक का उल्लेख कैसे मिलता है?

(७) यह कहा जाता है कि शूद्र का कार्य तीनों वर्णों की सेवा करना है। तब यह कैसे हो सकता है कि शूद्रों में से राजा हुए; जैसा कि सुदास और अन्य के बारे में सायणाचार्य ने वर्णन किया है?

(८) यदि शूद्रों को वेद पढ़ने का कोई अधिकार नहीं था, यदि उन्हें उपनयन का कोई अधिकार नहीं था, यदि उन्हें यज्ञ करने का कोई अधिकार नहीं था तो यह प्रश्न उठता है कि उन्हें उपनयन का, वेदाध्ययन का तथा यज्ञ करने का अधिकार क्यों नहीं दिया गया?

(९) शूद्रों का उपनयन-संस्कार होना, वेदों को पढ़ने की उनकी योग्यता, उनका यज्ञ करना वे सब शूद्रों के महत्त्व के थे या नहीं, ब्राह्मणों के लिए लाभ का अवसर प्रदान करने वाले अवश्य थे; क्योंकि वेदों को पढ़ाने एवं धार्मिक रीतियों के संचालन पर ब्राह्मणों का ही एकाधिपत्य था। यह ब्राह्मण वर्ग ही है जो शूद्रों को उपनयन का अधिकार, यज्ञ करने का अधिकार, वेदों को पढ़ने का अधिकार प्रदान कर, भारी शुल्क अर्जित करने के लिए खड़ा हुआ था। ब्राह्मण शूद्रों को ये सुविधा प्रदान न करने के लिए इतने दृढ़प्रतिज्ञ क्यों थे, जबकि उन्हें प्रदान करने से कोई हानि नहीं होनी थी, वरन् उनकी अपनी आय में ही वृद्धि होती।

(१०) यदि शूद्रों को उपनयन, यज्ञ और वेदों के अध्ययन का कोई अधिकार नहीं भी था; तब भी ब्राह्मण अपनी स्वविवेक-शक्ति से शूद्रों को ये अधिकार देकर उन्हें स्वीकृति प्रदान करा सकते थे? तब ये प्रश्न व्यक्तिगत ब्राह्मण के स्वतन्त्र चिन्तन के लिए क्यों नहीं छोड़े गये? यदि एक ब्राह्मण इनमें से कोई भी वर्जनीय कार्य करता था, तब उस पर दण्ड क्यों आरोपित किया जाता था?'

ये दस पहेलियां वस्तुतः स्वयं में उत्तर ही हैं। इन दस पहेलियों से स्पष्ट है कि डॉ. अम्बेडकर स्वयं यह मानते हैं कि वैदिक ऋचाएं शूद्र समुदाय का गुणगान करती हैं और शूद्र समझा जाने वाला सुदास भी ऋषि पदवी को प्राप्त है। वैदिक काल में शूद्रों का उपनयन होता रहा है तथा इस काल में शूद्र धनी एवं वैभवशाली भी रहे हैं, यहां तक कि उनके राज्याधिकार के भी उल्लेख हैं। डॉ. अम्बेडकर ने अन्यत्र भी यह स्वीकार किया है कि वैदिक संहिताएं शूद्रों के प्रति तिरस्कार एवं घृणा का पल्लवन नहीं करती हैं। इतनी स्पष्ट स्वीकारोक्ति होने के बावजूद वह क्यों वेदों में डायनामाइट लगा देने का सुझाव देते हैं?

वैदिक ऋचाओं में दास, दस्यु, कीकट, राक्षस, पणि आदियों की परिसम्पत्तियों को छीन लेने, उनके दुर्गों को जीत लेने, उन्हें बन्धक बना लेने, स्त्रियों सहित उनका हनन आदि कर देने सम्बन्धी अनेक सन्दर्भ विद्यमान हैं। इन्द्र, राजा या आर्य से प्रार्थना की गई है या उन्हें निर्देशित किया गया है कि वह दास अथवा दस्यु को वशवर्ती करें। वेद में वर्णित दास और दस्यु के विरुद्ध इन्द्र या आर्य द्वारा की जाने वाली कठोर कार्यवाही के इन निर्देशों को अनेक समालोचकों, इतिहासकारों ने 'मूलवासी लोगों' या शूद्रों के विरुद्ध की जाने वाली कार्यवाही माना है। उनकी दृष्टि में वैदिक पद दास और दस्यु शूद्र-समुदाय के वाचक हैं। प्रख्यात इतिहासकार रामशरण शर्मा का अभिमत है कि 'ऋग्वेद निरन्तर चलने वाले जनजातीय संघर्षों की कहानी प्रस्तुत करता है। ... सामान्यतः इन्द्र के नेतृत्व में ऋग्वेद की अनेक जनजातियों को 'दास' अथवा 'दस्यु' और कभी-कभी 'पणि' के विरुद्ध युद्ध करते हुए प्रस्तुत किया गया है। ... दस्यु ऋग्वैदिक लोगों के सर्वप्रमुख शत्रु थे और उन्होंने सर्वाधिक लम्बे समय तक युद्ध किया। ... वे सभी उल्लेख जो ऋग्वैदिक जनजातियों और दस्युओं के मध्य निरन्तर संघर्षों की ओर इंगित करते हैं, वास्तव में उन संघर्षों के द्योतक हैं जो भारत-ईरानी जनों की दो प्रमुख शाखाओं के मध्य हुआ था।'^२ इस सन्दर्भ में डॉ. राधाकृष्णन का अभिमत है कि 'ऋग्वेद के काल में विभाजन आर्यों और दस्यु के रूप में था और स्वयं आर्यों में कोई वर्ण-विभाग नहीं था। ब्राह्मणग्रन्थों के काल में चारों वर्ण जन्म पर आधारित अनम्य (कठोर) समूहों में विभक्त हो चुके थे। ज्यों-ज्यों कलाकौशल की संख्या और जटिलता बढ़ी, त्यों-त्यों धन्धों के आधार पर जातियों का विकास हुआ।'^३

डॉ. घुरिये का विचार है कि प्रारम्भ में केवल 'आर्य' और 'दास' ये दो ही वर्ण थे। आर्य लोग जहां भी गए, वहीं उन लोगों ने वही के आदिवासियों की पराजित किया और उन्हें 'दास' तथा इसी प्रकार के अन्य शब्दों से

प्रबोधित किया।^{३४} मनु के अनुसार आर्य समुदाय के चारों वर्ण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र को छोड़कर जो भी मनुष्य हैं, चाहे वे म्लेच्छ भाषा बोलते हों या आर्यभाषा, वे सभी दस्यु हैं।^{३५} मनु द्वारा दस्यु घोषित इन सभी व्यक्तियों या समुदायों को विमलचन्द्र पाण्डेय शूद्र मानते हैं। डॉ. रति सक्सेना पणियों को भी दास-दस्यु समुदाय का ही मानती हैं। अथर्ववेद की विवेचना करते हुए उन्होंने लिखा है कि 'पणि कर्म करने वाले जन अधिकतर दास या दस्यु समुदाय के थे। ... निःसन्देह पणि आर्य नहीं थे, किन्तु वे आर्यों से अधिक समृद्ध थे। तभी उनसे धन छीनकर आर्यों को बाँटने की बात आई है। निःसन्देह वे मूलवासी या आदिवासी थे, जो आक्रमणकारी जाति से कहीं अधिक धनवान् थे'।^{३६} यद्यपि डॉ. रति ने साहसपूर्वक यह भी स्वीकार किया है कि 'यह मानना संभव नहीं कि दास या दस्यु का अर्थ वेदकाल में भी वही था जो परवर्ती समाज में प्रचलित हो गया'।^{३७}

वस्तुतः वेदपठित दास, दस्यु आदि पदों से शूद्र अर्थ ग्रहण करना समुचित नहीं है। समालोचक इतिहासज्ञ इस तथ्य की उपेक्षा कैसे कर सकते हैं कि वेद 'शूद्र' पद से अनभिज्ञ नहीं है। चारों संहिताओं की अनेक ऋचाओं में 'शूद्र' शब्द पठित है। ऐसी अवस्था में शूद्र को लक्ष्य कर की जाने वाली कठोर कार्यवाही का निर्देश उसी पद से न करके 'दास' या 'दस्यु' पद से क्यों किया जाएगा? ऐसा भी नहीं है कि किसी प्राचीन शब्दकोश में 'दास' और 'दस्यु' को शूद्र का पर्यायवाची शब्द माना गया हो। वस्तुतः वेद में दस्यु पद क्रूर, आततायी या अराजक व्यक्ति के लिए पठित है जबकि दास पद सर्वत्र एक ही अर्थ का बोध नहीं कराता है। यह अवश्य है कि दास या दस्यु के पराभव का अभिप्राय कहीं भी शूद्र के पराभव से नहीं है। किसी भी वैदिक श्रुति में शूद्रों के हनन, धनहरण या पराभव की ऐसी प्रार्थना नहीं की गई है जैसी दासों और दस्युओं के लिए की गई है। किसी श्रुति में शूद्रों को कर्महीन, दुष्ट, पापी, उद्दण्ड या असभ्य नहीं कहा गया है। जबकि इसके विपरीत हजारों ऐसे स्थल विद्यमान हैं जिनमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र-चारों वर्णों के लिए समतामूलक प्रार्थनाएं, निर्देश और आशीर्वाद आदि वर्णित हैं। शूद्र आर्य-समुदाय के अभिन्न अंग हैं जबकि दास और दस्यु अकर्मा, असभ्य, आततायी और चोर हैं। वह असंस्कारी हैं तथा समाज की मुख्यधारा से अपनी अस्माजिक गतिविधियों के कारण बहिर्भूत हैं। वस्तुतः दास, दस्यु आदि पदों के अभिप्राय को लेकर इतिहासकारों को हुए भ्रम का मुख्य कारण 'दास' शब्द के अर्थ को परवर्ती सन्दर्भ में देखना रहा है। स्मृतियों ने शूद्र वर्ण को निर्देशित किया कि वह अपने नाम के अन्त में 'दास' पद को जोड़े।^{३८} स्मृतियों में ऐसे भी प्रसंग जोड़े गए जिनमें कहा गया कि शूद्र अपने नाम के साथ निन्दित पद लगाएँ।^{३९} इतिहासकार इस प्रभाव में वेद पठित दास एवं दस्यु पद का अर्थ शूद्र मानते चले गए हैं। उन्होंने इस तथ्य की ओर दृष्टिपात नहीं किया है कि 'दास' शब्द का बहुत अर्थविस्तार हो गया है। वैदिक इतिहास हमें इस तथ्य की साक्षी देता है कि एक समय आर्यों ने दास और दस्युओं को वशवर्ती कर उन्हें परिचर्या में नियुक्त किया। परिचर्या में पूर्वतः ही संलग्न शूद्र के समान कार्यरत हो जाने के कारण कालान्तर में सभी सेवकों को दास समझा जाने लगा। क्योंकि शूद्र पहले से ही सेवाकार्य में संलग्न थे। दास उन्हीं के साथ सेवाकार्य करने लगे। इस प्रकार अर्थ की दृष्टि से 'शूद्र' और 'दास' शब्द अभिन्न हो गए। इस मध्य 'दास' माता-पिता से अनेक उन्नत चरित्र की सन्तानें भी पैदा हुईं जिनके कारण इस शब्द के अर्थ में और भी विकास हुआ। महात्मा विदुर को दासीपुत्र कहते समय कोई निकृष्ट भाव पैदा नहीं होता। एक समय बाद यह शब्द इतना रुचिकर हो गया कि नवधाभक्ति के रूपों में एक रूप दास्यभक्ति को भी माना गया। अध्यात्म में प्रभु का दास-सेवक बनना गौरवपूर्ण माना जाने लगा। भारत में संन्यासियों का एक पूरा समुदाय ही स्वयं को महान् स्वामी ईश्वर का सेवक मानकर अपने नाम के साथ 'दास' पद जोड़ता है। तुलसीदास, सूरदास, रहीमदास आदि अनेक प्रतिष्ठित कवियों ने भी अपने नाम में 'दास' पद जोड़ा है। इस प्रकार वर्तमान में स्वयं को 'दास' कहना अपने नाम में 'दास' पद को प्रायः इसी भाव से अंगीकार किया है। इस प्रकार वर्तमान में स्वयं को 'दास' कहना जैसे अपमानजनक नहीं है, वैसे ही वैदिक काल में शूद्र कहलाना अपमानजनक नहीं था।

वैदिक काल में प्रायः दो समुदाय थे-आर्य और दस्यु। आर्य-समुदाय का गुणकर्मानुसार चतुर्धा वर्गीकरण था - ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र जबकि इतर समुदाय असामाजिक गतिविधियों में संलग्न था। वस्तुतः आर्य-समुदाय का अभिप्राय है- सभ्य और सामाजिक समुदाय। आर्य-समुदाय के चारों वर्ण एक दूसरे के विरोधी नहीं अपितु पूरक थे। अतः वेद में कहीं नामोल्लेख पूर्वक तो कहीं सामान्य रूप से इन वर्णस्थ मनुष्यों के सहभाव की हजारों प्रार्थनाएं, कामनाएं तथा निर्देश विद्यमान हैं। यजुर्वेद की कितनी उदात्त कामना और याचना है कि हे प्रभु! हमारे ब्राह्मणों, राजाओं, वैश्यों और शूद्रों को प्रकाशमान कीजिए (सामर्थ्यवान् बनाइए) हे ईश्वर! मैं स्वयं भी उसी प्रकाश (सामर्थ्य) का याचक हूँ। कृपापूर्वक वह अजस्र प्रकाश प्रदान करें।^{६६} यजुर्वेद में उपासक बहुत आहत होकर उस पाप के शमन की विनती कर रहा है जो उसने ग्राम में, अरण्य में, सभा में, इन्द्रियों में, शूद्रों के प्रति, वैश्यों के प्रति या धर्मविषय में कर दिया है।^{६७} दिव्यवाक् वेदज्ञान में सभी वर्णों को समान अधिकार की घोषणा भी हम यजुर्वेद में पाते हैं। इस वेदज्ञान में अधिकार केवल आर्य-समुदाय के चारों वर्णों का ही नहीं है अपितु अरणाय अर्थात् दास-दस्यु आदियों का भी है।^{६८} संभवतः वह भी इस ज्ञान से प्रकाशमान हो कभी सभ्य समाज का अंग बन जाए। अथर्ववेद के दो मन्त्रों में हम एक बहुत ही कमनीय प्रार्थना पाते हैं जिनमें अथर्व का अध्येता यह प्रबल इच्छा व्यक्त कर रहा है कि वह आर्यसमुदाय के चारों वर्णों- ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र (वर्णस्थ मनुष्यों) का प्रिय बन जाए।^{६९} अथर्ववेद की प्रार्थना में एक तथ्य यह भी देखने वाला है कि दोनों ही मन्त्रों में शूद्र को वैश्य से पहले रखा गया है - शूद्राय चार्याय च, उत शूद्रे उतार्ये। पाणिनि के अनुसार अर्य्य का अर्थ है स्वामी और वैश्य।^{७०}

इन स्फुट सन्दर्भों के अतिरिक्त वैदिक संहिताओं में ऐसी हजारों प्रार्थनाएं विद्यमान हैं जिनमें मानवमात्र के प्रति कायिक, वाचिक और मानसिक स्तर पर अहिंसक व्यवहार की प्रेरणा दी गई है। एक भी ऋचा ऐसी नहीं है जिसमें शूद्रों को दास बनाने की अभिलाषा या निर्देश हो। अनेक मन्त्र सेवकों एवं श्रमिकों के प्रति बहुत आदर व्यक्त करते हुए उनके योगक्षेम की कामना कर रहे हैं। ऋग्वेद की एक ऋचा की कामना है कि कृषक, उसके बैल और बोझा ढोने वाले सभी प्राणी सुखी हों।^{७१} सामनस्य के स्वर वैदिक ऋचाओं में बहुत मुखर हैं। विविध कार्यों में संलग्न व्यक्तियों के प्रति सद्भाव और सम्मान रखने के निर्देश वेद में बहुत आग्रही पदावली में विद्यमान हैं। अथर्ववेद में तो एक सूक्त की संज्ञा ही सामनस्य सूक्त है। इस सूक्त के मन्त्रों में अन्न, धन, कूप आदि को सार्वजनिक घोषित करते हुए कहा गया है कि विभिन्न कार्य करते हुए हम सब परस्पर ऐसे ही जुड़े हुए हैं जैसे कि पहिए के अरे उसकी धुरी से जुड़े होते हैं। निश्चय ही संगठित होने का यह आह्वान केवल ब्राह्मणों के लिए या शूद्रेतर वर्णों के लिए ही नहीं अपितु समाजपुरुष के सभी अंगों के लिए है। इस सम्बन्ध में यजुर्वेद की प्रार्थना कितनी तरलता लिए हुए है। मन्त्र की कामना है कि सब प्राणियों को अपने समान समझ कर सबसे समता का व्यवहार करने वाला मनुष्य इस लोक में सौ वर्ष तक जीवित रहे तथा उस व्यक्ति की श्री मुझ (उपासक) में भी व्याप जाए।^{७२} इन प्रमाणों के विद्यमान रहते कैसे कल्पना की जा सकती है कि वैदिक ऋचाएं शूद्रों के प्रति पक्षपातपूर्ण अनुदार भाव रखती हैं।

चारों संहिताओं में दास और दस्यु शब्द विभिन्न विभक्तियों और अन्य पदों के साथ सम्बद्ध होकर अनेक बार पठित हैं। इन सभी सन्दर्भों में एक भी स्थल ऐसा नहीं है जहां दस्यु या दास को शूद्र घोषित कर उसे घृणित माना गया हो एवं उसके हनन का परामर्श दिया गया हो। घुमा फिराकर दस्यु पद का अर्थ सर्वत्र 'उदात्त सामाजिक व आध्यात्मिक मर्यादाओं का हनन करने वाला व्यक्ति' ही किया गया है, जबकि दास पद का सभी भाष्यकार एक सा अर्थ नहीं करते हैं। वेदभाष्य की दो प्रमुख परम्पराओं के प्रतिनिधि आचार्य सायण और ऋषि दयानन्द के सन्दर्भ में इन शब्दों की अर्थपरिधि को देखना रोचक रहेगा। सायण उपक्षयार्थक ण्यन्त 'दस्' धातु से

दास शब्द सिद्ध मानते हैं। उनके अनुसार दास शब्द का अर्थ है उपक्षयिता। जो प्रजा को क्षय (क्षति) पहुँचाए, जो यज्ञादि का विघातक हो।^{१०क} कुछ ऋचाओं में सायण दास का अर्थ शूद्र भी कर गए हैं। दास का 'उपक्षयिता' अर्थ करते हुए भी विकल्प से उसका अर्थ 'शूद्र' करना कुछ विचलित करता है।^{१०ख} सम्भवतः देशकाल के प्रभाव के कारण ऐसा हुआ है।

ऋषि दयानन्द दास के अर्थ को अधिक व्यापक वैदिक परिप्रेक्ष्य में समझते हैं। वह 'दास' शब्द से विभिन्न आशय निकालते हैं। सायण आदि आचार्यों की दृष्टि में जो मन्त्र दासों का हनन करने, उनका दमन करने या उनकी परिसम्पत्तियों को अपने अधिकार में कर लेने के परामर्श दे रहे हैं उन मन्त्रों में पठित 'दास' पद का अर्थ ऋषि दयानन्द 'सेवक' या 'शूद्र' तो करते हैं, लेकिन मन्त्र का आशय कुछ अन्यथा ही निर्धारित करते हैं। सायण ऋग्वेद २.१२.४ में पठित यो दासं वर्णमधरं गुहाकः का अर्थ करते हैं कि 'जिसने उपक्षयकारी निकृष्ट असुर वर्ण को (दण्डित करके) अंधकारमय स्थान में कर दिया है (अर्थात् अप्रभावी बना दिया है, वह इन्द्र है)^{१०ख} जबकि ऋषि दयानन्द उपर्युक्त पठित मन्त्रांश का अर्थ करते हैं कि 'जो (गुहा) हृदयाकाश में (वर्णम्) रूप को (अधरम्) उस हृदय के नीचे (दासम्) देने योग्य (अकः) करता है... वह परमैश्वर्यवान् ईश्वर है, यह जानना चाहिए।^{११क} ऋग्वेद ४.३०.१५ में पठित दासस्य पद का अर्थ करते हुए सायण तात्पर्य निकालते हैं कि राजा ने पांच सौ या दुष्ट पुरुष के हजारों सम्बन्धियों को भयाक्रांत करने के लिए शंकु (छोटी खूंटियों) के समान विविध हननास्त्रों से हनन किया।^{१०ग} जबकि ऋषि दयानन्द इन मन्त्रों का अर्थ करते हैं कि हे राजन्! आप (प्रधीनिव) चक्र में स्थित पैनी कीलों के सदृश वर्तमान संसार में कण्टक दुष्टों को (पंच) पांच (शत) सौ वा (सहस्राणि) सहस्रों दुष्टों का (अधि, अवधीः) नाश करो (उत) और (वर्चिनः) बहुत पड़े हुए (दासस्य) सेवक के जनों को पालिए। इससे प्रथम मन्त्र (४.३०.१४) में भी ऋषि दयानन्द दासं कौलितरम् का अर्थ 'अत्यन्त कुलीन सेवक का पालन करो' - ऐसा करते हैं। परन्तु इसी सूक्त के मन्त्र संख्या २१ में पठित दासानाम् पद का अर्थ ऋषि दयानन्द 'शत्रु' करते हैं। इस मन्त्र के भावार्थ में ऋषि दयानन्द कहते हैं कि 'जो सेनापति आदि बुद्धि से शत्रुओं का नाश करें वे सदा ही सुखी होंगे'।^{११ख}

सायण ऋग्वेद ५.३४.६ के मन्त्रांश - यथावशं नयति दासमार्यः का आशय निकालते हैं कि आर्य लोग दास को अपने अधीन करते हैं,^{१०घ} जबकि ऋषि दयानन्द अर्थ करते हैं कि '(आर्यः) ब्राह्मण क्षत्रिय वा वैश्य वर्ण आर्य राजा (यथावशम्) यथाशक्ति (दासम्) सेवक शूद्र को (नयति) प्राप्त करता है।^{११ग} ऋग्वेद ६.२६.५ के मन्त्रांश अव गिरेदांसं शम्बरं हन् का आशय निकालते हुए सायण कहते हैं कि 'तुमने असुर (श्रेष्ठता के बाधक) यज्ञादि कर्म के विरोधी दास को पर्वत से भी अलग कर हनन किया है'।^{१०ङ} जबकि स्वामी दयानन्द 'दास' का अर्थ 'सेवक' करते हुए उसके संवर्धन तथा संरक्षण का कथन कर रहे हैं। इस मन्त्र के भावार्थ में वह लिखते हैं कि 'हे राजन्! आप सर्वदा प्रजा की वृद्धि, दुष्टों का नाश और विद्वानों की सेवा करो जिससे असंख्य सुख होंगे'।^{११घ} अन्य स्थलों में उन्होंने मन्त्र पठित दास पद से सेवकः, सुखप्रदाः (शूद्रजनाः),^{१०ड} उपक्षयितारौ, (राजाप्रजाजनौ),^{११च} दातारम्^{११छ} जलस्य दातुः^{११ज} इत्यादि अर्थ ग्रहण किए हैं।

इन सन्दर्भों से स्पष्ट है कि ऋषि दयानन्द वेदपठित 'दास' पद को सर्वत्र अमर्यादित या अराजक व्यक्तित्व वाले मनुष्य का ही वाचक नहीं मानते, अपितु उससे वर्णस्थ शूद्र सहित अनेक उत्तम अर्थ भी ग्रहण करते हैं। यहां यह भी उल्लेख्य है कि ऋषि दयानन्द ने कुछेक स्थलों को छोड़कर प्रायः सभी जगह 'दास' पद से श्रेष्ठ प्रवृत्तियों या तद्सम्पन्न व्यक्ति का ही ग्रहण किया है। यह भी द्रष्टव्य है कि आचार्य सायण ने जिन ऋचाओं से दासों के हनन का ध्वन्यार्थ निकाला है, दयानन्दभाष्य में हमें उनका सन्दर्भ ही अलग मिलता है। इस प्रकार ऋषि

दयानन्द की दृष्टि में यह ऋचाएं दासों के हनन की प्रेरक नहीं हैं। ऋग्वेद में दासों की अपेक्षा दस्युओं के दमन और हनन के उल्लेख बहुत अधिक हैं। दस्यु-हत्या पद ऋग्वेद में अनेक बार आया है, लेकिन 'दास-हत्या' पद नहीं है।

'दस्यु' पद से ऋषि दयानन्द सर्वत्र दुष्ट, मूर्ख एवं चोर मनुष्य का ही ग्रहण करते हैं। सत्यार्थप्रकाश में वह दस्यु पद से अभिप्रेत अर्थ को व्यक्त करते हैं कि '(आदि सृष्टि में) एक मनुष्य जाति थी। पश्चात् विजानीह्यार्यान् ये च दस्यवः - यह ऋग्वेद (१.५१.८) का वचन है। श्रेष्ठों का नाम आर्य्य, विद्वान्, देव और दुष्टों के 'दस्यु' अर्थात् डाकू, मूर्ख और अनाड़ी नाम होने से आर्य्य और दस्यु दो नाम हुए। ... आर्य नाम धार्मिक, विद्वान्, आत पुरुषों का और इनसे विपरीत जनों का नाम 'दस्यु' अर्थात् डाकू, दुष्ट, अधार्मिक और अविद्वान् हैं।^{११} अपने वेदभाष्य में ऋषि दयानन्द ने 'दस्यु' पद से सर्वत्र एतादृशी प्रवृत्तियों का ही ग्रहण किया है। 'दसु उपक्षये' धातु से यजिमनिशुचिदसिजनिभ्यो युच् (उणादि ३.२०) से युच् प्रत्यय के योग से दस्यु शब्द निष्पन्न है। इसी सन्दर्भ में निरुक्तकार इसकी व्युत्पत्ति करते हैं कि दस्युर्दस्यतेः क्षयार्थात् ... उपदासयति कर्माणि^{१३क} अर्थात् दस्यु वह है जो शुभकर्मों से क्षीण है या शुभकर्मों में बाधा डालता है। ऋषि दयानन्द ने इस शब्द के यास्क सम्मत अभिप्राय को पूर्णतः स्वीकार किया है। वेदमन्त्रों में विभिन्न विभक्तियों में पठित दस्यु पद के ऋषि दयानन्द कृत कुछ विशिष्ट तात्पर्य निम्नवत् है: दस्यवः परपीडका मूर्खा धर्मरहिता दुष्टा मनुष्याः (१.५१.८), दस्यवे दुष्ट-कर्म-कर्त्रे (दुर्जनाय) (१.१०३.३), दस्युभ्यः साहसिकेभ्यश्चौरैभ्यः (जनेभ्यः) (४.३८.१), दस्युम् प्रसह्य परस्वाऽपहर्तारम् (१.१७५.३); बलात्कारिणं चोरम् (२.१५.९), बलात्कारेण परस्वाऽपहर्तारम् (१.५३.४); दुष्टाचारं साहसिकम् (७.१९.४), दस्युः परपदार्थाऽपहारकः (२.११.१८); दस्यून् महादुष्टान् (जनान्) (१.७८.४); दुष्टान् साहसिकाँश्चौरान् (अविदुषो जनान्) (७.१६.३), अतिदुष्टकर्मकारिणः (दुर्जनान्) (३.२९.९) दस्योः परस्वाऽऽदातुश्चोरस्य (१.१०४.५), उत्कोचकस्य (१.११७.३); परपदार्थहर्तुर्दुष्टस्य (२.१२.१०)। इस प्रकार ऋषि दयानन्द दस्यु का अर्थ तो दुष्ट, मूर्ख, नीच, अधम, चोर आदि करते हैं, परन्तु 'दास' को वह ऐसा नहीं समझते जबकि सायण दास को भी दस्यु की ही भांति अराजक व्यक्ति मानते हैं। दोनों ही भाष्यकार इन मन्त्रों या मन्त्रांशों से वर्णगत घृणा को व्याख्यायित नहीं करते हैं।

इस सन्दर्भ में कुछ ऋचाओं की पद संरचना द्रष्टव्य है। ऋग्वेद प्रथम मण्डल के तैत्तिरीय सूक्त के चौथे मन्त्र में इन्द्र (राजा) से निवेदन किया गया है कि वह औरों की सम्पदा छीनने वाले अयज्वा धनी दस्युओं का हनन करे। इन दस्युओं के प्रति नरेन्द्र के कठोर व्यवहार की प्रशंसा करते हुए अगले मन्त्र में कहा गया है कि हे इन्द्र (नरेन्द्र)! शुभाचारियों से द्वेष रखने वाले, अयज्वा, अव्रती, दस्युओं को निःशेषतया निकालकर आप प्रशंसनीय हो गए हैं।^{१४} इन ऋचाओं में दस्युओं के लिए सनकाः, अयज्वनाः, अव्रतान् और यज्वभिः स्पर्धमानाः विशेषण प्रयुक्त हुए हैं। इन पदों का स्पष्ट अर्थ है - दूसरों की सम्पदा पर बलात् अधिकार करने वाले, यज्ञ आदि शुभकर्मों से रहित, अव्रती और शुभकर्म करने वालों के विरोधी या द्वेषी। निश्चय ही ऐसे व्यक्ति किसी भी सभ्य समाज के लिए सबसे बड़ी चुनौती होते हैं। ऐसी प्रवृत्ति के लोग ही दस्यु होते हैं। इसी सूक्त के एक अन्य मन्त्र में ऐसे उपद्रवी धनी दस्युओं को पराजित कर उनके उपद्रवों को शान्त करने की प्रार्थना की गई है।^{१५}

ऋग्वेद की एक अन्य प्रार्थना में ऐसे कपटी और उपद्रवी दस्युओं को भयभीत करने, उनका हनन करने तथा उनके नगरों को ध्वस्त करने का परामर्श दिया गया है जो विविध प्रकार के अन्तों से मुख में ही यजन करते हैं।^{१६} इस ऋचा में निहित सार्वजनिक वितरण प्रणाली और सामाजिक उत्तरदायित्व निर्वहन सम्बन्धी वेद की संवेदना को समझा जा सकता है। सामाजिक जीवन की ऐसी अनुगूँज निश्चय ही अभिनन्दनीय है। ऐसे व्यक्ति जो समष्टि हितसाधन की अपेक्षा व्यक्ति हितसाधन को ही प्रश्रय देते हैं तथा सह नौ भुनक्तु, (हम साथ-साथ खाए) त्यक्तेन भुञ्जीथाः० (एकसाथ खाएँ, और दूसरों के बलात् भोजन केवल) (अकेला खाने वाला पाप खाता है) के से

सभ्यता के आधारभूत सिद्धान्तों का अनुपालन नहीं करते हैं, ऐसे व्यक्ति सदा ही स्वस्थ समाज के विघातक होते हैं। वे सामाजिक संरचना के प्रति न तो सम्मान का भाव रखते हैं और न ही उसके प्रति संवेदनशील होते हैं। इस मन्त्र के सायणभाष्य में कौषीतकिब्राह्मण और वाजसनेयी से दो उद्धरण उद्धृत किए गए हैं जिनमें ऐसे असुरों की पराजय का उल्लेख है जो शरीर में ही हवन करते थे।^{१०८} स्पष्ट ही है कि वेदमन्त्रों के दस्युओं और ब्राह्मणग्रन्थों के असुरों में वृत्तिसाम्य है। स्वार्थी और संग्रही लोगों के विपरीत वेद श्रेष्ठ दानशील प्रवृत्ति के लोगों के वर्चस्व की कामना करता है। ऋग्वेद की ऋचा विश्वपति की उद्धोषणा को अभिव्यक्त करती है कि ईश्वर ने यह भूमि आर्य अर्थात् श्रेष्ठ पुरुष (पुरुषों) को दी है। उसी ने दानशील मनुष्यों के लिए वृष्टि और सुखकारी जल प्रदान किए हैं।^{१०९} वेद में केवल दासों और दस्युओं को कुचलने का ही निर्देश नहीं है, अपितु राजा से कहा गया है कि वह उन दास दस्युओं पर सेनादि का दबाव बनाकर उन्हें आर्य-श्रेष्ठ बनाने के लिए भी निरन्तर प्रयास करे।^{११०} ऐसा नहीं है कि राजा यह कठोर व्यवहार केवल अराजकता उत्पन्न करने वाले दास या दस्युओं के प्रति ही करे, अपितु ऋग्वेद ने प्रबल शब्दों में सिफारिश की है कि यदि आर्य-समुदाय भी उपद्रव उत्पन्न करे तो उसके प्रति भी राजा ऐसा ही कठोर व्यवहार करे, और यदि वह सभ्याचार का अनुपालन न करें तो राजा उनका वध भी कर देवे।^{१११} ऋग्वेद की ऋचा आचरण से पतित ऐसे आर्य को 'अदेव' घोषित करते हुए संघर्ष होने की स्थिति में उसके पराभव की कामना कर रही है।^{११२} ऋग्वेद की अनेक ऋचाओं में आर्यकृत उपद्रवों का उल्लेख करते हुए उनके दमन का सुझाव दिया गया है। इससे स्पष्ट है कि दास या दस्युओं के प्रति वेद द्वारा की जा रही कठोर व्यवहार की सिफारिश क्षेत्र, भाषा, रंग या समुदाय विशेष के कारण नहीं है, अपितु उसका आधार केवल सभ्य और असभ्य आचरण ही है। अन्यथा आर्यों का गुणगान करने वाली वैदिक ऋचाएं कभी उनके उपद्रवों का संज्ञान न लेतीं। ऋग्वेद का विचार है कि सभ्य समाज के लिए नियत सदाचार के उल्लंघन की अनुमति किसी को नहीं दी जा सकती।^{११३} इसीलिए ऋग्वेद हर अपराधी के क्षय की कामना करते हुए राज्यतन्त्र से अपेक्षा कर रहा है कि राजा और मन्त्रीगण अपराधी को ऐसे ही गला-पका दें जैसे अग्नि चावल को गला-पका देती है।^{११४}

ऐसे अनेक समाजोपयोगी कार्यों, जिनको न केवल वैदिकोत्तर काल और मध्यकाल में ही निकृष्ट माना गया अपितु साम्प्रतिक युग में भी इन्हें हेय ही माना जाता है, को करने की प्रेरणाएँ ही वेद में विद्यमान नहीं हैं, अपितु उनके प्रति महती सम्मान और कृतज्ञता भी व्यक्त की गई है। कृषि-कार्य, मिट्टी से बर्तन बनाना, पीतल कांसे आदि धातुओं से बर्तन बनाना, लकड़ी से रथ, गाड़ी, हल आदि तैय्यार करना, चमड़े से जूते एवं युद्ध में प्रयुक्त होने वाली आयुध सामग्री जैसे वस्त्र, वर्म और प्रत्यज्वा आदि बनाना, चक्की पीसना, सड़क बनाना, नहर, तालाब, कूप आदि खोदना ऐसे कार्य हैं, जिन्हें ऋग्वेद के मन्त्रों में बहुत आदर के साथ वर्णित किया गया है। इनमें से अनेक कार्य ऐसे हैं जिनमें स्त्रियों की सहभागिता भी प्रदर्शित की गई है। वेद और उत्तरवर्ती साहित्य में ऐसे अनेक सन्दर्भ विद्यमान हैं जिनसे परिज्ञात होता है कि ऋषि, विद्वान्, राजा आदि भी इन कार्यों को निम्न या हेय नहीं समझते थे तथा जब-तब अवसर पाकर बिना झिझक इनमें हाथ बंटाते थे। समाज में ऋषि सर्वाधिक आदरास्पद व्यक्ति होता है। ऋषि जिस कार्य को करे, वह निश्चय ही निन्दनीय या हेय नहीं हो सकता। वेद ऋषियों द्वारा करणीय कार्यों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करता है कि 'ऋषि' यज्ञों के विस्तारक हैं, रथ एवं अश्वविद्या के ज्ञाता हैं, भेड़ों के पालक हैं, उनके बालों से वस्त्र बुनने वाले हैं तथा बुने हुए वस्त्रों का परिशोधन करने वाले हैं।^{११५} यजुर्वेद मननशील विद्वान् पुरुष द्वारा वस्त्र बुने जाने के कार्य का उल्लेख करता है।^{११६} बहुश्रुत ऋग्वेदीय ऋचा मनुष्यव यजुर्वेद मननशील विद्वान् पुरुष द्वारा वस्त्र बुने जाने के कार्य का उल्लेख करता है।^{११७} ऋग्वेद ६.९.३ में हम उत्तमरीति से करते हुए मननशील बनकर दिव्य सन्तानों के प्रजनन की बात कही गई है।^{११८} ऋग्वेद ६.९.३ में हम वस्त्र-वयन कार्य के प्रशिक्षण का सन्दर्भ पाते हैं। ऋग्वेद के चौथे मण्डल के सत्तावनवें सूक्त में पठित सभी मन्त्र

कृषिकार्य के महत्त्व और तल्लग्न व्यक्तियों की प्रतिष्ठा को रेखांकित करते हैं। यह सूक्त किसान को अन्नदाता और सुखदाता घोषित करता है। एक मन्त्र की निवेदनपूर्ण कामना है कि 'किसान हमारे लिए मधुर स्वभाव वाला हो और हम लोग अद्रोही भाव से उस किसान का अनुसरण करें।' इसी सूक्त के एक अन्य मन्त्र में राजा के प्रति इच्छा व्यक्त की गई है कि राजा हल के लांगल को पकड़कर चले उसके पीछे पोषणकर्त्ता उसका मन्त्री हल चलावे, जिससे वह खेती बहुत फले-फूले और उत्तरोत्तर बड़े।^{१८} कुछ अन्य मन्त्रों में 'अश्विनो'^{१३} पद से संबोधित करते हुए ऐसे राजा और मन्त्री की प्रशंसा की गई है जो कृषि-कार्य में विशेष अभिरुचि लेते हुए अपनी प्रजा को प्रकाशित (आनन्दित) कर रहे हैं।^{१७}

वेद में स्वर्णकार, लोहकार, कुम्भकार, चर्मकार सहित काष्ठकार (बढ़ई) को तक्षा कहा गया है। इन श्रमजीवियों के लिए देव, धीर, यज्ञिय, विद्वान्, विपश्चित्, आदि पद वेद में आए हैं।^{१९} अनश्व (घोड़ेरहित) एवं अनभीशु (लगावरहित) त्रिचक्र (तीन पहियों वाले) रथ का निर्माण कर ये अन्तरिक्ष और पृथिवी दोनों को प्रशस्त करते थे।^{१४} इन तक्षाओं की कृपा जिस पर हो जाती है, वह वेदवान्, ऋषि, शूर, विजेता सम्पदाशाली एवं वीर्यवान् बन जाता है।^{१६} इसी प्रकार लौह एवं प्रस्तर निर्मित भवनों, चर्म से निर्मित विभिन्न वस्तुओं, खिलौने, घड़े एवं कूप आदि बनाने वालों की महिमा का कथन श्रुतियों में विद्यमान है। इसी प्रकार क्षौरकर्म, पशुपालन, सामुद्रिक व्यापार की साधनभूत नौकाओं के चालक मल्लाहगण तथा औषध के उत्पादन एवं निर्माण में लगे वैद्यादियों के कार्यों की दुरुहता एवं महत्ता का उल्लेख करते हुए उनके यशस्वी होने की कामना बहुशः मन्त्रों में दृष्टिगत होती है।

यजुर्वेद में भी ऐसे अनेक स्थल विद्यमान हैं जहाँ समाज में विभिन्न कार्य करने वाले श्रमिकों, कारीगरों और कृषकों आदि के प्रति अत्यन्त सम्मान प्रदर्शित करते हुए उन्हें नमन किया गया है। इनमें खनन करने वाले, बैल चलाने वाले, गौशाला कर्मी, खाट आदि के बुनकर बढ़ई, रथकार, कुम्हार, लोहार, निषाद, बहेलिए सहित उन बन्धुओं के प्रति भी नमन किया गया है, जो श्वानों का पालन करते हुए मृगों के मध्य जीवन यापन करते हैं।^{६४}

यजुर्वेद के तीसवें अध्याय के पांचवें मन्त्र से इक्कीसवें मन्त्र तक के सत्रह मन्त्रों में गुण, कार्य, स्वभाव, आकृति, योग्यता एवं लोक-व्यवहार की दृष्टि से १७२ प्रकार के मनुष्यों का उल्लेख है। इस सूची में उल्लेखित संज्ञाओं से विदित होता है कि वेद विभिन्न प्रकार के कार्यों से अनभिज्ञ नहीं है। इन विशिष्ट गुण, कर्म, स्वभाव, आकृति एवं योग्यता वाले मनुष्यों के प्रति किसी प्रकार की घृणा या उपेक्षा इन ऋचाओं में प्रदर्शित नहीं की गई है। इन सबके प्रति समान समादर प्रकट करते हुए उनसे यथोचित कार्य निष्पादन की प्रेरणा दी गई है। इस सूची को देखने से विदित होता है कि परवर्ती समय में शूद्रों द्वारा करणीय समझे गए प्रायः सभी कार्यों का भी इस सूची में उल्लेख तो है, लेकिन कार्यविशेष को लेकर उसके करने वाले की प्रतिष्ठा पर कोई भेदभाव परक टिप्पणी नहीं की गई है। ऋषि दयानन्द सम्मत अर्थों के साथ इस सूची में पठित वृत्तिविशेष से आजीविका चलाने वाले कुछ व्यक्ति द्रष्टव्य हैं:- ब्राह्मण (ब्रह्मपुत्र, अर्थात् वेद, ईश्वर, व्रत, तप, यज्ञादि के तत्त्व को जाननेवाला) राजन्य (राजपुत्र, अर्थात् शौर्य, वीर्य, प्रतापादि से शोभायमान) वैश्य (वैश्यपुत्र, अर्थात् व्यवसाय के लिए सर्वत्र वायुवत् प्रवेश करनेवाला) शूद्र (कठिन-से-कठिन दुःसाध्य शारीरिक कर्म में सदा तत्पर (तपसे शूद्रम्)) तस्कर (चोर) वीरहा (वीरों को मारनेहारा) क्लीब (नपुंसक) अयोगू (लोहे के हथिहारविशेष के साथ चलनेहारा) पुंश्चलू (पुरुषों के साथ चलायमान चित्तवाली व्यभिचारिणी स्त्री (पुंश्चली, स्वैरिणी)) मागध (अपनी कविता से लोगों के चित्त को मादक बनानेहारा) सूत (विविध-प्रतिभा-युक्त, विचित्र काव्यरचयिता (सूते जनयति काव्यादिकं यः स सूतः)) शैलूष (गानेहारा, नट) सभाचर (सभा में विचरनेहारा सभापति) भीमल (भयंकर कार्य करनेहारा) रेभ (स्तुति करनेहारा) कारि (उपहासकर्त्ता) स्त्रीषख (स्त्री से मित्रता करनेहारा (स्त्रीसखा)) कुमारीपुत्र (विवाह से पूर्व व्यभिचार से उत्पन्न बालक) रथकार (विमानादि वाहन निर्माण करनेहारा) तक्षा (महान् काम करनेहारा बढ़ई) कौलाल

(कुम्हार का पुत्र, अर्थात् मृत्तिका से विविध पात्रों का निर्माता) मणिकार (मणि बनानेवाला) वप (विद्यादि शुभगुणों का बोलनेवाला (विप्र, मेधावी)) इषुकार (बाणकर्ता) धनुष्कार (धनुष्कर्ता) ज्याकार (प्रत्यञ्चा बनानेवाला) रज्जुसर्ज (रज्जु बनानेवाला) मृगयु (व्याध) श्वनी (कुत्ते पालनेहारा) पौञ्जिष्ठ (धानुक) नैषाद (निषादपुत्र) दुम्द (दुष्ट, अभिमानी) ब्रात्य (संस्कार-रहित मनुष्य) उन्मत्त (उन्माद रोगवाला) अप्रतिपद (संशयात्मा) कितव (ज्वारी, धूर्त) अकितव (जुआ न खेलनेहारा) विदलकारी (पृथक्-पृथक् टुकड़े करनेहारा) कण्टकीकारी (काँटे बोलनेवाली स्त्री) जार (व्यभिचारी) उपपति (दूसरा व्यभिचारी पति) पेशस्कारी (शृंगारविशेष से रूप करनेहारी व्यभिचारिणी) स्मरकारी (कामदेव को चेतन करनेहारी दूती) उपसद (साथी) अनुरुध (रोकनेवाला) उपदा (भेंट वा घूस देनेहारा) कुब्ज (कुबड़ा) वामन (छोटा मनुष्य) स्नाम (जिसके नेत्र से निरन्तर जल निकलता हो) अन्ध (अन्धा) बधिर (बहिरा) भिषज (वैद्य) नक्षत्र-दर्श (नक्षत्र दिखानेहारा गणितज्ञ) प्रश्नी (प्रशंसित प्रश्नकर्ता) अभिप्रश्नी (सब ओर से प्रश्न करनेहारा) प्रश्न-विवाक (प्रश्नों का विवेचन कर उत्तर देनेवाला) हस्ति-प (हाथियों का रक्षक) अश्व-प (घोड़ों का रक्षक) गो-पाल (गौओं का रक्षक) अवि-पाल (गडरिया) अज-पाल (बकरे-बकरियों का रक्षक) कीनाश (खेतिहर) सुराकार (सोमरस को निकालनेवाला) गृह-प (घरों का रक्षक) वित्तध (धन धारण करनेहारा) अनुक्षत्ता (अनुकूल सारथि) दार्वाहार (काष्ठों को पहुँचानेवाला) परिवेष्टा (परोसनेवाला) उपसेक्ता (उपसेचन करनेहारा) वासः पत्न्युली (वस्त्रों को शुद्ध करनेवाली धोबिन) रजयित्री (उत्तम रंग करनेवाली रंगरेजिन) अनुक्षत्ता (अनुकूल सारथि) अनुचर (सेवक) अश्व-साद (घोड़ों को चलानेवाला) अयस्ताप (लोहे या सुवर्ण को तपानेवाला) त्रिष्ठी (जल, स्थल, आकाश-तीनों स्थानों में विमानादि के साथ रहनेवाला) कोशकारी (करवालादि कोश बनानेवाली) अवतोका (अपुत्रा स्त्री) दाश (सेवक, धीवर) कैवर्त (जल में नौका चलानेवाला) आन्द (बाँधनेवाला) पर्णक (भील) किरात (किरात) किम्पूरुष (छोटे जंगली मनुष्य) पौल्कस (भंगी का पुत्र) हिरण्यकार (सुवर्णाभूषण बनानेहारा सुनार) सिध्मल (रोगी) कितव (जुआरी) भिक्षमाण (भीख माँगनेवाला) मूक (गूँगा) आडम्बराघात (हल्ला-गुल्ला करनेवाला) वीणावाद (वीणा बजानेवाला) तूणव-ध्म (तूणी बजानेवाला) वन-प (वन रक्षक) दाव-प (वनदाह रक्षक) अभिक्रोशक (पुकारनेहारा) पाणिघ्न (हाथ से ताल बजानेवाला) चाण्डाल (चाण्डाल) वंशनर्ती (बाँस पर नाचनेवाला नट) हर्यक्ष (वानर की-सी छोटी आँखवाला) किलास (थोड़ा खोटा वर्ण, कोढ़) शुक्लपिंगाक्ष (शुक्ल-पीत नेत्र) कृष्णपिंगाक्ष (कृष्ण-पीत नेत्र) इन समस्त कार्यों का उल्लेख करते हुए ऋचाएं किसी के साथ घृणायुक्त भेदभावपूर्ण व्यवहार का निर्देश नहीं करती हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि मूल वेदसंहिताएं आचरण और प्रवृत्तियों के आधार पर ही किसी व्यक्ति को हेय मानती हैं। वर्णगत घृणा और हिंसा वेद में विद्यमान नहीं है।

सन्दर्भ

- १- शूद्रों की खोज; डॉ. बाबा साहेब भीमराव अम्बेडकर, गौतम बुक सेन्टर, शाहदरा, दिल्ली १३ सप्तम संस्करण, २००८, पृष्ठ ८७-८८.
- २- प्राचीनभारत में भौतिक प्रगति एवं सामाजिक संरचनाएं; रामशरण शर्मा, राजकमल प्रकाशन. १-८, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली-०२, प्रथम संस्करण १९९०, पृष्ठ ७०-७१
- ३- भारतीय सामाजिक संस्थाएं; रवीन्द्रनाथ मुखर्जी, सरस्वती सदन, मंसूरी, द्वितीय संस्करण १९६७, (क) पृष्ठ ४५ पर उद्धृत डॉ. राधाकृष्णन का अभिमत। (ख) पृष्ठ ४८
- ४- मनुस्मृति, समालोचक-डॉ. सुरेन्द्र कुमार; आर्षसाहित्य प्रचार ट्रस्ट, ४५५ खारी बावली, दिल्ली-०६, छठा संस्करण, १९०५ JK Sanstha Academy, Jammu. Digitized by S3 Foundation USA
(ख) २.३२; शर्मद ब्राह्मणस्य स्याद्राज्ञो रक्षासमन्वितम्। वैश्यस्य पुष्टिसंयुक्तं शूद्रस्य प्रेष्ठ्य संयुतम्॥ इस श्लोक में मनु ने शूद्र

के साथ प्रेष्य अर्थात् सेवावाची शब्द जोड़ने की बात की है। कुल्लूक भट्ट ने यमस्मृति और विष्णु पुराण के सन्दर्भ से 'पेष्य' पद का अर्थ 'दास' किया है छं तथा च यमः शर्मा देवश्च विप्रस्य वर्मा त्राता च भूभुजः। भूतिर्दत्तश्च वैश्यस्य दासः शूद्रस्य कारयेत्। विष्णुपुराणेष्वुक्तम् शर्मवद् ब्राह्मणस्योक्तं, वर्मेति क्षेत्र संयुतम्। गुप्तं दासात्मकं नाम प्रशस्तं वैश्यशूद्रयोः॥ (ग) २.३१; शूद्रस्य तु जुगुप्सितम्।

- ५- उद्भावना (वर्ष २४, अंक ८४, जुलाई-अगस्त २००९); सम्पादक - अजय कुमार; एच-५५, सेक्टर २३, राजनगर, गाजियाबाद (उत्तरप्रदेश) में प्रकाशित डॉ. रति सक्सेना के शोधात्मक आलेख- 'वैदिक पुनर्विवेचन- अथर्ववेद के सन्दर्भ में' से (क) पृष्ठ ३९ (ख) पृष्ठ ४१
- ६- यजुर्वेद, सम्पादक श्रीपाद दामोदर सातवलेकर; स्वाध्याय मण्डल, पारडी, बलसाड, गुजरात
(क) १८.४८; रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचं राजसु नस्कृधि। रुचं विश्वेषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम्॥
(ख) २०.१७; यद् ग्रामे यदरण्ये यत्सभायां यदिन्द्रिये। यच्छूद्रे यदर्ये यदेनश्चक्रमा वयं यदेकस्याधि धर्मणि तस्यावयजनमसि॥
(ग) २६.२; यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः। ब्रह्मराजन्त्याभ्यां शूद्राय चाय्याय च स्वाय चारणाय च। (घ) १९.४६; ये समानाः समनसो जीवा जीवेषु मामकाः। तेषां श्रीमयि कल्पतामस्मिहोके शतं समाः॥ (ङ) १९.८०; सीसेन तन्त्रं मनसा मनीषिण ऊर्णासूत्रेण कवयो वयन्ति। (च) १६.४३; नमः सिकत्याय च प्रवाह्याय च; १६.४४; गोष्ठ्याय च नमस्तल्याय च। १६.२७; नमस्तक्षभ्यो रथकारेभ्यश्च वो नमो नमः कुलालेभ्यः कमरिभ्यश्च वो नमो नमो निषादेभ्यः पु।~~ज~~जष्ट्रेभ्यश्च वो नमो नमः श्वनिभ्यो मृगयुभ्यश्च वो नमः।
- ७- अथर्ववेद, सम्पादक श्रीपाद दामोदर सातवलेकर; स्वाध्याय मण्डल, पारडी, बलसाड, गुजरात, तृतीय संस्करण, १९५८; १९.३२.८; प्रियं मा दर्भं कृणु ब्रह्मराजन्त्याभ्यां शूद्राय चाय्याय च। यस्मै च कामयामहे सर्वस्मै च विपश्यते। १९.६२.१; प्रियं या कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु। प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उताये॥
- ८- अष्टाध्यायी (अष्टाध्यायी सूत्रप्रयोगदीपिका) भाष्यकार एवं प्रकाशक- सत्यानन्द वेदवागीशः, ए-१३१, सेक्टर-५५, नोएडा-० (उत्तरप्रदेश); प्रथम संस्करण, वि०सं० २०६२; ३.१.१०३; अर्थः स्वामिवैश्ययोः
- ९- ऋग्वेद, सम्पादक श्रीपाद दामोदर सातवलेकर; स्वाध्याय मण्डल, पारडी, बलसाड, गुजरात, चतुर्थ संस्करण, (क) ४.५७.४; शुनं वाहाः शुनं नरः शुनं कृषतु लांगलम्। शुनं वरत्रा बध्यन्तां शुनमष्टामुदियग॥ (ख) १.३३.४-५; वधीर्हि दस्यु धनिनं घनेनं एकश्चरन्नुपशकेभिर्निद्रा। धनोरधि विपुणके व्यायन्नयज्वानः सनकाः प्रेतिमीयुः॥ परा चिच्छीषां ववृजुस्त इन्द्रायज्वानो यज्वभिः स्पर्धमानाः। प्र यदिवो हरिवः स्थारुण्य निरव्रतां अधमो रोदस्योः॥ (ग) १.३३.७ (घ) १.५१.५; त्वं मायाभिरप मायिनोऽधमः स्वधाभिर्ये अधि शुसावजुस्त्वत। त्व पिप्रोर्नुमणः प्रारुजः पुरः प्र ऋजिश्चानं दस्युहत्येष्वविथ॥ (ङ) ४.२६.२; अहं भूमिमददामार्यायाहं वृष्टिं दाशुषे मत्याय। अहमपो अनयं वावशाना मम देवासो अनु केतमायन्॥ (च) ६.२२.१०; यया दासान्यायाणि वृत्रकरो वज्रिन्सुतुका नाहुषाणि॥ (छ) ६.६०.६; हतो वृत्राण्यायां हतो दासानि सत्पती। हतो विश्वा अप द्विषः। ६.३३.३; त्वं तौ इन्द्रोभयौ अमित्रान् दासा वृत्राण्यायां च शूर। (ज) १०.३८.३; यो नो दास आर्यो वा पुरुष्टतादेव इन्द्र युधिषे चिकेतति। अस्माभिष्टे सुषहाः सन्तु शत्रवस्त्वया वयं तान् वनुयाम संगमे॥ (झ) ५.११.३; न मे दासो नार्यो महित्वा व्रतं मीमाय यदहं धरिष्ये। (ञ) ७.१०४.२; इन्द्रासोमा समधशंसमभ्यधं तपुय्यस्तु चरुग्निवौ इव। (ट) १०.२६.५-६; प्रत्यार्थिर्ज्ञानामश्नहयो रथानाम्। ऋषिः स यो मुनर्हितो विप्रस्य यावयत्सखः॥ आधीषमाणायाः पतिः शुचायाश्च शुचस्य च। वासोवायोऽवीनामा वासांसि मर्मजत्॥ (ठ) १०.५३.६; तन्तुं तन्वन् रजसो भानुमन्विहि ज्योतिष्मतः पथो रक्ष धिया कृतान्। अनुत्त्वणं वयत जोगुवामपो मनुर्भव जनया दैव्यं जनम्॥ (ड) ४.५७.३; क्षेत्रस्य पतिर्मधुमात्रो अस्त्वरिष्यन्तो अन्वेनं ज्वरेम। (ढ) ४.५७.४; इन्द्रः सीतां निगृह्णात तां पूषान् यच्छतु। सा नः पयस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम्॥ (ण) ऋक् १.११७.२१ एवं ८.२२.६ (त) ४.३६.७ (थ) ४.३६.१ अनश्नो जातो अनभीशुरुक्थ्यो रथस्त्रिचक्रः परिवर्तते रजः। महतस्तद्वो देव्यस्य प्रवाचनं द्यामृभवः पृथिवीं यच्च पुष्यथ॥ (द) ४.३६.६

- १०- ऋग्वेद सायणभाष्य (ऋग्वेदसंहिता सायणभाष्यसहित), वैदिक संशोधन मण्डल, तिलक मैमोरियल पूना २; १ से ४ भाग, प्रथम संस्करण १९४१ ई. (क) ६.३३.३ दासा उपक्षपयितुं कर्मविरोधिनो वलप्रभृतीन्सुरान्। (ख) २.१२.४; यश्च दासं वर्णं शूद्रादिकम्। यद्वा दासमुपक्षयितारं अधरं निकृष्टमसुरं गुहा गुहायां गूढस्थाने नरके वा अकः अकार्षीत्। (ग) ४.३०.१५ (घ) ५.३४.६ आर्यः स्वामी यथावशं यथेच्छं दासं दासकर्माणं जनं नयति स्ववशम्। (ङ) ६.२६.५; तथा त्वं दासं यज्ञादिकर्मणामुपक्षपयितारं गिरेः पर्वतान्निर्गतं शम्बरमसुरम् अवहन् अवावधीः। (च) १.५१.५; तथाच कौषीतकिभिराम्नायते - असुरा वा आत्मन्त्रजुहवुरुद्धातेऽग्नौ ते पराभवन्।
- ११- ऋग्वेद दयानन्दभाष्य, वैदिक पुस्तकालय, दयानन्द आश्रम, केसरगंज, अजमेर, राजस्थान (क) २.१२.४ (ख) ४.३०.२१ (ग) ५.३४.६ (घ) ६.२६.५; (ङ) १.५८.५ (च) ६.४७.२१ (छ) ७.११.२ (ज) ५.३०.८
- १२- सत्यार्थप्रकाश; स्वामी दयानन्द सरस्वती, वैदिक पुस्तकालय, दयानन्द आश्रम, केसरगंज, अजमेर, ३९वां संस्करण, २००५ ई०, पृष्ठ २६२-२६३
- १३- निरुक्त (निरुक्तसम्पर्शः) भाष्यकार-स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक; आर्षसाहित्य मण्डल लि०, अजमेर, प्रथम संस्करण मार्च १९६६; (क) ७.६.२३ (ख) तत्कावक्षिनौ? द्यावापृथिव्यावित्येके अहोरात्रावित्येके सूर्याचन्द्रमसावित्येके राजानौ पुण्यकृतावित्यैतिहासिकाः।

जैन धर्म में मानव चेतना के विकास की प्रणाली

डॉ. ईश्वर भारद्वाज^१

डॉ. उषा लोहान^२

जैन धर्मानुसार मानव चेतना का विकास पूर्वजन्म के कर्मफल को नष्ट करके और इस जन्म के कर्मबन्धनों से पृथक् रहने पर ही होता है। इस हेतु जैन ग्रंथों में 'रत्नत्रय' नामक साधना पद्धति का विवेचन प्राप्त होता है। इसे मोक्षमार्ग भी कहा गया है। ये तीन रत्न हैं-सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र।^१ इनका संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है-

१. सम्यक् दर्शन - सत् के प्रति श्रद्धा रखना सम्यक् दर्शन है। श्रद्धा का अभिप्राय अपने ध्येय के प्रति अविचल निष्ठा है। यह सत् से तात्पर्य यथार्थ ज्ञान से है। इस प्रकार सम्यक् दर्शन का अर्थ है-शास्त्रोक्त तत्त्वों के स्वरूप में सच्ची निष्ठा। मनुस्मृति में सम्यक् दर्शन के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है कि सम्यक् दृष्टि सम्पन्न व्यक्ति कर्मबन्धनों में नहीं बन्धता।^२ अतएव जैन साधना प्रणाली में सम्यक् दर्शन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

२. सम्यक् ज्ञान - सत् का संशयरहित और यथार्थ ज्ञान ही सम्यक् ज्ञान कहलाता है। अन्य शब्दों में, 'सम्यक् दर्शन हेतु जिन तत्त्वों पर विश्वास करना अपेक्षित है, उनको विधिवत् रूप से जानना सम्यक् ज्ञान है।'^३ अथवा अनेक धर्मयुक्त 'स्व' तथा 'पर' पदार्थों को जानना ही सम्यक् ज्ञान है।^४ इसके द्वारा जीव और अजीव अर्थात् वास्तविक एवं अवास्तविक का ज्ञान हो जाता है।

३. सम्यक् चरित्र - सम्यक् दर्शन की उपलब्धि और सम्यक् ज्ञान की आराधना के अनन्तर साधक का चरित्र सम्यक् चरित्र हो जाता है। अशुभ से निवृत्ति और शुभ या शुद्ध में प्रवृत्ति चरित्र है।^५ ज्ञान को आचरण में लाना, यही चरित्र धर्म है, इसी को अन्य शब्दों में सम्यक् चरित्र कहा गया है। इस अवस्था में व्यक्ति जागतिक विषयों के प्रति उदासीन हो जाता है।

सम्यक् चरित्र की प्राप्ति हेतु सँवरयोग और तपोयोग का प्रतिपादन किया गया है। पूर्वकर्मों के क्षय (निर्जरा) हेतु तपोयोग और नये कर्मों के निर्माण (सँवर) के निरोध हेतु सँवरयोग का प्रतिपादन किया गया है।

तपोयोग - आचार्य अभयदेव के अनुसार जिस साधना द्वारा शरीर के रस, रक्त, माँस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र तप जाते हैं, शुष्क हो जाते हैं अथवा अशुभ कर्म जल जाते हैं, उनका क्षय हो जाता है, उस साधना को तप कहते हैं।^६ जिनदासगणी महत्तर के अनुसार तप उस साधना को कहते हैं जिसके द्वारा आठ प्रकार के कर्मों की ग्रंथियों को तपाया जाता है, नाश किया जाता है।^७ इस सम्बन्ध में मलयगिरि का भी यही मानना है।^८ तपोयोग की साधना से साधक अपने पूर्व बद्ध कर्मों की निर्जरा करके आत्मा को शुद्ध बनाता है।^९

तप के भेद - तप के भेदों का विस्तृत वर्णन उत्तराध्ययन सूत्र में प्राप्त होता है।^{१०} इसमें तप के दो प्रमुख भेद बताये गये हैं- (१) बाह्य तप, (२) आभ्यन्तर तप।

१ प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, मानव चेतना एवं योग विज्ञान विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
२ शारीरिक शिक्षा विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र

बाह्य तप^{११} - यह छः प्रकार का है-

(१) अनशन - सभी प्रकार के आहार का त्याग अनशन है।

(२) अवमौदर्य - अल्प आहार मात्र ग्रहण करना अवमौदर्य अथवा ऊनोदरी तप कहा गया है।

(३) वृत्तिपरिसंख्यान - आहार सम्बन्धी परिस्थितियों पर नियंत्रण करना वृत्तिपरिसंख्यान तप है

अर्थात् भिक्षा द्वारा भोजन ग्रहण करना। इसे भिक्षाचारी भी कहा गया है।

(४) रस परित्याग - घृतादि विशेष पौष्टिक एवं विकारी वस्तुओं का त्याग तथा मिष्ठान आदि रसों का नियमन करना रस परित्याग है।

(५) विविक्त शय्यासन - इसका अर्थ है-शून्य ग्रहादि एकांत स्थान में वास करना। इसे प्रतिसंलीनता भी कहा गया है।

(६) कायक्लेश तप - धूप, शीत, वर्षा आदि बाधाओं को विशेष रूप से सहने का एवं आसन विशेष पर दीर्घकाल तक स्थिर रहने का अभ्यास करना कायक्लेश तप कहा जाता है।

आभ्यंतर तप^{१२} - आभ्यंतर तप के भी छः प्रकार कहे गये हैं। ये निम्न हैं-

(१) प्रायश्चित - प्रमादवश उत्पन्न हुए दोषों के परिहार हेतु आलोचना, प्रतिक्रमण आदि चित्तशोधक क्रियाओं में प्रवृत्त होना प्रायश्चित तप है।

(२) विनय तप - अभिमान का परित्याग कर ज्ञान एवं आयु में बड़े व्यक्तियों के प्रति आदर-सम्मान व्यक्त करना विनय तप है।

(३) वैयावृत्य तप - इसका अर्थ है गुरुजनों, वृद्धजनों एवं तपस्वियों, महात्माओं आदि की निष्काम भाव से सेवा करना।

(४) स्वाध्याय तप - धर्मशास्त्रों का अध्ययन, मनन, चिंतन व स्मरण करते रहना स्वाध्याय तप है।

(५) व्युत्सर्ग तप - गृह, धन-धान्यादि बाह्य उपाधियों तथा क्रोधादि आंतरिक उपाधियों का त्याग करना व्युत्सर्ग तप है।

(६) ध्यान - एक लक्ष्य पर चित्त एकाग्र करना ध्यान है। उमास्वाति ने एकाग्रचित्त तथा शरीर वाणी और मन के निरोध को ध्यान कहा है।^{१३}

सँवर योग - आस्रव को रोकने का नाम सँवर है।^{१४} सँवर को दो प्रकार का कहा गया है-द्रव्य सँवर और भाव सँवर। कर्म पुद्गलों के आस्रव (प्रवाह) को रोक देना द्रव्य सँवर है और कर्मास्रव के कारणभूत ईर्ष्या-द्वेष आदि भावों को रोकना भाव सँवर है।

सँवर प्राप्ति के साधन

गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषह तथा पाँच प्रकार का चरित्र सँवर प्राप्ति के साधन हैं।

गुप्ति - गुप्ति का अर्थ रक्षा है। सँवर प्रवाह के प्रधान कारण स्वरूप मन, वचन तथा काय- इन तीन प्रकार के योग को रोकना गुप्ति है।^{१५}

(१) काय गुप्ति - शरीर को हिंसादि में प्रवृत्त न होने देना।

(२) वचो गुप्ति - अप्रिय, असत्य तथा कटु वचन न बोलने की अपेक्षा न्यूनतम बोलना।

(३) मनो गुप्ति - असत् संकल्पों को त्यागकर सत्संकल्प उत्पन्न करना।

समिति - अहिंसा वृत्ति के पालन हेतु निषिद्ध वृत्तियों का परित्याग ही समिति है। यह पाँच प्रकार की है।

(१) ईर्ष्या समिति - किसी प्राणी की हिंसा से बचने हेतु निश्चित मार्ग से आवागमन।

(२) भाषा समिति - हित-मित-स्पष्ट-सत्य सम्भाषण करना।

(३) एषणा समिति - जीवनोपयोगी वस्तुओं का भिक्षा द्वारा संग्रहण करना।

(४) आदान समिति - समस्त वस्तुओं का अत्यन्त सावधानीपूर्वक परिमार्जन करते हुए ग्रहण एवं स्थापन करना।

(५) उत्सर्ग समिति - जीव-जन्तु शून्य स्थानों में मल-मूत्र विजर्जन करना

धर्म - अपने स्वरूप लाभ के लिए किया गया प्रत्येक प्रयास और विश्व को धारण करने वाला आचरण विशेष ही धर्म कहलाता है। धर्म दस प्रकार के कहे गये हैं।^{१६}

(१) क्षमा - विवेकपूर्वक क्रोध का निवारण करना।

(२) मार्दव - मन तथा व्यवहार में नम्र प्रवृत्ति का होना।

(३) आर्जव - प्रपंचोपचार का परित्याग करना।

(४) शौच - धमाचरण के साधन शरीर, मन, इन्द्रिय आदि में आसक्ति न रखना।

(५) सत्य - सम-शील सत्पुरुषों से हित-मित-सत्य सम्भाषण।

(६) संयम - वाणी-गति-स्थिति आदि में यातनाओं को सहन करना।

(७) तप - दुष्प्रवृत्तियों को शरीर और इन्द्रियों पर नियंत्रण प्राप्त करना।

(८) त्याग - सत्पात्र को दान देना तथा योग्य शिष्यों में ज्ञान आदि गुणों का आधान करना त्याग है।

(९) अकिंचन - आत्मा के चैतन्य आदि गुणों का स्मरण करना तथा पुत्र-भार्या आदि पदार्थों में ममत्व बुद्धि का न होना अकिंचन (मेरा कुछ नहीं है) है।

(१०) ब्रह्मचर्य - अज्ञान निवारण हेतु ज्ञान आदि गुणों का अभ्यास करना तथा इन्द्रिय संयम हेतु गुरुकुल तथा ब्रह्मचर्य आश्रम में निवास ब्रह्मचर्य है।

अनुप्रेक्षा - सत्य के प्रति एकनिष्ठ बुद्धि से देखना अनुप्रेक्षा है।^{१७} अर्थात् अपनी समस्त पूर्वधारणाओं और संस्कारों को नकार कर सत्य को ग्रहण करना अनुप्रेक्षा है। बारह अनुप्रेक्षाओं के नाम इस प्रकार से हैं-

(१) अनित्य अनुप्रेक्षा, (२) अशरण अनुप्रेक्षा, (३) संसार अनुप्रेक्षा, (४) एकत्व अनुप्रेक्षा, (५) अन्यत्व अनुप्रेक्षा, (६) अशुचि अनुप्रेक्षा, (७) आस्रव अनुप्रेक्षा, (८) सँवर अनुप्रेक्षा, (९) निर्जरा अनुप्रेक्षा, (१०) लोक अनुप्रेक्षा, (११) बोधिदुर्लभ अनुप्रेक्षा, (१२) धर्म अनुप्रेक्षा।^{१८}

अनुप्रेक्षायोग की साधना करने वाला साधक अपने पूर्व संस्कारों और धारणाओं तथा राग-द्वेषमय मान्यताओं को त्यागकर सत्य के पति समर्पित हो जाता है और सत्य को ही अपने मन के अणु-अणु में धारण करता है।

परिषहजय - अंगीकार किये हुए धर्म के पालन हेतु तथा कर्मों के क्षय हेतु सदैव-गर्मी आदि द्वन्द्वों को समभाव से सहना 'परिषह' है।^{१९} इसकी संख्या १२ कही गयी है।

(१) क्षुधा, (२) तृषा, (३) शीत, (४) उष्ण, (५) डांस-मच्छर, (६) नाग्न्या, (७) अरंति, (८) स्त्रीचर्या, (९) निषधा, (१०) शय्या, (११) आक्रोश, (१२) वध, (१३) याचन, (१४) अलाभ, (१५) रोग, (१६) तृण स्पर्श, (१७) मल, (१८) सत्कार, (१९) पुरस्कार, (२०) अज्ञान, (२१) अज्ञान, (२२) अदर्शन।
पंचचरित्र - सद्वृत्ति रूप प्रयत्न विशेष का आचरण करना 'चरित्र' है। इसके निम्न पाँच भेद हैं-

(१) सामयिक - द्वेष भाव का परित्याग करके सर्व-भूत हित चिंतन की भावना से मुनि द्वारा सर्वप्रथम ग्रहण की गयी दीक्षा का नाम सामयिक है।

(२) छेदोपस्थान - प्रमाद के कारण चरित्र में आये हुए दोषों का प्रायश्चित्त द्वारा उच्छेदन करके पुनः निर्मल चरित्र धारण करना छेदोपस्थान है।

(३) परिहार-विशुद्धि - जीव हिंसा का परित्याग करके जप, ध्यान तथा आचरण आदि के द्वारा विशेष शुद्धि लाभ करना, परिहार-शुद्धि चरित्र है।

(४) सूक्ष्म-साम्पराय - क्रोधादि कषायों के सर्वथा नष्ट होने पर भी सूक्ष्म रूप से शेष बचे हुए लोभांश के परिहार हेतु किया गया प्रयत्न विशेष सूक्ष्म साम्पराय चरित्र है।
हुए लोभांश के परिहार हेतु किया गया प्रयत्न विशेष सूक्ष्म साम्पराय चरित्र है।

(५) यथाख्यात् चरित्र - समस्त सम्मोहनीय कर्मों के उपशांत होने पर जीव का अपने शुद्ध स्वरूप में स्थित हो जाना यथाख्यात् चरित्र है।^{२१}

इस प्रकार 'गुप्ति, समिति, धर्म, परिषहजय, तपानुष्ठान, अनुप्रेक्षा का आचरण तथा चारित्र धारण करना ये छः सँवर के कारण होते हैं।' ^{२२}

इसके अतिरिक्त साधक को पाँच व्रतों का पालन करने का निर्देश दिया गया है-

पंच व्रत

ये पाँच व्रत निम्न हैं-

अहिंसा - प्रमादवश अपने या दूसरों के प्राणों का घात करना हिंसा है।^{२३} हिंसा का परित्याग ही अहिंसा है। अहिंसा जैनधर्म का मूलभूत आधार है। पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय वनस्पतिकाय और त्रास-जीव (चलने-फिरने वाले) इन छः प्रकार के जीवों के संयमपूर्ण व्यवहार करना ही अहिंसा है। प्राणि मात्र के प्रति मन, वचन, कर्म स हिंसा का त्याग आवश्यक कहा गया है।

सत्य - जैनों ने सत्य को योग का आधार कहा है। निर्दोष, मधुर व हितकर वचन बोलना, कटुसत्य न बोलना, शीघ्रता और चपलता से बिना विचार किये न बोलना, क्रोध के आवेश अथवा लोभ के वशीभूत होकर न बोलना, भय के कारण अथवा हँसी-मजाक में झूठ न बोलना - ये सभी तथ्य सत्य के अंतर्गत सम्मिलित हैं।

अस्तेय - बिना दिये हुए किसी भी अनिवार्य आवश्यकता की वस्तु को भी न लेना अस्तेय है। अन्य शब्दों में आहार-पानी आदि सभी अनिवार्य आवश्यकता की वस्तुएँ उसके स्वामी द्वारा सहर्ष दिये जाने पर ही ग्रहण करना अस्तेय है। इसके अंतर्गत गुरु आज्ञा से आहार ग्रहण करना और गुरु, वृद्ध, रोगी, तपस्वी, मुनि आदि की सेवा भी सम्मिलित की गयी है।

ब्रह्मचर्य - सर्वतोभावेन ब्रह्म का चिंतन, उसी में रमण ब्रह्मचर्य है। संकचित अर्थों में वीर्य का धारण, इन्द्रिय संयम ब्रह्मचर्य है। इसके अंतर्गत जैन ग्रंथों में वासनायुक्त प्रसंगों का कथन, श्रवण, चिंतन, स्मरण, अवलोकन का निषेध किया है तथा साथ-साथ आहारजन्य संयम जो ब्रह्मचर्य पालन में सहायक हो उसको ग्रहण करने का निर्देश दिया है।

अपरिग्रह - अपने शरीर एवं बाह्य धार्मिक उपकरणों में अनासक्ति ही अपरिग्रह है। जैन मतावलम्बियों के अनुसार प्रिय-अप्रिय वचन के प्रति, सुन्दर-असुन्दर के प्रति, सुगन्ध-दुर्गन्ध के प्रति, राग-द्वेष न रखते हुए समभाव से रहना आवश्यक है तथा साथ-साथ- सभी प्रकार के रसों एवं स्पर्शों के प्रति भी उदासीन होना अपरिग्रह के अंतर्गत सम्मिलित है। २४

इस प्रकार स्पष्ट है कि जैन धर्म में चेतना के विकास की प्रणाली का विवेचन व्यापक रूप से प्रतिपादित किया गया है।

संदर्भ सूची

१. सम्यग्दर्शनज्ञानचरित्राणि मोक्षमार्गः । - तत्त्वार्थ सूत्र - १/१
२. सम्यग्दर्शनसम्पन्नः कर्मभर्त्ता बध्यते । दर्शनेन विहीनस्तु संसारे प्रतिपद्यते ॥ - मनुस्मृति
३. नाणेण जागइ भावे । - उत्तराध्ययन सूत्र - २८/३५
४. स्वापूर्वार्थ व्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम् प्रमेयरत्नमाला ।
५. असुहादो विणिवित्ति सुह पावित्ति य जाण चारित्तं ।
६. आचार्य अभयदेव - स्थानांगवृत्ति - ५/१, पत्र २८३
७. तवो णाम तावयाते अदुठविहं कम्मगठि, नासेतित्तुत्तं भवई । जिनदासगिरि जी, दशवैकालिक सूत्र
८. तापयति अष्ट प्रकारं कर्म इति तपः । - मलयगिरि, आवश्यक सूत्र - २/१
९. तपसा निर्जरा च । - तत्त्वार्थ सूत्र - ९/३
१०. उत्तराध्ययन सूत्र - ३०/७-३६
११. तत्त्वार्थ सूत्र - ९/१९, १२. वही, ९/२०, १३. वही, ९/२७
१४. आस्रव निरोधः सँवरः । तत्त्वार्थ सूत्र - ९/१०
१५. सम्यक् योगनिग्रहो गुप्तिः । तत्त्वार्थ सूत्र - ९/४
१६. वही ९/६
१७. सत्यं प्रति प्रेक्षां, अनुप्रेमक्षा
१८. आचार्य आत्माराम जी - जैनयोग सिद्धान्त और साधना, पृ. २१३
१९. डा. किशोरदास स्वामी - भारतीय दर्शन और मुक्ति मीमांसा, पृ. ४१७
२०. तत्त्वार्थ सूत्रम् - ९/९
२१. डा. किशोरदास स्वामी - भारतीय दर्शन और मुक्ति मीमांसा, पृ. ४१९
२२. तत्त्वार्थ सूत्रम् - ६/३
२३. प्रमत्तयागात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा । तत्त्वार्थ सूत्रम् - ६/३
२४. डा. शिवस्वरूप सहाय - प्राचीन भारतीय धर्म एवं दर्शन, पृ. ४६१

उपनिषदों में आर्थिक जीवन की झलक

प्रो० मनुदेव बन्धु^१

मूलस्रोत-वैदिक साहित्य के अन्तर्गत वेद ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् और वेदाङ्ग ग्रन्थों का समावेश किया गया है। “वेदोऽखिलो धर्ममूलम्” कहकर मनु ने वेद की महिमा का प्रतिपादन किया है। “वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है। वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आयों का परम धर्म है” इस उद्घोषणा के साथ ऋषि दयानन्द सरस्वती ने वेदों को सर्वोपरि माना है। वेदों के दैनिक स्वाध्याय से इह लोक और परलोक में कल्याण होता है। ज्ञानकाण्ड और कर्मकाण्ड नामक दो धाराओं में वेदों का व्याख्यान किया गया है। ब्राह्मणग्रन्थ कर्मकाण्ड के अन्तर्गत और उपनिषद्ग्रन्थ ज्ञानकाण्ड के अन्तर्गत आते हैं। उपनिषदों के स्वाध्याय से परब्रह्म की प्राप्ति होती है। यह निर्विवाद सत्य है कि उपनिषद्ग्रन्थ ज्ञानकाण्ड के अन्तर्गत आते हैं। उपनिषदों के स्वाध्याय से परब्रह्म की प्राप्ति होती है। यह निर्विवाद सत्य है कि उपनिषद् ग्रन्थ पाठक साधक को जन्म-मरणा के चक्र से छुड़ाकर मोक्ष की प्राप्ति कराते हैं। भवबन्धन के झंझरों से दूरकरके परमशान्ति की ओर ले चलते हैं। ईशोपनिषद् का कथन ध्यातव्य है-

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्^२॥

अर्थात् हे मानव! यह संसार ईश्वर द्वारा आच्छादित है। तुम इसका त्यागपूर्वक भोग करो। किसी दूसरे के धन को लालच की दृष्टि से मत देखो। यह धन प्रभु का है। परिश्रमपूर्वक भोग करो।

अर्थपरक चिन्तन-उपनिषदों में आध्यात्मिक चिन्तन के साथ-साथ अर्थपरक चिन्तन की झलक मिलती है। तत्कालीन अर्थपरक शब्दों में वित्त^३ धन^४ वसु^५ आदि शब्दों का प्रयोग होता था। श्रीमन्त्र कर्म की उपासना धनप्राप्ति के लिये होती थी।^६ यमाचार्य ने नचिकेता को प्रलोभन देते समय शतायुष पुत्र-पौत्र, सुवर्ण, भूमण्डल, धन-तथा स्थायी आजीविका प्रदान करने का वचन दिया था।^७ ब्राह्मण परिग्रही थे। याज्ञवल्क्य का सम्पत्ति विभाजन भी इसी बात की पुष्टि करता है।^८ बृहदारण्योपनिषद् में सुस्पष्ट शब्दों में कह गया है कि ब्रह्म जब विभूतियुक्त कर्म करने में असमर्थ रहा तब उसने धनोपार्जन करनेवाली वैश्य जाति की रचना की।^९ इस प्रसङ्ग में आचार्य शंकर ने

१ अध्यक्ष वेद विभाग, अधिष्ठाता प्राच्य विद्या संकाय, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

२ यजुर्वेद ४०/१ तथा ईशोपनिषद् मन्त्र १

३ बृहदारण्यकोपनिषद् १/४/८ तथा १/४/१७

४ तैत्तिरीयोपनिषद् १/११/ छान्दोग्योपनिषद् १/११/३

५ बृहदारण्यकोपनिषद् ५/११/१ तथा ईशोपनिषद् मन्त्र १८

६ वसुदानो विन्दते वसु य एवं वेद/बृहदा०/४/५/२४ वसु धनं सर्वप्रणिकर्मफलम् शांकर-भाष्य

७ बृहदारण्यकोपनिषद् ६/३

८ शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्व। कठोपनिषद् १/१/२३-२५

९ बृहदारण्यकोपनिषद् २/५/२

१० स नैव व्यभवत् स विशमसृजत् यान्येतानि देवजातानि गणश आख्यायन्ते वसवो रुद्रा आदित्या विश्वेदेवा मरुत इति।-

बृहदारण्यकोपनिषद् १/४/१२

महत्त्वपूर्ण तथ्य का उद्घाटन करने का प्रयास किया है। उनका कथन है। कि ब्रह्म ने कर्म के साधनभूत वित्तोपार्जन हेतु वैश्यों की रचना की। जिन्हें गणरूप कहा है। अनेक मिलकर ही वित्तोपार्जन करते हैं। वैश्यगण थे। गण एकता का सूचक है।^{११} इससे यह ध्वनित होता है कि ब्रह्म ने वित्तोपार्जन करनेवाले वर्ग के निमित्त विश की सृष्टि की, जिसका कार्य व्यापार द्वारा सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना था।

कृषि-अन्न को ब्रह्म कहकर ऋषि के महत्त्व का प्रतिपादन किया गया है।^{१२}

“अन्नं बहु कुर्वीत” की धारणा समाज को उन्नत बनाये रही और अपने-अपने खेतों को पर्याप्त उन्नत किये रही।^{१३} अन्न की रचना परमपिता परमात्मा ने ज्ञान और कर्म के द्वारा की।^{१४} इस कथन से प्रतीत होता है कि अन्न के उत्पादनार्थ विवेक और श्रम दोनों ही अपेक्षित थे। आधुनिक नवीन वैज्ञानिक प्रयोग इसी तथ्य के परिपोषक हैं। हल का प्रयोग ऋग्वेद से ही प्रचलित था।^{१५} यजुर्वेद में इस सीर कहा गया।^{१६} कृषि सम्बन्धी कर्मों, कर्षण, वपन, कटाई तथा निराई के भी उल्लेख मिलते हैं।^{१७} इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि कृषि कर्म निर्विवाद रूप से समुन्नत हो चुका था।^{१८} उपनिषत्काल तक समाज का बड़ा वर्ग कृषिकर्म में प्रवृत्त था। इसमें अधिकांशतः वैश्य लोग थे। शूद्रों के श्रम का विनियोग वे इसी दिशा में करते थे।^{१९}

धान्य-बृहदारण्यकोपनिषद् में दस प्रकार के ग्रामीण अन्नों का प्रयोग मिलता है।^{२०} जिसमें ब्रीहि (धान), यव (जौ), तिल, माष (उड़द), अणु (सांवा), प्रियंगु (कांगनी), गोधूम (गेहूँ), मसूर, खल्व (बाल) और खलकुल (कुर्थी) है। आचार्य सायण खलकुल को एक प्रकार की दाल के रूप में मानते हैं।^{२१} उपर्युक्त सन्दर्भ में आचार्य शंकर, आचार्य शिवशंकर शर्मा तथा महात्मा नारायण स्वामी के भाष्य भी द्रष्टव्य हैं।^{२२}

पशुपालन-कृषि के विकास, यातायात, तथा दुग्ध घृतादि पौष्टिकवस्तुओं की सम्प्राप्ति हेतु पशुओं की भूयसी महत्ता थी। पशुओं से सम्पन्न व्यक्ति पशुमान् कहलाता था।^{२३} यदि एक भी पशु का हरण हो जाता था तो वह अप्रिय माना जाता था।^{२४} अपनी आवश्यकताओं के निमित्त ही पशुप्रिय थे।^{२५} तत्कालीन पशुओं में गौ का

११ स नैव व्यभवत्, कर्मणे ब्रह्म तथा न व्यभवत्, वित्तोपार्जयितुरभावात्। स विशमसृजत् कर्मसाधन वित्तोपार्जनाय.....गणशो गणंगणम् आख्यान्ते कथ्यन्ते। गणप्राया हि विशः प्रायेण संहतो हि वित्तोपार्जने समर्था न एकैकशः।-शांकर भाष्य बृहदारण्यकोपनिषद् १/४/१

१२ अन्नं ब्रह्म इत्युपास्ते। छान्दोग्योपनिषद् ७/९/२ अन्नं वै ब्रह्म। तैत्तिरीयोपनिषद्

१३ तैत्तिरीयोपनिषद् १०/७/१/९

१४ मेघया तपसाऽजनयत् पिता॥ बृहदा० १/५/२

१५ ऋग्वेद १०/७१/९

१६ यजुर्वेद संहिता १८/७

१७ शतपथ ब्राह्मण १/६/१/२

१८ दि इकोनोमिक लाईफ आफ एंशियेण्ट इण्डिया पृष्ठ ९० एग्रीकल्चर

१९ उत्तर वैदिक समाज एवं संस्कृति, पृष्ठ ४८

२० बृहदारण्यकोपनिषद् ६/३/१३

२१ वैदिक इण्डेक्स, खण्ड १, पृष्ठ २१५

२२ बृहदारण्यकोपनिषद् शांकर भाष्य ६/३/१३

२३ छान्दोग्योपनिषद् २/६/२

२४ एकस्मिन्नेव पशावादीयमानेऽप्रियं भवति किमु बहुषु। बृहदारण्यकोपनिषद् १/४/१०

२५ बृहदारण्यकोपनिषद् १/४/१०

महत्वपूर्ण स्थान था। उपहार के रूप में गायें ब्राह्मणों को दी जाती थीं। गोदान की परम्परा विवाहसंस्कार में भी थी।^{३६} आचार्य गायों की कामना करते थे।^{३७} राजा जनक महर्षि याज्ञवल्क्य को हाथी के समान बैल उत्पन्न करनेवाली सहस्र गायें दान में देना चाहते थे।^{३८} जनक ने गायों के सींग पर दस-दस सुवर्ण बांध रखे थे।^{३९} गौ के बाद उपयोगी पशुओं में अश्व था। सिन्धु देश के अश्व अत्यन्त प्रसिद्ध थे। एक प्रसङ्ग से प्रतीत होता है कि गाय के सदृश अश्व भी सामान्य परिवारों में पाला जाता था।^{४०} वस्त्रोद्योग-रोमवाले पशुओं से ऊन निर्मित किया जाता था। ऊनी कपड़ों को रंग कर तैयार किया जाता था। उनके लिए आविक शब्द मिलता था।^{४१} कताई बुनाई के लिए उनका प्रयोग आर्यलोक करते थे।^{४२} कताई बुनाई का प्रचार संहिता काल में हो चुका था। जिसकी पुष्टि आलंकारिक रूप से वहाँ की गयी है।^{४३} तन्तु शब्द यद्यपि मकड़ी के जाले के रेशों से लिए प्रयुक्त था।^{४४} तथापि उसका वास्तविक अर्थ धागा है। सूती वस्त्रों का अभाव सा है। परन्तु सूल शब्द अवश्य मिलता है। जिसका अभिप्राय सूतली मात्र से लिया जा सकता है। जिसका उपयोग किसी वस्तु को बांधने के लिये किया जाता था।^{४५}

धातु उद्योग-उपनिषदों में अनेक प्रकार के धातुओं का प्रयोग मिलता है, जिनमें लोहा, त्रपु, कांसा, सीसा, सुवर्ण और रजत का समवेत कथन मिलता है।^{४६} सुवर्णकारी कार्य करने वाले को पेशकारी कहा जाता था।^{४७} पेशकारी पद पर विद्वानों में मतैक्य नहीं है। शंकराचार्य ने यह पद सुवर्णकार के लिये प्रयुक्त किया है।^{४८} सुवर्णकारों का व्यवसाय समुन्नत था। सुवर्ण के पात्र बनाये जाते थे।^{४९} सुवर्णकार सुवर्णमात्रा को थोड़ा-थोड़ा लेकर कल्याणतर रूप बनाता था।^{५०} प्रतीत होता है छोटे-छोटे आभूषण अत्यन्त चातुर्य से बनाये जाते थे।

काष्ठोद्योग-दैनन्दिन जीवन के उपयोगी उपकरणों से प्रतीत होता है कि काष्ठ कार्य करने वाले भी समाज में अपनी आजीविकार्थ सचेष्ट थे। यज्ञ पात्रादि के लिये औदुम्बर की लकड़ी का प्रयोग होता था। जिनमें सुवा, चमस और उपमन्थनी का वर्णन मिलता है।^{५१} रथ नौका तथा शकट आदि यानों के अनेक भाग काष्ठ से सम्बन्धित थे जिन्हें कि काष्ठकार्य में प्रवृत्त व्यक्ति (बढ़ई) किया करते थे।^{५२}

२६ संस्कार विधि, महर्षि दयानन्द, विवाह संस्कार

२७ गोकामा एव वयम्। बृहदा० ३/१/२

२८ बृहदारण्यकोपनिषद् ४/१/१-२

२९ बृहदारण्यकोपनिषद् ३/१/१

३० गवाम् अश्वानां दासीनां प्रवाराणाम्। बृहदा० ६/२/१

३१ यथा महारजनं वासो यथा पाण्डवो विक्रमम्। बृहदा० ६/२/१

३२ प्राचीन भारतीय वेशभूषा-मोतीचन्द्र, पृष्ठ १०

३३ ऋग्वेद १/१५/४, २/३/६, १०/१०६/१

३४ यथोर्णनाभिस्तन्तुनोद्धरेद्यथाग्नेः क्षुद्राविस्फुलिगा। बृहदा० २/१/

३५ डॉ० राजेन्द्र कुमार त्रिवेदी-उपनिषद्कालीन समाज एवं संस्कृति, पृष्ठ २७

३६ छान्दोग्योपनिषद् ४/१७/७

३७ यद्यथा पेशकारी पेशसो

३८ यथा पेशकारी पेशः सुवर्णः तत्करोतीति पेशकारी सुवर्णकारः। बृहदा० ४/४/४ शांकरभाष्य

३९ हिरण्ययेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्। ईशोपनिषद् १५

४० बृहदारण्यकोपनिषद् ४/४/४

४१ बृहदारण्यकोपनिषद् ६/९/३

४२ रथं वा नावं वा.....बृहदा० ४/२/१

दूतर उद्योग-दैनन्दिन उपयोग में आने वाले पात्रों में कांसे के पात्रों का भी अपना महत्त्व था। इसकी पवित्रता सुरक्षित थी। रजस्वला को तीन दिन कांसे के पात्रों में खाने-पीन का प्रावधान नहीं था।^{४३} अग्नि के लिए मिट्टी के पात्र प्रयुक्त होते थे।^{४४} आसनी और चटाईयों का निर्माण भी होता था। कूर्च एक आसन विशेष था।^{४५} शुभ अवसरों पर वाद्य वजाने का भी व्यवसाय था। वीणावादन से धनवान् बनने की बात इसी तथ्य का उद्घाटन करती है।^{४६}

समाज का पिछड़ावर्ग श्रीमन्तों और राजाओं के यहाँ परिचर्या करता था। श्वेतकेतु जब पांचालों की सभा में गया तब जैबलि प्रवाहन सेवकों से परिचर्या करवा रहा था।^{४७} राजाओं के यहाँ अनेक कर्मचारी होते थे। वे राजकीय व्यवस्था में सहयोग देते थे। इनमें प्रत्येनस, ग्रामीण, सूत और सारथी आदि प्रमुख थे।^{४८}

यातायात-उपनिषदों में यातायात का वर्णन बहुलता से किया गया है। वेदों से आर्यों के समुद्री ज्ञान तथा मालाओं का आभास मिलता है।^{४९} मार्ग में यदि नदी या नाले पड़ते थे तो बीच में सेतु बनाये जाते थे।^{५०} थल मार्ग हेतु रथ^{५१} शकट^{५२} तथा अनस्^{५३} का भी प्रयोग मिलता है। कुली और धन सम्पन्न वर्ग रथ का प्रयोग करता था। राजा लोग वायुयान आदि का प्रयोग करते थे।

व्यापार-वित्तोपार्जन हेतु वैश्यवर्ग व्यापार करता था।^{५४} व्यापारियों को श्रेष्ठिन् शब्द से जाना जाता था।^{५५} इसका अर्थ आधुनिक सेठ से लिया गया है। मैक्डानल के मतानुसार इसका अर्थ व्यापारियों का प्रमुख है।^{५६} तत्कालीन समाज में धातुओं के प्रयोग तथा उनके औद्योगिक शिल्पों के आधार पर कहा जा सकता है कि व्यापार समुन्नत था। व्यापारी अश्वों से व्यापार किया करते थे। सिन्धु देश के घोड़ों की अच्छी प्रतिष्ठा थी।^{५७} वहाँ का नमक भी उपयोग में लाया जाता था।^{५८}

विनिमय-ज्ञान ग्रहण के पश्चात् दक्षिणा के रूप में गौ प्रदान करने की विधि प्रचलित थी।^{५९} मुद्राओं का स्वरूप कुछ विवादास्पद है। केवल निष्क और पाद की चर्चा अवश्य मिलती है।^{६०} राजा जनक के हजार गायों के

४३ यस्य जायाऽऽर्तवं विन्देत्त्र्यहं कंसे न पिबेत्। बृहदा० ६/४/१३

४४ बृहदारण्यकोपनिषद् ६/४/१२

४५ कूर्चादुपावसर्पन्नुवाच। बृहदा० ४/२/१

४६ छान्दोग्योपनिषद् १/७/६

४७ जैबलिं प्रवाहणं परिचर्यामाणम्। बृहदा० ६/३/१

४८ तद्यथा राजानमायान्तुमुग्राः प्रत्येनसः सूतग्रामण्यः अन्यैः पानैरावसथैः प्रतिकल्पन्ते। बृहदा०- ४/३/३७

४९ ऋग्वेद १/१७/७, ७/६/७, ३/३६/७, समुद्रं गच्छ स्वाहा, अन्तरिक्षं गच्छ स्वाहा। यजुर्वेद

५० बृहदारण्यकोपनिषद् ४/४/२२

५१ बृहदा० ४/१/६

५२ छान्दोग्योपनिषद् ४/१/८

५३ बृहदारण्यकोपनिषद् ४/३/३५

५४ बृहदा० ४/१/११ शांकर भाष्य

५५ कौषितकी उपनिषद् ४/२०

५६ दि इकोनोमिक हिस्ट्री ऑफ एशियेण्ट इण्डिया, पृ० ६.

५७ यथा महा सुहयः सैन्धवः पड्वीशशंकून् संवृहेत्। - बृहदा० ६/१/१३

५८ स यथा सैन्धवखिल्य उदके प्रास्तमुदकमेवानुविलीयेत्। - बृहदा २/४/१२

५९ उत्तरवैदिककालीन समाज एवं संस्कृति पृ० १४४

सींगों में दस-दस सुवर्णपाद बन्धवाये थे। ये पाद सुवर्ण के टुकड़े ही थे। निष्क का अर्थ आभूषण भी किया जाता है।^{६१} उपनिषत्कालीन आर्थिक जीवन की उन्नतावस्था तथा ब्राह्मणकालीन पृष्ठभूमि पर विचार करते हुए यह अनुमान किया जा सकता है कि सुवर्ण के टुकड़े विनिमय के रूप में प्रचलित हो चुके थे। राज्य द्वारा इन पर कोई नियन्त्रण नहीं था। इनमें कोई चिह्न लगाया भी जाता था अथवा नहीं; अकथ्य है। मुद्रा निर्मिति की प्राक् अवस्था मानते हुए इन्हें सिक्कों का अविकसित रूप माना जा सकता है।^{६२}

उपसंहार-उपनिषदों के स्वाध्याय से यह विदित होता है कि आज की तरह तत्कालीन आर्थिक जीवन विकसित नहीं था। आज आधुनिक तकनीक द्वारा, बैकों द्वारा, रेलगाड़ी, ट्रक, जलयान और वायुयान द्वारा व्यापार किया जाता था। आज का व्यापार तथा उद्योगपूर्ण विकसित है। उपनिषदों का लक्ष्य पूर्णशान्ति तथा मोक्ष प्राप्ति ही है। ईश्वर की प्राप्ति ही एकमेव लक्ष्य है।

६० छान्दोग्योपनिषद् ५/१३/१-२

६१ निष्कग्रीव- ऋग्वेद ५/११/३१

६२ उत्तर वैदिक समाज एवं संस्कृति, पृ० ६४

गीता के कर्म सिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में कालिदास की कृतियों का मूल्यांकन

डॉ० बीना कुमारी गुप्ता^१

‘किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः’^२ श्रीमद्भगवद्गीता के प्रारम्भ में परस्पर दो विरुद्ध धर्मों अथवा दो कर्मों के अन्तर्द्वन्द्व में स्थित होने के कारण जिस प्रकार अर्जुन किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये^३ और युद्ध के अन्त में युधिष्ठिर मोहाभिभूत हो गये थे (महाभारत, शान्ति पर्व), उसी प्रकार सांसारिक पुरुषों को कर्म-अकर्म, करणीय-अकरणीय के विषय में विमूढ़ता उत्पन्न होती है। सही दिशा पाने पर मानव कर्तव्य कर्म करता हुआ पुण्य का भागी हो जाता है और निर्देशन के अभाव में अथवा गलत दिशा पाकर वह पाप का भागी हो जाता है। गीता महासागर में कर्म सिद्धान्त सम्बन्धी अगणित रत्न विद्यमान हैं, जो अनवरत रूप से मानव-जीवन को प्रकाशित कर रहे हैं तथा आगे भी करते रहेंगे। कालिदास की कृतियों में यत्र-तत्र गीता के कर्म सिद्धान्त का प्रभाव दृष्टिगत होता है।

भगवान् कृष्ण ने गीता में कर्म की अनिवार्यता का वर्णन इस प्रकार किया है—

न मे पार्थोऽस्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।

नानवाप्तभवाप्तव्यं वर्तते एव च कर्मणि॥^४

इसी को आधार मानकर कालिदास ने अपनी कृतियों में प्रत्येक पात्र के साथ-साथ जड़ प्रकृति को भी कर्म आबद्ध दर्शाया है। सूत्रधार का कथन ‘तत्प्रतिपात्रमाधीयतां यत्नः’ (अभिज्ञानशाकुन्तलम्, नान्दी के बाद) प्रत्येक पात्र को सामर्थ्यानुसार कर्म करने का आदेश देता है। राजा दुष्यन्त द्वारा दत्तचित्त होकर हिरण का पीछा करना^५ हिरण द्वारा अपने प्राणों की रक्षा का प्रयास करना,^६ राजा दुष्यन्त का प्रजा रक्षा में रत रहना^७, शकुन्तला और सखियों का वृक्ष-सिंचन का कार्य करना (अभि, प्रथम अंक), महर्षि कण्व की अनुपस्थिति में शकुन्तला द्वारा अतिथि सत्कार करना (अभि, प्रथम अंक) सूकरों का मोथा उखाड़ने का कार्य करना^८ मछुआरे द्वारा अपने जाति कर्म का वर्णन,^९ महर्षि कण्व द्वारा गृहस्थ के कर्म की विवेचना^{१०} आदि वर्णन कार्य को अनिवार्यता को प्रकाशित करते हुए ‘कुर्वन्नेव कर्माणि जिजीविषेत शतं समाः’ का उद्घोष करते हैं। ‘विक्रमोर्वशीयम् नाटक में उर्वशी

१ रीडर एवं अध्यक्षा, संस्कृत-विभाग, बैकुण्ठी देवी कन्या महाविद्यालय, आगरा। ७४ फेस-२, पुष्पांजली बाग दयाल बाग, आगरा। मो० ९७५९११७८९९

२ गीता ४/१६

३ गीता १/४७

४ गीता ३/२२

५ अभि १/६

६ अभि १/७

७ अभि १/१२

८ अभि. २/६

९ अभि. ६/१

१० अभि. ४/६

अप्सरा की श्वास-प्रक्रिया^{११} राजा पुरुरवा का राक्षसों को मारना,^{१२} राजा के करणीय कर्मों की विवेचना,^{१३} पवन का प्रवाहित होना,^{१४} आचार्यों के गुरुत्व का वर्णन^{१५} आदि के माध्यम से कर्म की अनिवार्यता को प्रकाशित किया है। राजा अग्निमित्र धीरोदात्त प्रकृति के नायक हैं। यह भी अन्य राजाओं की तरह अपने कार्य को एक पल के लिये भी विस्मृत नहीं करते हैं।^{१६} कवि ने 'रघुवंशम्' में प्रत्येक राजा को राजधर्म से आबद्ध दर्शा कर कार्य की महत्ता का प्रतिपादन किया है।^{१७} राजा दिलीप के माध्यम से सेवक के प्रतिफल सेवा-धर्म में रत रहने का वर्णन है।^{१८} 'मेघदूतम्' एवं 'ऋतुसंहार' गीति काव्यों में कवि ने प्रकृति के कार्य, परिवर्तन आदि का वर्णन किया है (मेघदूत, ऋतुसंहार)। इस प्रकार कवि ने अपनी कृतियों में जड़ एवं चेतन पात्रों के माध्यम से कर्म को अनिवार्यता का प्रकाशन किया है, साथ ही साथ गीता के 'तस्माद्योगाय युज्यस्व, योगः कर्मसु कौशलम्'^{१९} वाक्यानुसार विकास सोपान पर ऊपर और ऊपर चढ़ने का आदेश दिया है।

कवि कालिदास ने अपनी कृतियों से कर्म-अकर्म के मध्य अन्तर्द्वन्द्व दर्शाकर अपने पात्रों को सत्कर्म में संयुक्त किया है। महर्षि कण्व के आश्रम में अनिन्द्यरूपा शकुन्तला को देखकर राजा के हृदय में संशय का होना नितान्त स्वाभाविक स्थिति थी,^{२०} तदुपरान्त प्रियंवदा के कथन से संदेह का समाधान हुआ और शकुन्तला को क्षत्रिय स्पर्शयोग्य रत्न बताया गया।^{२१} इसी प्रकार आश्रम में शकुन्तला का सामीप्य चाहने वाले राजा, आश्रम सुरक्षा हेतु जाने के लिये उद्यत होकर अपने मन को विपरीत दशा में ले जाई गई रेशमी ध्वजा के सदृश मानते हैं।^{२२} शिकार करने और शिकार न करने के अन्तर्द्वन्द्व में अन्ततः राजा शिकार से विरत हो जाते हैं,^{२३} शकुन्तला और राजा दुष्यन्त के गन्धर्व विवाह की स्वीकृति महर्षि कण्व द्वारा दी जायेगी अथवा नहीं-इस संशयात्मक स्थिति का समाधान आकाशवाणी द्वारा किये जाने पर सखियों का निश्चित हो जाना,^{२४} दुर्वासा के शाप के कारण अपने दरवार में शकुन्तला को देखकर असमंजस में स्थित राजा की समस्या का समाधान पुरोहित द्वारा किया जाना,^{२५} महर्षि कश्यप के आश्रम में बालक भरत को देखकर राजा के अन्तर्द्वन्द्व का समाधान तापसी कथन से किया गया।^{२६} 'विक्रमोर्वशीयम्' में उर्वशी अप्सरा का कुमारवन में लता बनना और राजा पुरुरवा के मन में अन्तर्द्वन्द्वों का उदय

११ विक्रमो० १/६ के बाद

१२ विक्रमो० १/१७

१३ वि० १/१९/२/१

१४ वि० २/८

१५ मालविका० ५/१६

१६ माल० ५/१, ५/२

१७ रघु० १/५-९

१८ रघु० २/५६

१९ गीता २/५०

२० अभि० १/२१

२१ अभि० १/२६

२२ अभि० १/३२

२३ अभि० २/७

२४ अभि० ४/४

२५ अभि० ५/१२

२६ अभि० ७/१९, ७/२९

होना (विक्रम, तृतीय अंक), राजा राघु के द्वारा वक्र और सरल नीति का चिन्तन करते हुए सरल नीति का चयन करना^{२७} आदि सन्दर्भों में कवि का मुख्य उद्देश्य कर्म-अकर्म के मध्य करणीय मार्ग को प्रशस्त करना है।

कवि कालिदास ने अपनी कृतियों में कर्मों के विविध रूपों का विशद वर्णन किया है-यथा-शुभ और अशुभ कर्म, करणीय और निषिद्ध कर्म। जिन कर्मों के करने से लौकिक और पारलौकिक कल्याण हो, उन्हें शुभ कर्म कहते हैं। इनमें सत्त्व गुण की प्रधानता होती है और जिन कर्मों के करने से दोनों लोकों का ही अहित हो, उन्हें अशुभ कर्म कहते हैं। अशुभ कर्मों में तमोगुण की प्रधानता और कहीं-कहीं रजोगुण का प्राबल्य होता है। करणीय कर्म वे कर्म हैं, जिन्हें करने का आदेश हमारे ग्रन्थ देते हैं और निषिद्ध कर्म वे कर्म हैं, जिनका शास्त्रों में निषेध किया गया है। कवि ने अपनी कृतियों में कर्मों के विविध रूप अभिव्यक्त किये हैं, जिनका मुख्य उद्देश्य शास्त्रोचित विहित कर्म का मार्ग प्रशस्त करना है। वैखानस द्वारा राजा को आतिथ्य ग्रहण करने के लिये आमन्त्रित करना,^{२८} राजा दुष्यन्त का राखियों की सूतृत वाणी को ही आतिथ्य समझना^{२९} ऋषि द्वारा राजा और मुनि की समानता का वर्णन करना^{३०} राजा दुष्यन्त द्वारा मोह निवारण होने पर शकुन्तला को स्वीकार करना^{३१} आदि वर्णनों द्वारा कवि ने शुभ कर्म एवं उनके शुभ फलों का वर्णन किया है। 'विक्रमोर्वशीयम्' में कवि ने राजा के करणीय कर्मों का उल्लेख किया है।^{३२} 'मालविकाग्निमित्रम्' में गुणी के गुणों का वर्णन,^{३३} राजा के उपकार के रूप में शुभ कर्मों का उल्लेख किया है।^{३४} श्रीराम के द्वारा माँ कैकेयी को पितृवचन रक्षा का श्रेय देना तथा माँ की आत्मग्लानि को दूर करने का प्रयास वस्तुतः श्रीराम के शुभ कर्म ही हैं।^{३५} 'कुमारसम्भवम्' में सज्जनों के गुणों का वर्णन शुभ कर्मों का ही प्रतिरूप है।^{३६} 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' में शिव के आठ रूपों की स्तुति,^{३७} 'विक्रमोर्वशीयम्' में शिव-आराधना^{३८} सूर्य देव की उपासना,^{३९} देवी-व्रत का उल्लेख,^{४०} चन्द्र वन्दना,^{४१} शिव-चरण चिह्नों की वन्दना^{४२} आदि के द्वारा कवि ने नित्य कर्मों का वर्णन किया है। किसी निमित्त के लिये किये गये यज्ञ, तपादि कर्म 'नैमित्तिक कर्म' कहलाते हैं। महर्षि कण्व के आश्रम में यज्ञादि का विधान,^{४३} महर्षि कण्व का 'वत्से उपस्थिते तपोऽनुष्ठानम्',^{४४}

२७ रघु० ४/१०

२८ अभि० प्रथम अंक, पृ० ११९

२९ प्र०पृ० १३८

३० अभि० २/१४

३१ अभि० ७/२२, ७/३०, ७/३२

३२ विक्रम० १/१७, १/१९, ५/१९

३३ माल० १/१६

३४ रघु० १/२३-२५, १/१९

३५ रघु० १४/१६

३६ कुमार १/१२

३७ अभि० १/१

३८ विक्रम० १/१

३९ विक्रम १/८

४० वि० ३/४

४१ विक्रम० ३/७

४२ मेघदूत पू० मे० ५९

४३ अभि० ३/२४

महर्षि मारीच एवं महर्षि-कश्यप के आश्रम में तपस्वियों की तपस्या का वर्णन^{४५} नैमित्तिक कर्म हैं। इसी प्रकार 'विक्रमोर्वशीयम्' ने तप एवं व्रतों का उल्लेख,^{४६} नैमिषेय यज्ञ का वर्णन (वि० पाँचवा अंक) राजा दिलीप एवं रानी सुदक्षिणा का नन्दनी सेवा व्रत^{४७} श्रीराम द्वारा लंका से लौटते समय विभिन्न आश्रमों में होने वाले यज्ञों का वर्णन,^{४८} पार्वती द्वारा शिव-प्राप्ति के निमित्त से किये गये उग्र तप^{४९} तथा शिव की समाधिस्थ स्थिति^{५०} वस्तुतः नैमित्तिक कर्म ही हैं। कालिदास ने प्रायश्चित्त कर्मों का वर्णन करके त्रुटियों अथवा अपने दोषों से मुक्ति प्राप्त करने-वाले मार्ग को प्रशस्त किया है। वन्दनीय दुर्वासा ऋषि की वन्दना न करने के कारण ही शकुन्तला उनके कोप का पात्र बनी (अभि०, तृतीय अंक) और सखियों, द्वारा अनुनय-विनय किये जाने पर महर्षि ने प्रायश्चित्त कर्म रूप में अभिज्ञान-दर्शन मार्ग बताया- 'ततो न मे वचनमन्यथाभावितुमर्हति, किन्त्वभिज्ञानाभरण-दर्शनेन शापो निर्वतिष्यत इति.....'^{५१} राजा दुष्यन्त पश्चात्ताप की अग्नि में जलते रहे, जो उनका प्रायश्चित्त कर्म था^{५२} 'विक्रमोर्वशीयम्' में रानी का कथन किंत्वदाक्षिण्यकृता पश्चात्तापात् बिभ्रेमि^{५३} उनके प्रायश्चित्त को दर्शाता है। 'मालविकाग्निमित्रम्' में भी पश्चात्ताप दर्शाकर प्रायश्चित्त कर्म का उल्लेख है,^{५४} 'कुमारसंभवम्' में पार्वती एवं शिव के द्वारा की गयी उपासना,^{५५} महर्षि कश्यप के आश्रम में ऋषियों के द्वारा किये गये तपादि का वर्णन,^{५६} 'रघुवंशम्' में ऋषियों के आश्रम में की गई उपासना (रघु० १३ वाँ सर्ग) का वर्णन करके कवि ने करणीय कर्मों की विवेचना की है। कवि का मुख्य उद्देश्य पाठकों को सत्कर्म के लिए प्रेरित करना है, इसी उद्देश्य हेतु कवि ने निषिद्ध कर्मों की निन्दा भी की है। मृग का शिकार करने वाले राजा दुष्यन्त को आश्रम-मृग के शिकार से रोकते हुए वैखानस ने निषिद्ध कर्म का वर्णन किया है,^{५७} राजा दुष्यन्त ने अपने सेनापति को वन-ग्रहण कर्म से रोक दिया, क्योंकि वह तपस्वियों के छिपे हुए तेज को जानते थे।^{५८} किसी भी यज्ञ में विघ्न डालना उचित नहीं है, अतः एव राजा दुष्यन्त आश्रम की रक्षा के लिए कटिबद्ध हो गये।^{५९} 'कार्य में विलम्ब नहीं करना चाहिए'-इस शिक्षा को देने के लिए कवि ने यक्ष को अपनी प्रिया से एक वर्ष तक दूर रहने का दण्ड दिया।^{६०}

४४ अभि० चतुर्थ अंक

४५ अभि० ७/२२

४६ वि० ३/१३

४७ रघु० २ सर्ग

४८ रघु०, १३ वाँ सर्ग

४९ कुमार ५/८६

५० कु० ३/५०

५१ अभि....चतुर्थ अंक पृ० ४३०

५२ अभि० ६/५

५३ वि० २/२० के बाद

५४ मा० ३/५

५५ कु० १/६०, ३/५०

५६ अभि० ७/१२

५७ अभि० १/१०

५८ अभि० २/७

५९ अभि, २ अंक का अन्तिम

६० मेघ० पूर्व मेघ० १

कवि कालिदास ने अपनी कृतियों के पात्रों के माध्यम से वर्णाश्रम-व्यवस्था के अनुरूप कार्यों का चित्रण किया है। राजा के क्षत्रियोचित कार्यों का प्रायः सभी कृतियों में वर्णन है।^{६१} महर्षि कण्व गृहस्थ (अभि- ४ अंक) एवं वानप्रस्थ (अभि ३ और ४ अंक) आश्रम के प्रतिरूप हैं। महर्षि मारीच एवं महर्षि कश्यप के आश्रमवासियों के कार्य संन्यास-आश्रम के अनुरूप (अभि, ७वाँ अंक), प्रियंवदा और अनुसूया के रूप में सखियों के धर्म (अभि, प्रथम, तृतीय एवं चतुर्थ) विदूषक के रूप में मित्रकर्म (अभि०, माल० विक्रमो) पात्र अपने-अपने कर्तव्यों का निर्वाह करते हुए कर्म मार्ग को प्रशस्त करते हैं।

मनुष्य जैसा कार्य करता है उसे उसी के अनुरूप फल प्राप्त होता है। शुभ कर्म पुण्य और अशुभ कर्म पाप का भागी बनाते हैं। 'कोई जन्म से ही दरिद्र एवं कोई राजकुल में उत्पन्न होता है।' इस सब में कर्मवाद ही प्रमुख है, क्योंकि किसी व्यक्ति को पाप कर्मों का फल चाहे उस समय न मिलता दिखे तथापि उसे ही नहीं, अपितु उसे पुत्रों, पौत्रों एवं प्रपौत्रों को ही भोगना पड़ता है।^{६२} कर्म भोग की अनिवार्यता का दर्शन कराने के उद्देश्य से ही कवि ने अपने पात्रों के भोग माध्यम से संचित, प्रारब्ध एवं क्रियमाण कर्मों का वर्णन किया है।^{६३} राजा दुष्यन्त के प्रारब्ध कर्मों का ही परिणाम था कि आश्रम में प्रवेश करते हुए ही उन्हें शुभ फल प्राप्त करने का संकेत मिला (अभि० १/१४)। तपस्वियों के पुण्य का षष्ठांश भाग कर रूप में ग्रहण करने वाले राजा दुष्यन्त अपने आप को धन्य मानते हैं।^{६४} शकुन्तला ने राजा दुष्यन्त से गधर्व विवाह किया किया और पिता कण्व ने उसे अनुमति दे कर प्रारम्भ की पुष्टि की- 'दिष्ट्या धूमाकुलितदृष्टेरपि यजमानस्य पावक एव आहुतिः पतिता' (अभि० ४/३ के बाद)। शकुन्तला ने पूजनीय दुर्वासा की वन्दना न करने वाले क्रियमाण कर्म का फल वियोग रूप में भोगा (अभि० पंचम अंक)। 'विक्रमोर्वशीयम्' में चोरी^{६५} एवं अपराध^{६६} जैसे दुष्कर्मों के फल का वर्णन कर कवि ने दुष्कर्मों से बचने की प्रेरणा दी है। पूर्व जन्म के कर्मों के परिणाम स्वरूप ही विदर्भ राजकुमारी मालविका को दासी जीवन बिताना पड़ा,^{६७} राजा दिलीप ने पूर्व जन्म में कामधेनु गाय की वन्दना न करने वाले फल को पुत्र रत्न न होने के रूप में भोगा^{६८} अन्ततः 'नन्दनी गो-सेवाव्रत' रूपी क्रियमाण कर्म से पूर्व कर्मों के प्रभाव को समाप्त कर कुमार रघु को पुत्र रूप में प्राप्त किया।^{६९} इसी प्रकार अभिमान के कारण गन्धर्वराज प्रियदर्शन के पुत्र प्रियम्बद को हाथी योनि की प्राप्ति हुई,^{७०} इन्दुमति जो पूर्व जन्म में अप्सरा थी, तृणबिन्दु ऋषि की तपस्या में विघ्न डालने वाले दुष्कर्म के परिणाम रूप में मानव योनि में जन्म लेना पड़ा।^{७१} श्रवण कुमार के अंधे माता पिता के शाप के परिणाम रूप में राजा दशरथ को अपने प्रिय पुत्र राम के वियोग को सहना पड़ा,^{७२} इन्द्रपुत्र जयंत को 'कौआ' योनि में जन्म लेना

६१ अभि० ५/४-६, विक्रमों १/१७-१९, मालविका ५/१-२, रघु० १/२-३ रघु० १/५-९

६२ महाभारत शांति १२९/२१

६३ वेदान्तसार, सांख्यकारिका ६७.६८

६४ अभि० २/१३

६५ विक्रम ४/३४

६६ विक्रम ५/६

६७ मा० ५/१८

६८ रघु० १/२०

६९ रघु० १/२३-२५

७० रघु० ५/३३

७१ रघु० ८/८०

७२ रघु० १२/१०

पड़ा^{७३} तथा अप्सरा उर्वशी को भरत मुनि के शाप के वशीभूत होकर कुमारवन में लता रूप को धारण करना पड़ा (विक्रम० ४/३ से पहले)। उक्त सभी वृत्तान्तों में शुभ अशुभ कर्मों के परिणाम को दर्शा कर कवि ने कर्म संबंधी शाश्वत मूल्यों की स्थापना की है।

सांख्य दर्शनानुसार कर्म करने वाले की प्रवृत्ति कभी सात्त्विक, कभी राजसी और कभी तामसी होती है,^{७४} तथापि प्रत्येक प्राणी को सत्कर्म के लिए सतत प्रयत्नशील रहना चाहिये तथा स्वामी विवेकानन्द जी के इस कथन को पलभर के लिए विस्मृत नहीं करना चाहिए—“इस संसार में दुःख को समाप्त नहीं किया जा सकता है। इस संसार से बुरे कर्मों का अस्तित्व मिटाया नहीं जा सकता, केवल मनुष्य का धर्म है कि वह दुःख एवं बुरे कर्मों को कम करने की चेष्टा करें।”^{७५} कर्मों की पृष्ठभूमि में कवि कालिदास ने मुण्डकोपनिषद् के ‘सत्यमेव जयते’ (मुण्डकोपनिषद्) की ही स्थापना की है।

कवि कालिदास कर्म के माध्यम से विकास सोपान पर अनवरत अग्रसर होने वाले मार्ग से अवगत थे इसलिए कवि ने सकाम कर्म एवं सत्कर्मों के वर्णन के साथ गीता के द्वारा निर्दिष्ट निष्काम काम का भी उल्लेख किया है। परम शान्ति एवं परम लक्ष्य का साधन निष्काम कर्म ही है—

‘विहाय कामान्यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।

निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति॥’^{७६}

प्रजापति कश्यप के आश्रम में निष्काम भाव से तपस्या में रत ऋषियों को देखकर सात्त्विक प्रवृत्ति वाले राजा दुष्यन्त आश्चर्यान्वित हो गये,^{७७} सृष्टि का मंगल करने वाले भगवान् शिव एवं निष्काम भाव से तपस्या में लीन हैं^{७८}— यह दर्शाकर कवि ने निष्काम भाव से करने की प्रेरणा दी है क्योंकि निष्काम कर्म ही मोक्ष का द्वारा खोलता है।^{७९}

कवि कालिदास ने अपनी कृतियों में चित्रांकित पात्रों के माध्यम से कर्म की अनिवार्यता, कर्म-अकर्म के मध्य अन्तर्निहित द्वन्द्व, शुभ-अशुभ कर्मों के विविध रूप, करणीय कर्मों का अनुशीलन, निषिद्ध कर्मों का त्याग, कर्मों के पुण्य एवं पापमय परिणाम, कर्म के माध्यम से सत् मूल्यों की स्थापना तथा निष्काम कर्म की पराकाष्ठा का वर्णन किया है। कवि रूपी अर्जुन के लिए कृष्ण बनकर अनवरत कर्म करने, दुष्कर्मों से बचने, कर्मों के प्रति सजग रहने का संदेश दिया है। कवि का मूल संदेश उनके ही शब्दों में द्रष्टव्य है—

‘विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः।’^{८०}

७३ रघु० १२/२३

७४ सांख्यकारिका, १२ एवं १३

७५ विवेकानन्द कर्मयोग

७६ गीता २/७१

७७ अभि० ७/१२

७८ कुमार. ३/५०

७९ वेदान्त सार, सांख्यकारिका ६७, ६८

८० कुमार संभव १/५९

श्रीमद् भगवद्गीता में वर्णित युद्ध की नीतिगत मीमांसा

डॉ. (श्रीमती) सुरचना त्रिवेदी^१

श्रीमद् भगवद्गीता धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र और मोक्षशास्त्र होने के कारण नीतिशास्त्र का अक्षय सार्वभौमिक कोश है। अध्यात्मविदों के मतानुसार 'नीयतेऽभ्युदयनिःश्रेयसावनया इति नीतिः' - 'जो अभ्युदय और निःश्रेयस् अर्थात् भोग व मोक्ष सुलभ कराये, वह नीति है।

नीति शब्द की व्युत्पत्ति है - 'नयति इति नीतिः' अथवा 'नीयते पुरुषार्थं फलाय सर्वं जगत् यया सा नीतिः' अर्थात् जो विद्या अपनी युक्तियों के द्वारा सारे जगत् को तथा प्रत्येक मानव को उसके प्रधान उद्देश्यों की ओर अर्थात् धर्म-अर्थ-काम व मोक्ष के सम्पादन में उचित मार्ग से ले चले, उसी का नाम नीति है।

बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र में 'नीतिः फलं धर्मार्थकामावाप्तिः' (अ० २- ४३) कहकर धर्म, अर्थ तथा काम की प्राप्ति को नीति का फल बताया है। इस प्रकार वेदों से लेकर अर्वाचीन काव्य ग्रन्थों तक नीतिविषयक बहुमुखी वर्णन निर्दिष्ट है। नीतियाँ कई प्रकार की हैं धर्मनीति, राजनीति, युद्धनीति आदि। युद्धनीति राजनीति का ही एक प्रकार है।

'युद्ध'^२ शब्द 'युध्' धातु में 'क्त' प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है - 'युद्ध', 'लड़ाई' अथवा 'संग्राम'। राष्ट्र की सुरक्षा व रक्षा के लिए, आततायियों के नाश एवं अपने साम्राज्य के विस्तार के लिए तथा पीड़ित व शोषित समाज या राष्ट्र को दुःख निवृत्त कर सुखी बनाने के लिए 'युद्ध' राष्ट्रीय जीवन का प्रमुख अङ्ग है। युद्ध की शाश्वत संभावनाओं को वेदों में भी स्वीकार किया गया है। वेद में इन शक्तियों को 'इन्द्र' व 'रुद्र' आदि नामों से सम्बोधित किया गया है।

श्रीमद्भगवद्गीता एक परम रहस्यमय ग्रन्थ है। इसमें सम्पूर्ण वेदोपनिषदों का सार-संग्रह किया गया है इसी कारण इसे सर्वशास्त्रमयी कहा जाता है। मानव-जीवन के पारिवारिक, सामाजिक, राजनीतिक, बौद्धिक तथा सांस्कृतिक पक्षों पर आधारित राष्ट्रीय जीवन का कोई भी पक्ष ऐसा नहीं है, जिसका सम्यक् प्रतिपादन इसमें न किया गया हो। अन्यान्य विषयों के साथ गीता में युद्धनीति का अति सूक्ष्मतया वर्णन व विवेचन प्राप्त होता है ग्रन्थ का आरम्भ ही धृतराष्ट्र द्वारा दिव्यदृष्टि प्राप्त सञ्जय से पूछे गये युद्ध के विवरण के रूप में किया गया है -

'धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेताः युयुत्सवः।

मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत सञ्जय॥'^३

सम्पूर्ण गीताशास्त्र युद्ध क्षेत्र में ही निष्पन्न है। युद्ध के मध्य ही भगवान् के श्रीमुख से अर्जुन को विविधविध नीतिगत उपदेश दिया गया। धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र में रणभूमि में एकत्र योद्धाओं ने युद्धारम्भ कैसे किया? किसका किससे युद्ध हुआ तथा किसके द्वारा किसका वध किया गया? धृतराष्ट्र के इन प्रश्नों तथा 'युयुत्सवः' पद में युद्ध का सम्पूर्ण दर्शन निहित है। दूसरी ओर अर्जुन के मोहग्रस्त होने के कारण युद्ध न करने की अभिलाषा

१ प्रवक्ता - संस्कृत, भगवानदीन आर्य कन्या, स्नातकोत्तर महाविद्यालय, लखीमपुर-खीरी

२ हिन्दी - संस्कृत कोष - तरिणीश झा - पृ० - १५८

३ गीता १/१

व्यक्त करने पर श्रीकृष्ण द्वारा युद्ध की अपरिहार्यता को सिद्ध करने की विधि पूर्णतया दार्शनिक व आध्यात्मिक पृष्ठभूमि पर आधारित है।

अर्जुन को युद्ध के लिए प्रेरित करने के लिए वर्णाश्रम धर्म का आश्रय

‘चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः’^४

अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों का समूह गुण व कर्मों के विभागपूर्वक मेरे द्वारा रचा गया है। इसी क्रम में उन्होंने क्षात्रधर्म की दृष्टि से युद्ध को अर्जुन का ‘स्वधर्म’ बतला कर उसका त्याग करना सब प्रकार से अनुचित बताते हुए, युद्ध को इहलोक तथा परलोक में दोनों में लाभप्रद बताते हुए, अर्जुन को युद्ध का निश्चय करने की प्रेरणा दी है। गीता के द्वितीय अध्याय के इकतीस से छत्तीसवें श्लोक तक उन्होंने अर्जुन को क्षात्र धर्म के अनुसार युद्ध को उसका स्वभाव बताया है -

धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यच्छत्रियस्य न विद्यते।^५

वे अर्जुन को प्रेरित करते हुए कहते हैं कि यह युद्ध ‘यदृच्छयोपपन्नम्’ अर्थात् बिना इच्छा के लिए स्वतः प्राप्त है।

‘सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्’^६

अर्थात् ऐसा युद्ध जो जानबूझ कर नहीं खड़ा किया अपितु सन्धि की समस्त सम्भावनाओं के समाप्त हो जाने पर अवश्यम्भावी हो गया है, वह युद्ध ‘धर्मयुद्ध’ की श्रेणी में आ जाता है और ‘स्वधर्मं निधनं श्रेयः’^७ के अनुसार अपने वर्णाश्रम धर्म के अनुरूप कर्तव्य करते हुए प्राणोत्सर्ग कर देना श्रेयस्कर है। क्योंकि ऐसा न करने पर अपकीर्ति की ही प्राप्ति होती है। इस प्रकार युद्ध न करने से अनेक प्रकार की हानियों का वर्णन करने के बाद श्रीकृष्ण अर्जुन को युद्ध के लिए तैयार होने की आज्ञा देते हैं -

तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः।^८

अत्याचारियों का नाश करना क्षत्रिय धर्म है अतः किसी भी प्रकार युद्ध से हटना कायरता है।

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून् भुक्त्व राज्यं समृद्धम्।^९

इसी के बाद मानों आशीर्वाद देते हुए ‘युध्यस्व जेतासि रणे’^{१०} कहकर धर्मयुद्ध की विजय की पूर्वघोषणा भी कर देते हैं। अर्जुन के यह पूछने पर कि ‘बलात् मनुष्य को पाप में प्रवृत्त कौन करता है? इसके उत्तर में कृष्ण द्वारा की गया व्याख्या भी नीति दर्शन से ओत प्रोत है - वे पुरुषार्थ चतुष्टय का उल्लेख करते हुए कामरूप बैरी को समस्त पापाचरण का मूल कारण बताते हैं -

आवृत्तं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्य वैरिणा।

४ गीता ४/१३

५ गीता - २/३१

६ गीता २/३२

७ गीता ३/३५

८ गीता २/३७

९ गीता ११/३३

१० गीता ११/३४

कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च॥^{११}

श्रीमद्भागवद् में भी प्रसंग आता है -

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।

हविषा कृष्णवर्त्मव भूय एवाभिवर्धते॥^{१२}

दुर्योधन काम का, शकुनि दुर्नीति का तथा दुःशासन अन्याय का प्रतीक है तथा सम्पूर्ण कौरव सेना दुर्बद्धि ग्रस्त अधर्म की प्रतीक है। अतः उसका नाश करना अनीति नहीं, नीति ही है। चूँकि काम मन, बुद्धि व इन्द्रियों में ही वास करता है, अतः इन्द्रियरूपी अश्वों के संयमन द्वारा ही उसका विनाश सम्भव है। श्रीकृष्ण का सारथि रूप अन्तःकरण का सर्वज्ञ बौद्धिक रूप है, रथ आत्मा है। अर्जुन मोह ग्रस्त है, रथाश्व इन्द्रियाँ हैं, जिनको - भली प्रकार संयमित करते हुए मोहान्धकार का नाश करके ही यथार्थ तत्त्व की अनुभूति की जा सकती है। कठोपनिषद् में 'रथरूपक' द्वारा इसी प्रकार व्याख्या की गयी है -

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव च।

बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥

इन्द्रियाणि ह्यानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।

आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥^{१३}

उक्त उपनिषद् दर्शन के आधार पर ही गीता में भी जीते हुए मन, बुद्धि और इन्द्रियों से युक्त अपने आत्मा को मित्र तथा बिना जीते हुए मन, बुद्धि और इन्द्रियों वाले को अपने शत्रु के समान बतलाया गया है।

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।

अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्॥^{१४}

बाह्य विषयों में आसक्त इन्द्रियाँ ही वास्तविक शत्रु हैं, जिनका दमन चित्तवृत्तियों का निरोध करके ही सम्भव हो सकता है। इस प्रकार शत्रुमर्दन की व्याख्या में योगदर्शन का सूत्र निहित है - 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'।

गीता में वर्णित युद्ध धर्म युद्ध है तथा उसकी जिस नीति को परमेश का समर्थन प्राप्त है वह धर्म नीति है। इसी लिए वह गीता के दशम अध्याय में कहते हैं - 'नीतिरस्मि जिगीषिताम्' - विजय की इच्छा वालों की विजय की उपाय भूत नीति मैं हूँ।^{१५}

श्रीमद्भागवद् गीता के प्राचीन टीकाकार श्री श्रीधर जी इसकी व्याख्या करते हुए लिखते हैं - नीति शब्द का अर्थ यहाँ साम, दान, दण्ड और भेद रूप शास्त्र विहित राजनीति है। जो लोग बाह्य शत्रु को पराजित करना चाहते हैं, वे यदि शास्त्रानुकूल नीति का - धर्मानुकूल नीति का पालन नहीं करते हैं, तो उन्हें विजय नहीं मिल सकती है यदि येन केन प्रकारेण मिल भी जाये तो वह विजय लोक दृष्टि से निन्दित होने के कारण संसार में कीर्ति देने वाली नहीं होती है। धर्म से रहित होने के कारण परलोक की प्राप्ति भी होती है। परन्तु धर्मानुकूल नीति से जो विजय श्री उपलब्ध होती है, वह लोक में यश तथा परलोक में सद्गति प्राप्त कराने वाली होती है।

११ गीता ३/३९

१२ श्रीमद्भागवद् ९/१९/१४

१३ कठो १/३/३-४

१४ गीता ६/६

१५ गीता १०/३८ CC-0. JK Sanskrit Academy, Jammu. Digitized by S3 Foundation USA

तात्पर्य यह है कि जो धर्म हीन है उसके पास नीति के प्रधान चार गुण साम, दान, दण्ड और भेद नहीं रहते हैं। नीति अर्थात् सद्-सुदृढ़ नीति तो धर्मशील के पास ही रहती है।

युद्ध की क्रिया दो सेनाओं के मध्य ही संभव है। वेदों में भी सेना व उसके कतिपय विभाग एवं उनके सहायकों के सम्बन्ध में उल्लेख प्राप्त होता है।

नमः सेनाभ्यः सेनानिभ्यश्च वो नमो नमो रथिभ्योऽरथेभ्यश्च वो नमो नम क्षतृभ्यः संगृहीतृभ्यश्च वो नमो नमो महद्भ्योऽअर्भकेभ्यश्च वो नमः॥^{१६}

इस सन्दर्भ में गीता की युद्ध सम्बन्धी व्यवस्था पूर्णतया वेदों की युद्ध व्यवस्था की नीति से साम्य रखती है। सेना के महत्त्व को श्रीमद्भगवद्गीता में भी अति विशिष्ट रूप में प्रतिपादित किया गया है। संभवतः इसी कारण श्रीकृष्ण जी ने 'गीताशास्त्र' का सम्पूर्ण उपदेश 'सेनयोरुभयोर्मध्ये' अर्थात् दोनों सेनाओं के मध्य ही दिया है। प्रथम अध्याय में ही अर्जुन श्री भगवान् से निवेदन करते हैं -

'सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थाप्य मेऽच्युत।'^{१७}

'यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान्॥'^{१८}

अर्जुन के द्वारा ऐसा निवेदन करने पर श्रीकृष्ण उन्हें दोनों सेनाओं के मध्य रथ सहित ले जाते हैं, जहाँ से अर्जुन दोनों सेनाओं के योद्धाओं का भलीभाँति दर्शन कर सकें।

'सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम्।'^{१९}

रथ, वाहन, यानादि से युक्त सेना की युद्ध में अनिवार्य आवश्यकता होती है। इस युद्ध में भी बड़े-बड़े योद्धा अपने-अपने वाहनों अश्व, गज, रथ आदि पर आरूढ़ होकर आए हैं। उदाहरणार्थ - अर्जुन का रथ बहुत ही विशाल व उत्तम है वह स्वर्ण से मढ़ा हुआ है। तेजोमय, प्रकाशयुक्त, सुदृढ़ और ध्वज से युक्त है। चार बड़े सुन्दर, सुसज्जित अश्व जो वेगवान् हैं, श्वेत हैं, रथ में जुते हुए हैं -

'ततः श्वेतहयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ।

माधवः पाण्डवश्चैव॥'^{२०}

वेदों में इसी प्रकार के दिव्य गुणोपेत रथ का उल्लेख प्राप्त होता है -

'रथ वाहनं हविरस्य नाम यत्रायुधं निहितमस्य वर्म।

तत्रा रथमुपशमं सदेम विश्वाहा वयं सुमनं स्यमानाः॥'^{२१}

युद्ध में रथ ही पर्याप्त नहीं है अपितु रथ का संचालन करने वाले सारथि की कार्य कुशलता पर योद्धा का रण कौशल निर्भर होता है। इस आधार पर देखें तो कौरवों की ग्यारह अक्षौहिणी सेना के सम्मुख अकेले श्रीकृष्ण सद्दृश सारथि का चयन पाण्डवों के युद्धनीति कौशल को ही प्रदर्शित कर रहा है। इसी लिए अर्जुन उन्हें 'अच्युत'

१६ यजुर्वेद १६/२६

१७ गीता १/१

१८ गीता १/२२

१९ गीता १/२४

२० गीता १/१४

२१ यजु २९/४५

(१/२१) (कभी भी स्वलित न होने वाला) तथा सज्जय ने धृतराष्ट्र के सम्मुख 'हृषीकेश' (१/२०) (अर्थात् जितेन्द्रिय) नामों से सम्बोधित किया है। इस की पुष्टि यजुर्वेद के निम्न मन्त्र से होती है -

रथे तिष्ठन्नयति वाजिनः पुरो यत्र-यत्र कामयते सुधारथिः॥^{२२}

अर्थात् अच्छा सारथि संग्राम में अश्वशक्ति को अग्रसर करता है, यतः मन के पीछे सारथि की इच्छानुसार लगामें नियन्त्रण करती हैं।

युद्ध के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कारक योद्धा होते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में वर्णित दोनों ही पक्षों की सेनाओं के योद्धा अति विशेष शक्तियों से सम्पन्न तथा शूरवीर हैं। प्रथम अध्याय के चौथे, पाँचवें, छठे तथा नौवें श्लोक में योद्धाओं का वर्णन है। युयुधान, विराट्, द्रुपद, धूमकेतु, चेकितान, काशिराज, कुन्ति भोज, शैव्य, युधामन्यु और उत्तमौजा नामक तथा द्रोण, कर्ण, भीष्म सद्श सैन्य संचालक (सेनापति) अस्त्र शस्त्रों से सुसज्जित हैं -

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथाः॥^{२३}

धृष्ट केतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान् पुरुजित्कुन्ति भोजश्च शैव्यश्च नरपुङ्गवः॥^{२४}

..... सर्व एव महारथाः।^{२५}

महाभारत के भीष्म पर्व में भी योद्धाओं के विषय में उल्लेख है कि एक-एक महारथी अकेले ही पूरी सेना को मार डालने में समर्थ है -

एकैकशः समर्था हि यूयं सर्वे महारथाः।

पाण्डुपुत्रान् रणे हन्तुं ससैन्यान् किमु संहता॥^{२६}

वेद में भी कहा गया है -

‘एक वीरः शतं सेनाऽअजयत्साकमिन्द्रः’।^{२७}

ऐसे शूरवीरों के लिए नमस्कार है -

‘नमः शूराय चावमेदिने च।’

सेनापति की भूमिका सेना के लिए अति महत्त्वपूर्ण है। स्वयं भगवान् का वचन है - ‘सेनानीमाहं स्कन्दः’।^{२८}

प्रथम अंक के सातवें श्लोक में दुर्योधन ने ‘नायका मम सैन्यस्य’ कहकर अपनी सेना के नायकों का परिचय कराया है। युद्धारम्भ के लिए उद्घोष तथा सेना को प्रोत्साहन देने के लिए वाद्यों के उपयोग पर वेद में निर्दिष्ट किया गया है।^{२९} इसी प्रकार श्रीमद्भगवद् गीता में भी युद्धारम्भ के समय शंखध्वनि के पश्चात् एक साथ नगाड़े, ढोल मृदंग और नरसिंघे (दुन्दुभि) बजने से आकाश भयंकर शब्द से पूर्ण हो गया।

ततः शंखश्च भेर्यश्च पणवानक गोमुखाः।

२२ यजु २९/४३

२३ गीता १/४

२४ गीता १/५

२५ गीता १/६

२६ महाभा० भीष्मपर्व ५-१/५

२७ यजु १७/३३

२८ गीता १०/२४ CC-0. JK Sanskrit Academy, Jammu. Digitized by S3 Foundation USA

२९ यजु० १६/३५, २९/५५, २९/५४

सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत्॥^{३०}

इसी अध्याय के १४, १५, १६, १७, १८ श्लोक में सभी योद्धाओं द्वारा की गई शंखध्वनि का उल्लेख वेदानुरूप है। युद्ध में अनेक प्रकार के प्रयोगों से जिन क्रियाओं को प्रकट किया जाता है, वे क्रियायें आयुधों के साथ की जाती हैं अर्थात् जिन सहायक साधनों से हम युद्ध करते हैं, वे आयुध हैं। युद्ध में आयुध प्रधान है। इनके बिना युद्ध नहीं हो सकता:-स्थिरा वः सन्त्वायुधाः^{३१}

वेद में वर्णित युद्ध क्रिया में विभिन्न प्रकार के आयुधों या अस्त्रशस्त्रों का वर्णन है। जिनमें वज्र सर्व श्रेष्ठ है गीता भी में भगवान् कहते हैं -आयुधानामहं वज्रः।^{३२} श्रीमद्भागवद् के अनुसार वज्र को भगवान् ने अपना स्वरूप बतलाया है।^{३३} गीता में भी युद्ध में प्रयुक्त किए गये अनेक शस्त्रों का वर्णन 'अथ शूरा महेष्वासा' (१/४), 'नाना शस्त्र प्रहरणाः सर्वे' (१/९) कहकर किया गया है।

इन समस्त तत्त्वों के सुव्यवस्थित होने पर भी जो सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है और वहीं युद्ध की निर्णायक स्थिति का निर्धारण करता है वह है - 'नीतिगत कौशल'। यह नीति यदि 'धर्मनीति' के रूप में प्रयुक्त होती है तो सफलता दायक तथा अधर्मनीति के रूप में प्रयुक्त होने पर असफलता प्रदान करती है।

गीता में वर्णित युद्ध नीति का विश्लेषण करने पर मेरा यह मानना है कि अर्जुन क्षत्रिय थे। धर्मानुसार उनको युद्ध का अवसर प्राप्त हो गया था। धर्मयुद्ध क्षत्रिय के लिए वर्णधर्म है। इसलिए 'युद्ध' शब्द को वर्णाश्रम धर्म का पालन करने लिए की जाने वाली सभी क्रियाओं का उपलक्षण समझना चाहिए। ईश्वर की आज्ञा समझकर निष्काम भाव से वर्णाश्रम धर्म का पालन करने के लिए जो कर्म किए जाते हैं, उनमें अन्तःकरण की शुद्धि होती है। इसके अतिरिक्त कर्तव्य कर्म के आचरण की आवश्यकता का प्रतिपादन करने वाले अन्य भी कारण हैं, जिनका उल्लेख गीता के तीसरे अध्याय में श्लोक संख्या चार से चौतीसवें श्लोक तक किया गया है। उन पर गम्भीरता से विचार करने पर यही दृष्टि प्राप्त होती है कि मनुष्य को अपने कर्तव्य कर्म अवश्य ही करने चाहिए। यही भाव प्रदर्शित करने के लिए यहाँ 'युद्ध' करने को कहा गया है।

'तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च'^{३४}

श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् द्वारा अर्जुन को दी गई युद्ध की प्रेरणा धर्म के द्वारा अधर्म को, नीति के द्वारा अनीति को, शान्ति व क्षमाशीलता के द्वारा अशान्ति व उद्वेगता को, धैर्य के द्वारा काम को तथा विनम्रता के द्वारा अहंकार, दम्भ जैसे भावों को नाश करने की प्रेरणा है। जिसमें श्रीकृष्ण ने धर्म नीति के प्रतिनिधि के रूप में अर्जुन सहित समस्त पाण्डवों को चुना है तथा अधर्म-अनीति व अन्याय के प्रतीक रूप में रूप में कौरवों तथा उनके उद्धट योद्धाओं सहित ग्यारह अक्षौहिणी सेना को प्रस्तुत किया है। श्रीकृष्ण 'सेनयोरुभयोर्मध्ये' अर्थात् दोनों सेनाओं के मध्य सद्भाव, नीति व कर्म का उपदेश देते हैं।

दर्शन परक, सांसारिक सत्य है कि अन्यायी व्यक्ति कुछ समय के लिए अपने अनीति पूर्ण आचरण से सर्व सुख-भोगों की प्राप्ति कर लेता है। जिससे धर्म नीति का पालन करने वाला निराशा मोह तथा शोक आदि में

३० गीता १/१३

३१ ऋग्वेद १/३९/२

३२ गीता १०/२८

३३ श्रीमद्भागवद् ६/११/१९-२०

३४ गीता ८/७

निमग्न हो जाता है, किन्तु जब उसे अपने 'धर्म' (वर्णाश्रम धर्म) का स्मरण होता है तो वह अनीति व अन्याय पर नीति व न्याय की विजय पताका फहराता है।

सम्पूर्ण गीता शास्त्र के युद्ध क्षेत्र में सम्पन्न होने की पृष्ठभूमि में यही नीतिगत तथ्य है जिससे स्पष्ट होता है कि इन्द्रिय रूपी अश्वों का विषय रूपी शस्य संवलित मैदान में विचरण करना, अव्याहत गति से दौड़ना स्वाभाविक है, किन्तु इन्द्रियों के निर्बल तथा असमर्थ होने पर विषयसुख न भोग पाने से अपार दुःख होता है अतः जितेन्द्रियत्व के द्वारा दृढ़ संकल्पित अन्तःकरण से युक्त मनुष्य ही प्रसन्नता को प्राप्त करता है।

आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति।^{३५}

गीता की 'युद्धनीति' का सार यही है कि युद्ध की विजय के मूल में नीति ही स्थित है तथा विजय के मूल में नीति व शक्ति रूप विवेक एवं बल का साहचर्य सिद्ध किया है। पाण्डव नीति तथा विवेक का और कौरव शक्ति व दम्भ का प्रतीक है। इन दोनों में ईश्वर नीतिमान् के सहचर बनते हैं। वे स्वयं कहते हैं -

'नीतिरस्मि जिगीषिताम्'^{३६}

श्रीमद्भगवद्गीता के अन्त में दिव्य दृष्टि सम्प्राप्त सज्जय का कथन सम्पूर्ण गीतोक्त युद्ध की डूनी नीतिगत दार्शनिकता का निदर्शक है -

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।

तत्र श्रीविजयो भूतिर्धुवा नीतिर्मतिर्मम।।^{३७}

उक्त विमर्श के पश्चात् मन में प्रश्न उठता है कि महाभारत के युद्ध में अन्ततः विजय श्री किसका वरण करेगी और क्यों? इसका उत्तर ही सम्पूर्ण युद्धनीति के दर्शन का निरूपण करता है। क्योंकि संख्या, शक्ति तथा आयुधों में पाण्डवों से अधिक सामर्थ्यवान् होते हुए भी तथा धृतराष्ट्र के - 'विजय श्री कौरवों को ही प्राप्त होने के विश्वास के बावजूद विजय पाण्डवों की ही होती है; परम नीति विशारद भगवान् श्रीकृष्ण के कहने का यह तात्पर्य है कि जहाँ शक्ति, युक्ति और नीति तीनों एकत्र होती हैं, वहाँ सफलता असंदिग्ध है। केवल बल नेत्रहीन व जड़वत् है। एतावता विचक्ष्णों का कर्तव्य है कि नीतियुक्त शक्ति व सामर्थ्य के प्रयोग से ही जीवन रूपी युद्ध में भी विजय प्राप्त होती है, ऐसा निश्चित है।

३५ गीता २/६४

३६ गीता १०/३८

३७ गीता १८/७८

बौद्ध काल में वर्णित आर्थिक संगठन: एक विवेचनात्मक अध्ययन

डॉ० दीपा गुप्ता^१

प्राचीन भारत में ब्राह्मण धर्म को चुनौती देकर यदि किसी अन्य धर्म ने शीश उठाया तो निःसंदेह वह बौद्ध धर्म था। भारतवर्ष में बौद्ध धर्म का उद्भव एवं उत्कर्ष जिस तीव्रता से हुआ उसी तीव्रता से उसका पराभव व लोप भी हुआ। फिर भी बौद्ध धर्म ने भारतीय इतिहास को इस प्रकार प्रभावित किया कि एक काल-विशेष को बौद्ध युग का नाम दे दिया गया। बौद्ध साहित्य में आर्थिक जगत् की व्यापक गतिविधियों का उल्लेख मिलता है। बौद्ध काल में न केवल कृषि एवं उद्योग विकसित थे, अपितु व्यापार एवं वाणिज्य भी अति उन्नत अवस्था में थे। अनेक समान व्यवसायी लोग संगठित होकर अपने व्यवसाय का संचालन करते थे। आर्थिक जगत में इस संगठनात्मक जीवन की विद्यमानता के विषय में रिचार्ड फिक लिखते हैं कि बौद्ध काल में ऐसी संस्थाओं एवं संगठनों की विद्यमानता के कारण पूंजी का सुनियोजन, व्यावसायिक समुदाय के वैधानिक हितों की सुरक्षा आदि थे।^२

डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार लिखते हैं कि बौद्ध काल के व्यवसायी श्रेणियों में संगठित थे, इस बात के अनेक प्रमाण बौद्ध साहित्य में मिलते हैं।^३ टी० डब्ल्यू० रिह्स डेविड्स ने बौद्ध कालीन आर्थिक संस्थाओं पर अपेक्षाकृत विस्तृत दृष्टि डाली और शिल्पियों की संस्थाओं का विशेष अध्ययन किया उनके अनुसार शिल्पियों की ८ श्रेणियाँ विद्यमान थीं। इन सभी की उन्होंने एक अस्पष्ट सी सूची भी प्रस्तुत की है।^४ इनके अतिरिक्त अनेक विद्वान् जैसे- डॉ० आर०बी० मजूमदार, डॉ० राधा कुमुद मुकर्जी, श्री पाद अमृत डांगे, डॉ० देवी दत्त शुक्ल, संतोष कुमार दास, डॉ० के० पी० जायसवाल आदि भी बौद्ध कालीन आर्थिक संस्थाओं की व्यापक विद्यमानता एवं महत्त्व को स्वीकारते हैं।

बौद्ध काल में आर्थिक संस्थाओं का निर्माण:-

बौद्ध युगीन भारत में शिल्प, व्यापार, कृषि, पशुपालन व अन्य अनेक व्यवसाय समाज में अपनी उन्नत अवस्था में विद्यमान थे। लेकिन ये सभी व्यवसाय मात्र यन्त्रों, तकनीकी ज्ञान, व शक्ति के आधार पर ही समाज को आर्थिक विकास प्रदान नहीं कर सकते थे। धनोपार्जन और आर्थिक उन्नति हेतु व्यावसायिक संगठन, समन्वय, नियमपूर्वक नियोजन एवं कुशल प्रशासन की आवश्यकता होती है। प्राचीन भारत के बौद्ध कालीन लोक समाज को इन सभी प्रविधियों एवं सूझ-बूझ का भली-भाँति ज्ञान था। इन आवश्यकता पूर्ति के लिए उन्होंने श्रेणी, सार्थ, पूग, गण जैसी आर्थिक संस्थाओं का निर्माण किया। इनकी संस्थाओं का संगठन एवं श्रेष्ठ प्रशासन इन्हें दृढ़ता प्रदान करता है।

^१ प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति तत्त्व विभाग कन्या गुरुकुल कांगड़ी महाविद्यालय, हरिद्वार उत्तराखण्ड

^२ डॉ० रिचार्डफिक- दि सोशल आर्गेनाइजेशन इन नाथ्स इस्ट इंडिया इन बुद्धाज टाइम अंग्रेजी अनुवादक:-एस.के.मैत्रा

कलकत्ता- १९२०, पृष्ठ संख्या-२६७

^३ डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार- प्राचीन भारत का धार्मिक, सामाजिक एवं आर्थिक जीवन दिल्ली- १९७८, पृष्ठ संख्या- ३३०

^४ टी० डब्ल्यू० रिह्स डेविड्स- बुद्धिस्ट इंडिया, कलकत्ता-१९०३, पृष्ठ संख्या-३९-४५

बौद्ध कालीन आर्थिक संगठन

बौद्ध काल में आर्थिक संगठनों की विद्यमानता का मुख्य कारण आर्थिक प्रगति बोध था। पुंजी का सुनियोजन, व्यावसायिक समुदाय के वैधानिक हितों की सुरक्षा आदि दूसरे कारण थे, जो आर्थिक-संस्थाओं के उद्गम एवं विकास का कारण बने। बौद्ध कालीन आर्थिक संस्थाओं के इतिहास में सर्वप्रथम श्रेणी नामक आर्थिक संस्था का नाम आता है।

(अ) श्रेणी:- जातकों में श्रेणी नाम से संबोधित आर्थिक संस्था का उल्लेख व्यापक एवं विस्तृत रूप से मिलता है। बौद्ध काल में श्रेणी एक महत्त्वपूर्ण आर्थिक संस्था थी। जातकों में उल्लेख मिलता है कि विभिन्न प्रकार के उद्योग धंधों एवं व्यवसायों में संलग्न अनेक शिल्पियों, कारीगरों एवं व्यवसायियों ने एक जैसा व्यवसाय करने वाले लोगों के अपने अलग-अलग संघ या समूह बना लिये, जिन्हें श्रेणी कहा गया। बौद्ध कालीन प्रायः सभी शिल्प-व्यवसाय श्रेणी संगठन के अन्तर्गत ही चलते थे। जातकों में ऐसी ८ श्रेणियों का उल्लेख मिलता है,^५ जिनका वर्गीकरण निम्नंकित है:-

१. काष्ठ कर्मी १०. मछुआरे
२. धातु कर्मी ११. मांस-विक्रेता
३. अश्म (पाषाण) कर्मी १२. आखेटक
४. चर्मकर्मी १३. रसोइये एवं हलवाई
५. बुनकर १४. मालाकार एवं पुष्प विक्रेता
६. कुंभकार १५. नाविक (मल्लाह)
७. हाथी-दंत कर्मी १६. चित्रकार
८. रंगरेजन १७. नापित (नाई)
९. रत्नकार अथवा जौहरी १८. रथकार (सारथी) इत्यादि

उपर्युक्त श्रेणियों के अतिरिक्त कुछ अन्य व्यवसाय भी बौद्ध काल में प्रचलित थे। सभी शिल्पकार अपनी-अपनी श्रेणियों में संगठित थे। बौद्ध कालीन आर्थिक संस्था श्रेणी किसी एक मुख्य या प्रधान अध्यक्ष या सभापति के नेतृत्व में क्रियाशील रहती थी। इस अध्यक्ष को जेटुक कहा जाता था। इनकी स्थिति समाज में अति महत्त्वपूर्ण होती थी। ये जेटुक आर्थिक पद की प्रतिष्ठा के अतिरिक्त समाज के अन्तर्गत राजनीतिक, सामाजिक एवं धार्मिक प्रतिष्ठा का भी वरण करते थे। जैसे- ये (जेटुक) राजनीति क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण प्रतिष्ठा का वरण करते थे। इनके अपने कुछ नियम या विधान थे जो इनके द्वारा स्वयं निर्मित होते थे। ये नियम या विधान राज्य द्वारा मान्यता प्राप्त थे। जेटुक अपनी संस्था के सदस्यों के पारस्परिक झगड़े का स्वयं निर्णय करते थे। जैसा जिसका अपराध होता था उसको वैसा ही दण्ड देते थे। राज्य की ओर से इसमें कोई हस्तक्षेप नहीं होता था। ये न्यायिक अधिकारों का स्वतन्त्रता पूर्वक प्रयोग करते थे तथा आन्तरिक मामलों का निपटारा भी स्वयं ही करते थे। इस प्रकार 'जेटुक' समाज में आर्थिक पद की प्रतिष्ठा के अतिरिक्त राजनीतिक प्रतिष्ठा का भी बखूबी वरण करते थे। अतः कहा जा सकता है कि बौद्ध काल में श्रेणी जैसी आर्थिक संस्थाओं का समाज में व्यापक, महत्त्वपूर्ण एवं प्रभावशाली प्रचार तथा प्रसार था।

(ब) बौद्ध कालीन आर्थिक जगत् की महत्वपूर्ण संस्था या संगठन सार्थ

‘जातकों’ में उल्लेख मिलता है कि बौद्धकाल में सार्थ एक महत्वपूर्ण व्यापारिक संस्था थी। जिस प्रकार सभी व्यवसायियों ने एक जैसा व्यवसाय करने वालों की अपनी-अपनी एक अलग संस्था श्रेणी बनाई, ठीक इसी प्रकार सभी व्यापारियों ने एक जैसा व्यापार करने वाले के अलग-अलग संघों का निर्माण किया, जिन्हें ‘सार्थ’ कहा गया।^६

‘जातकों’ में ऐसा उल्लेख मिलता है कि बौद्ध कालीन व्यापारी अपने व्यापारिक अभियानों हेतु सार्थ में संगठित हो, जल व थल दोनों मार्गों का प्रयोग करते थे।^७

सार्थ नामक प्रसिद्ध व्यापारिक संगठन ने अपने एक नेतृत्वकर्ता के रूप में सार्थवाह का वरण किया अर्थात् सार्थ संगठन सार्थवाह के निर्देशन में संचालित होता था। ये सार्थ स्थल मार्गों पर बैलगाड़ियों द्वारा तथा जल मार्गों पर पोतों (जहाजों) में वस्तुएँ लादकर लाते व ले जाते थे। स्थल के एक सार्थ में पाँच सौ से एक हजार तक बैलगाड़ियाँ सम्मिलित होती थीं। एक सार्थ ने श्रावस्ती से राजगृह की यात्रा की (एक जातक कथा में ऐसा उल्लेख मिला है।)^८

एक अन्य जातक में वर्णित है कि बनारस के हाथी दांत के व्यापारी सार्थ में संगठित हो उजैन तक गये।^९ एक ओर अन्य जातक में ऐसा उल्लेख है कि व्यापारियों के एक काफिले या कार्रवे ने विदेह से गांधार तक यात्रा की थी।^{१०} इस समय व्यापारिक वस्तुओं में मृद व धातु पात्र, अस्त्र-शस्त्र, रेशम, हाथी-दांत की वस्तुएँ, आभूषण इत्यादि का समावेश होता था।

बौद्ध युग में पृथ्वी पर वनों की बहुलता थी। सार्थों के मार्ग भी पूर्णतः सुरक्षित नहीं थे। डाकू एवं लूटेरों का सदा भय बना रहता था। अतः व्यापार का संचालन व्यक्तिगत रूप से संभव नहीं था। अतः बौद्ध कालीन व्यापारियों ने संयुक्त रूप से व्यवहार करना श्रेयस्कर समझा तथा सार्थ जैसे उद्यम की रचना की। जातकों में इन सार्थों का व्यापक उल्लेख मिलता है।^{११} बौद्ध कालीन आर्थिक संगठन सार्थ के संगठन तथा संचालन में निम्न बातें प्रमुख रूप से थी।

१. सार्थ में साझा कारोबार, २. सार्थ में नेता के रूप में सार्थवाह का वरण, ३. मार्ग-निर्देशन हेतु ‘थल नियामक’ ‘जल-नियामक’ तथा ‘दिशा काक’ की सेवाओं का सार्थ द्वारा प्रयोग। ४. सार्थ सुरक्षा हेतु सशस्त्र बलों की नियुक्ति। ५. प्रायः निश्चित मार्गों की जानकारी के लिए कुछ अधिकारियों की भी नियुक्ति की थी।

बौद्ध कालीन सार्थों ने व्यापार यात्रा में मार्गों की जानकारी के लिए कुछ अधिकारियों की भी नियुक्ति की थी। जैसे- जो सार्थ ‘सार्थवाह’ के नेतृत्व में स्थल मार्गों द्वारा व्यापार करते थे उन्होंने मार्ग निर्देशन के लिए ‘थल-नियामकों’ की नियुक्ति की थी।^{१२} ये थल-नियामक सभी मार्गों से सुपरीचित होते थे। थल-नियामक मार्गों के भली-भाँति परिचय के साथ-साथ नक्षत्रों, एवं ग्रहों के विज्ञान जैसे- ज्योतिष तथा खगोल विद्या का भी अच्छा

६ जातक- वोल्यूम १, ९३, ९९, १०७, १७४/वो० २, २९५, ३३५/वो० ३, २००

७ वही.....

८ जातक-वोल्यूम १, ९५

९ जातक- वो० ३, १९७

१० जातक- वो० २, ३२१

११ जातक- वोल्यूम १, ९४, ९९, १०७, १०८, १०९, ११०, १११, ११२, ११३, ११४, ११५, ११६, ११७, ११८, ११९, १२०, १२१, १२२, १२३, १२४, १२५, १२६, १२७, १२८, १२९, १३०, १३१, १३२, १३३, १३४, १३५, १३६, १३७, १३८, १३९, १४०, १४१, १४२, १४३, १४४, १४५, १४६, १४७, १४८, १४९, १५०, १५१, १५२, १५३, १५४, १५५, १५६, १५७, १५८, १५९, १६०, १६१, १६२, १६३, १६४, १६५, १६६, १६७, १६८, १६९, १७०, १७१, १७२, १७३, १७४, १७५, १७६, १७७, १७८, १७९, १८०, १८१, १८२, १८३, १८४, १८५, १८६, १८७, १८८, १८९, १९०, १९१, १९२, १९३, १९४, १९५, १९६, १९७, १९८, १९९, २००, २०१, २०२, २०३, २०४, २०५, २०६, २०७, २०८, २०९, २१०, २११, २१२, २१३, २१४, २१५, २१६, २१७, २१८, २१९, २२०, २२१, २२२, २२३, २२४, २२५, २२६, २२७, २२८, २२९, २३०, २३१, २३२, २३३, २३४, २३५, २३६, २३७, २३८, २३९, २४०, २४१, २४२, २४३, २४४, २४५, २४६, २४७, २४८, २४९, २५०, २५१, २५२, २५३, २५४, २५५, २५६, २५७, २५८, २५९, २६०, २६१, २६२, २६३, २६४, २६५, २६६, २६७, २६८, २६९, २७०, २७१, २७२, २७३, २७४, २७५, २७६, २७७, २७८, २७९, २८०, २८१, २८२, २८३, २८४, २८५, २८६, २८७, २८८, २८९, २९०, २९१, २९२, २९३, २९४, २९५, २९६, २९७, २९८, २९९, ३००, ३०१, ३०२, ३०३, ३०४, ३०५, ३०६, ३०७, ३०८, ३०९, ३१०, ३११, ३१२, ३१३, ३१४, ३१५, ३१६, ३१७, ३१८, ३१९, ३२०, ३२१, ३२२, ३२३, ३२४, ३२५, ३२६, ३२७, ३२८, ३२९, ३३०, ३३१, ३३२, ३३३, ३३४, ३३५, ३३६, ३३७, ३३८, ३३९, ३४०, ३४१, ३४२, ३४३, ३४४, ३४५, ३४६, ३४७, ३४८, ३४९, ३५०, ३५१, ३५२, ३५३, ३५४, ३५५, ३५६, ३५७, ३५८, ३५९, ३६०, ३६१, ३६२, ३६३, ३६४, ३६५, ३६६, ३६७, ३६८, ३६९, ३७०, ३७१, ३७२, ३७३, ३७४, ३७५, ३७६, ३७७, ३७८, ३७९, ३८०, ३८१, ३८२, ३८३, ३८४, ३८५, ३८६, ३८७, ३८८, ३८९, ३९०, ३९१, ३९२, ३९३, ३९४, ३९५, ३९६, ३९७, ३९८, ३९९, ४००, ४०१, ४०२, ४०३, ४०४, ४०५, ४०६, ४०७, ४०८, ४०९, ४१०, ४११, ४१२, ४१३, ४१४, ४१५, ४१६, ४१७, ४१८, ४१९, ४२०, ४२१, ४२२, ४२३, ४२४, ४२५, ४२६, ४२७, ४२८, ४२९, ४३०, ४३१, ४३२, ४३३, ४३४, ४३५, ४३६, ४३७, ४३८, ४३९, ४४०, ४४१, ४४२, ४४३, ४४४, ४४५, ४४६, ४४७, ४४८, ४४९, ४५०, ४५१, ४५२, ४५३, ४५४, ४५५, ४५६, ४५७, ४५८, ४५९, ४६०, ४६१, ४६२, ४६३, ४६४, ४६५, ४६६, ४६७, ४६८, ४६९, ४७०, ४७१, ४७२, ४७३, ४७४, ४७५, ४७६, ४७७, ४७८, ४७९, ४८०, ४८१, ४८२, ४८३, ४८४, ४८५, ४८६, ४८७, ४८८, ४८९, ४९०, ४९१, ४९२, ४९३, ४९४, ४९५, ४९६, ४९७, ४९८, ४९९, ५००, ५०१, ५०२, ५०३, ५०४, ५०५, ५०६, ५०७, ५०८, ५०९, ५१०, ५११, ५१२, ५१३, ५१४, ५१५, ५१६, ५१७, ५१८, ५१९, ५२०, ५२१, ५२२, ५२३, ५२४, ५२५, ५२६, ५२७, ५२८, ५२९, ५३०, ५३१, ५३२, ५३३, ५३४, ५३५, ५३६, ५३७, ५३८, ५३९, ५४०, ५४१, ५४२, ५४३, ५४४, ५४५, ५४६, ५४७, ५४८, ५४९, ५५०, ५५१, ५५२, ५५३, ५५४, ५५५, ५५६, ५५७, ५५८, ५५९, ५६०, ५६१, ५६२, ५६३, ५६४, ५६५, ५६६, ५६७, ५६८, ५६९, ५७०, ५७१, ५७२, ५७३, ५७४, ५७५, ५७६, ५७७, ५७८, ५७९, ५८०, ५८१, ५८२, ५८३, ५८४, ५८५, ५८६, ५८७, ५८८, ५८९, ५९०, ५९१, ५९२, ५९३, ५९४, ५९५, ५९६, ५९७, ५९८, ५९९, ६००, ६०१, ६०२, ६०३, ६०४, ६०५, ६०६, ६०७, ६०८, ६०९, ६१०, ६११, ६१२, ६१३, ६१४, ६१५, ६१६, ६१७, ६१८, ६१९, ६२०, ६२१, ६२२, ६२३, ६२४, ६२५, ६२६, ६२७, ६२८, ६२९, ६३०, ६३१, ६३२, ६३३, ६३४, ६३५, ६३६, ६३७, ६३८, ६३९, ६४०, ६४१, ६४२, ६४३, ६४४, ६४५, ६४६, ६४७, ६४८, ६४९, ६५०, ६५१, ६५२, ६५३, ६५४, ६५५, ६५६, ६५७, ६५८, ६५९, ६६०, ६६१, ६६२, ६६३, ६६४, ६६५, ६६६, ६६७, ६६८, ६६९, ६७०, ६७१, ६७२, ६७३, ६७४, ६७५, ६७६, ६७७, ६७८, ६७९, ६८०, ६८१, ६८२, ६८३, ६८४, ६८५, ६८६, ६८७, ६८८, ६८९, ६९०, ६९१, ६९२, ६९३, ६९४, ६९५, ६९६, ६९७, ६९८, ६९९, ७००, ७०१, ७०२, ७०३, ७०४, ७०५, ७०६, ७०७, ७०८, ७०९, ७१०, ७११, ७१२, ७१३, ७१४, ७१५, ७१६, ७१७, ७१८, ७१९, ७२०, ७२१, ७२२, ७२३, ७२४, ७२५, ७२६, ७२७, ७२८, ७२९, ७३०, ७३१, ७३२, ७३३, ७३४, ७३५, ७३६, ७३७, ७३८, ७३९, ७४०, ७४१, ७४२, ७४३, ७४४, ७४५, ७४६, ७४७, ७४८, ७४९, ७५०, ७५१, ७५२, ७५३, ७५४, ७५५, ७५६, ७५७, ७५८, ७५९, ७६०, ७६१, ७६२, ७६३, ७६४, ७६५, ७६६, ७६७, ७६८, ७६९, ७७०, ७७१, ७७२, ७७३, ७७४, ७७५, ७७६, ७७७, ७७८, ७७९, ७८०, ७८१, ७८२, ७८३, ७८४, ७८५, ७८६, ७८७, ७८८, ७८९, ७९०, ७९१, ७९२, ७९३, ७९४, ७९५, ७९६, ७९७, ७९८, ७९९, ८००, ८०१, ८०२, ८०३, ८०४, ८०५, ८०६, ८०७, ८०८, ८०९, ८१०, ८११, ८१२, ८१३, ८१४, ८१५, ८१६, ८१७, ८१८, ८१९, ८२०, ८२१, ८२२, ८२३, ८२४, ८२५, ८२६, ८२७, ८२८, ८२९, ८३०, ८३१, ८३२, ८३३, ८३४, ८३५, ८३६, ८३७, ८३८, ८३९, ८४०, ८४१, ८४२, ८४३, ८४४, ८४५, ८४६, ८४७, ८४८, ८४९, ८५०, ८५१, ८५२, ८५३, ८५४, ८५५, ८५६, ८५७, ८५८, ८५९, ८६०, ८६१, ८६२, ८६३, ८६४, ८६५, ८६६, ८६७, ८६८, ८६९, ८७०, ८७१, ८७२, ८७३, ८७४, ८७५, ८७६, ८७७, ८७८, ८७९, ८८०, ८८१, ८८२, ८८३, ८८४, ८८५, ८८६, ८८७, ८८८, ८८९, ८९०, ८९१, ८९२, ८९३, ८९४, ८९५, ८९६, ८९७, ८९८, ८९९, ९००, ९०१, ९०२, ९०३, ९०४, ९०५, ९०६, ९०७, ९०८, ९०९, ९१०, ९११, ९१२, ९१३, ९१४, ९१५, ९१६, ९१७, ९१८, ९१९, ९२०, ९२१, ९२२, ९२३, ९२४, ९२५, ९२६, ९२७, ९२८, ९२९, ९३०, ९३१, ९३२, ९३३, ९३४, ९३५, ९३६, ९३७, ९३८, ९३९, ९४०, ९४१, ९४२, ९४३, ९४४, ९४५, ९४६, ९४७, ९४८, ९४९, ९५०, ९५१, ९५२, ९५३, ९५४, ९५५, ९५६, ९५७, ९५८, ९५९, ९६०, ९६१, ९६२, ९६३, ९६४, ९६५, ९६६, ९६७, ९६८, ९६९, ९७०, ९७१, ९७२, ९७३, ९७४, ९७५, ९७६, ९७७, ९७८, ९७९, ९८०, ९८१, ९८२, ९८३, ९८४, ९८५, ९८६, ९८७, ९८८, ९८९, ९९०, ९९१, ९९२, ९९३, ९९४, ९९५, ९९६, ९९७, ९९८, ९९९, १०००, १००१, १००२, १००३, १००४, १००५, १००६, १००७, १००८, १००९, १०१०, १०११, १०१२, १०१३, १०१४, १०१५, १०१६, १०१७, १०१८, १०१९, १०२०, १०२१, १०२२, १०२३, १०२४, १०२५, १०२६, १०२७, १०२८, १०२९, १०३०, १०३१, १०३२, १०३३, १०३४, १०३५, १०३६, १०३७, १०३८, १०३९, १०४०, १०४१, १०४२, १०४३, १०४४, १०४५, १०४६, १०४७, १०४८, १०४९, १०५०, १०५१, १०५२, १०५३, १०५४, १०५५, १०५६, १०५७, १०५८, १०५९, १०६०, १०६१, १०६२, १०६३, १०६४, १०६५, १०६६, १०६७, १०६८, १०६९, १०७०, १०७१, १०७२, १०७३, १०७४, १०७५, १०७६, १०७७, १०७८, १०७९, १०८०, १०८१, १०८२, १०८३, १०८४, १०८५, १०८६, १०८७, १०८८, १०८९, १०९०, १०९१, १०९२, १०९३, १०९४, १०९५, १०९६, १०९७, १०९८, १०९९, ११००, ११०१, ११०२, ११०३, ११०४, ११०५, ११०६, ११०७, ११०८, ११०९, १११०, ११११, १११२, १११३, १११४, १११५, १११६, १११७, १११८, १११९, ११२०, ११२१, ११२२, ११२३, ११२४, ११२५, ११२६, ११२७, ११२८, ११२९, ११३०, ११३१, ११३२, ११३३, ११३४, ११३५, ११३६, ११३७, ११३८, ११३९, ११४०, ११४१, ११४२, ११४३, ११४४, ११४५, ११४६, ११४७, ११४८, ११४९, ११५०, ११५१, ११५२, ११५३, ११५४, ११५५, ११५६, ११५७, ११५८, ११५९, ११६०, ११६१, ११६२, ११६३, ११६४, ११६५, ११६६, ११६७, ११६८, ११६९, ११७०, ११७१, ११७२, ११७३, ११७४, ११७५, ११७६, ११७७, ११७८, ११७९, ११८०, ११८१, ११८२, ११८३, ११८४, ११८५, ११८६, ११८७, ११८८, ११८९, ११९०, ११९१, ११९२, ११९३, ११९४, ११९५, ११९६, ११९७, ११९८, ११९९, १२००, १२०१, १२०२, १२०३, १२०४, १२०५, १२०६, १२०७, १२०८, १२०९, १२१०, १२११, १२१२, १२१३, १२१४, १२१५, १२१६, १२१७, १२१८, १२१९, १२२०, १२२१, १२२२, १२२३, १२२४, १२२५, १२२६, १२२७, १२२८, १२२९, १२३०, १२३१, १२३२, १२३३, १२३४, १२३५, १२३६, १२३७, १२३८, १२३९, १२४०, १२४१, १२४२, १२४३, १२४४, १२४५, १२४६, १२४७, १२४८, १२४९, १२५०, १२५१, १२५२, १२५३, १२५४, १२५५, १२५६, १२५७, १२५८, १२५९, १२६०, १२६१, १२६२, १२६३, १२६४, १२६५, १२६६, १२६७, १२६८, १२६९, १२७०, १२७१, १२७२, १२७३, १२७४, १२७५, १२७६, १२७७, १२७८, १२७९, १२८०, १२८१, १२८२, १२८३, १२८४, १२८५, १२८६, १२८७, १२८८, १२८९, १२९०, १२९१, १२९२, १२९३, १२९४, १२९५, १२९६, १२९७, १२९८, १२९९, १३००, १३०१, १३०२, १३०३, १३०४, १३०५, १३०६, १३०७, १३०८, १३०९, १३१०, १३११, १३१२, १३१३, १३१४, १३१५, १३१६, १३१७, १३१८, १३१९, १३२०, १३२१, १३२२, १३२३, १३२४, १३२५, १३२६, १३२७, १३२८, १३२९, १३३०, १३३१, १३३२, १३३३, १३३४, १३३५, १३३६, १

ज्ञान रखते थे। इसी प्रकार जो सार्थ जल मार्गों द्वारा व्यापार करते थे उन्होंने मार्ग-निर्देशन हेतु जल-नियामकों या नाविकों की नियुक्ति की। ये 'जल-नियामक' या 'नाविक' समुद्रों के सभी मार्गों से परिचित होते थे। बीच समुद्र में यात्रा करते समय ये 'नाविक' दिशा निर्देशन हेतु पक्षियों तथा यन्त्रों का उपयोग करते थे। जातकों में इन पक्षियों को दिशा-काक तथा यन्त्रों को मच्छयन्त्र कहा गया है।^{१३} इस प्रकार बौद्ध कालीन व्यापारियों ने सुरक्षा एवं लाभ को ध्यान में रखते हुए स्वयं को सार्थ जैसी संस्था या संगठन में संगठित किया। परन्तु इन संगठित व्यापारियों के मार्ग में अनेक बाधाएँ उपस्थित होती थीं। जिनमें मुख्य रूप से लुटेरों व जंगली जंतुओं का भय सम्मिलित होता था। इन लुटेरों द्वारा सार्थों को लूटने के अनेक प्रसंग जातकों में मिलते हैं। अतः इन सभी से रक्षा हेतु सार्थ संगठित व्यापारी सार्थ रक्षकों की नियुक्ति करते थे। ये सार्थ रक्षक मार्ग में सार्थों की सुरक्षा करते थे। इस कार्य हेतु इन्हें सार्थ द्वारा भुगतान किया जाता था।

सार्थों के मार्ग प्रायः निश्चित होते थे। इन सभी मार्गों की देखभाल तथा सुरक्षा राज्य द्वारा की जाती थी। जिसके बदले में (अर्थात् उपयोग करने पर) सार्थ को राज्य को चुंगी कर देना पड़ता था। जो राज्य की आय का एक प्रमुख साधन था। इसके अतिरिक्त सार्थों को राज्य की सीमाओं पर भी सीमा-कर देना पड़ता था। जिसको 'अन्तपाल' नामक पदाधिकारी वसूल करता था। इस प्रकार स्पष्ट है कि बौद्ध कालीन व्यापारियों का यह सार्थ संगठन एक महत्त्वपूर्ण एवं लाभप्रद आर्थिक संस्था के रूप में जाना जा सकता है।

(स) गण एवं संघ संगठन

रामायण में गण नामक आर्थिक संस्था का उल्लेख मिलता है। जिसके प्रमुख को गणवल्लभ कहते थे। इससे स्पष्ट होता है कि आर्थिक क्षेत्र में गण नामक संस्थाएँ पहले ही बन चुकी थीं। बौद्ध काल में भी गण एक आर्थिक संस्था के रूप में विद्यमान थी। बौद्धकाल में गण का भावार्थ- जिसमें एक समान उद्देश्य को लेकर चलने वाले शिल्पियों, कारीगरों या व्यवसायियों ने अपने-अपने अलग-अलग समूहों का निर्माण किया था। इसी प्रकार बौद्धकाल में संघ भी एक आर्थिक संस्था के रूप में विद्यमान थी। इस काल में संघ रूपी आर्थिक संस्था वह संस्था थी जो एक विशेष उद्देश्य की पूर्ति के लिए व्यवसायियों द्वारा बनाया गया एक समूह या संगठन होता था। इस प्रकार बौद्ध काल में गण एवं संघ एक आर्थिक संस्था के रूप में जाने जाते थे।

उपर्युक्त अध्ययन से बौद्ध-कालीन समाज में विद्यमान आर्थिक संस्थाओं या संगठनों के महत्त्व एवं प्रभाव में कोई संदेह नहीं रह जाता है।

बौद्धकालीन आर्थिक संगठनों की महत्ता एवं विशिष्टताएँ

बौद्धकालीन आर्थिक संगठनों ने व्यावसायिक अनुवांशिकता के तत्त्व को भी अपनाया था अर्थात् प्रायः विभिन्न व्यवसायों में रत लोग अपने वंश के पारम्परिक व्यवसाय का ही अनुसरण करते थे। जिसके परिणाम स्वरूप व्यापार एवं उद्योग में विशिष्टीकरण का उदय हुआ। जातकों में ऐसे अनेक व्यावसायिक कुलों का वर्णन है जिन्होंने अपने व्यवसाय को आनुवंशिक रूप में सम्पादित किया।^{१४} जैसे- व्यापारी कुल, वैद्य-कुल, पणिग-कुल (शाक-भाजी उगाने वाले) अश्म (पाषाण) कर्मी, बुनकर एवं कुंभकार तथा नवरक्षक-कुल आदि अनेक आनुवांशिक व्यवसाय करने वाले कुलों का उल्लेख मिलता है।^{१५} इस प्रकार व्यावसायिक अनुवांशिकता के तत्त्व ने

१३ जातक- वोल्यूम १, २९/वो० २, ३८८/वो ४, ३३०

१४ जातक- वोल्यूम- १८, १९, १०७, ११४, ३३३/वो० ३, १९८, ३३०/वो० ५, ३५६

१५ जातक- वोल्यूम १, ५४, ६९/वो०, १३७, १७८, २६५

बौद्ध कालीन आर्थिक संस्थाओं की महत्ता को और अधिक श्रेष्ठ प्रतिपादित सिद्ध किया। जिससे बौद्ध कालीन आर्थिक जगत् का विकास एवं विस्तार संभव हुआ।

बौद्ध-काल में वैदिक काल से चली आ रही वर्ण-व्यवस्था भी दृष्टिगोचर होती है। लेकिन इसके साथ-साथ बौद्ध काल में व्यवसाय चुनने में पर्याप्त स्वतन्त्रता भी थी। जैसे-यह आवश्यक नहीं था कि यदि ब्राह्मण कुल में जन्म लिया तो वे व्यक्ति बौद्धिक या आध्यात्मिक कार्य ही करेगा। ब्राह्मणों ने चरवाहे, आखेटक, रक्षक, वैद्य, रथकार, बढ़ई, पशुपालक, व्यापारी आदि के रूप में भी जीवन यापन किया। इसी प्रकार क्षत्रिय भी व्यापार, व्यवसाय आदि का भी वरण करते थे।^{१६} इस प्रकार व्यवसाय वरण का यह तत्त्व भी बौद्ध कालीन आर्थिक समाज के विकास के लिए एक महत्त्वपूर्ण कारक सिद्ध हुआ।

बौद्धकाल में शिल्प-उद्योगों तथा व्यवसायों का स्थानीय करण या नगरीकरण भी हुआ अर्थात् एक जैसा व्यवसाय या व्यापार करने वाले लोग एक ही स्थान पर बसा दिये गये थे। जिसको औद्योगिक स्थापन की संज्ञा से अभिहित किया गया। जातक-ग्रन्थ में एक बढ़ई ग्राम का उल्लेख मिलता है। इस ग्राम में एक हजार बढ़ईयों के परिवार रहते थे। बड़े-बड़े नगरों में एक ही जैसा व्यवसाय या व्यापार करने वाले लोगों की अपनी अलग-अलग गलियाँ थीं। जिन्हें वीथि कहा जाता था। बौद्ध काल में इस 'औद्योगिक स्थापन' ने इस काल के सामाजिक एवं आर्थिक जीवन पर एक अमिट प्रभाव डाला।

बौद्ध काल में भारत का विदेशों के साथ भी प्रचुर मात्रा में व्यापार हुआ। इस समय भारत का मिस्र, यूनान, फारस, बेबीलोनिया, दक्षिणी-पूर्वी एशिया, स्वर्णद्वीप (बर्मा, मलाया) तथा स्वर्णभूमि (इण्डोनेशिया, इंडोचाइना) के साथ व्यापार होता था। जिसमें श्रेणी तथा सार्थ जैसी आर्थिक संस्थाओं ने एक महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि बौद्ध कालीन उपर्युक्त सभी आर्थिक संगठन अपनी-अपनी व्यवस्था एवं विधानानुसार अपनी गतिविधियों का संचालन करते थे। इन संगठनों की जन-कल्याण की नीति के कारण इन्हें व्यापक जन-समर्थन प्राप्त होता था। बौद्ध कालीन आर्थिक-संस्थाओं के व्यापक एवं विस्तृत अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि ये आर्थिक संगठन पर्याप्त सीमा तक स्वतन्त्र थे तथा इनकी स्वायत्तता सुस्थापित एवं मान्य थी।

^{१६} जातक- वोल्यूम २, २९०, २९३, ८४, १६९

कबीर का औपनिषदिक दर्शन

डा० मृदुल जोशी^१

हिन्दी साहित्याकाश के देदीप्यमान नक्षत्र कबीर एक कवि, एक संत, एक समाज-सुधारक, एक बुद्धिजीवी होने के साथ-साथ गहन चिंतक और तत्वान्वेषी गम्भीर दार्शनिक भी हैं। 'दृश्यते अनेन इति दर्शनम्' के आधार पर दर्शन का व्युत्पत्तिपरक अर्थ है- 'जिसके द्वारा देखा जाए'। जिस ज्ञान के द्वारा वास्तविक वस्तु का सत्यभूत तात्त्विक स्वरूप प्रकट हो सके, दर्शन की विषय-परिधि में आता है। जगत् का वास्तविक स्वरूप, सृष्टि की उत्पत्ति, सृष्टि का कारण इत्यादि रहस्यों को दर्शन अनावृत करता है। अपरिहार्य मृत्यु के बाद जीव की, जीव की सत्ता कहाँ चली जाती है, इस चिरंतन शाश्वत सत्य को तलाशते-तलाशते कबीर भी दार्शनिक बन बैठे हैं-

संतो धागा टूटा गगन बिनसि गया, सबद जु कहाँ समाई।

ए संसा मोहे निसदिन व्यापै, कोई न कहै समझाई।

नहीं ब्रह्माण्ड प्यंड पुनि नाहीं, पंच तत्त भी नाहीं।

नहि गिह द्वार कदू नहीं तहिवाँ, रचनहार पुनि नाँहीं।^२

जीवन का सूत्र टूट जाने पर शरीर-सत्ता समाप्त हो जाती है और जीवन के विलय के साथ ही पिण्ड के लिए ब्रह्माण्ड का अस्तित्व भी नहीं रह जाता। पंचतत्त्व की स्थिति नहीं रहती, गृह-द्वार का कोई अर्थ नहीं रह जाता तो वह 'मैं' का बोध कराने वाला आत्मतत्त्व कहाँ चला जाता है? आत्मान्वेषण की यह छटपटाहट कबीर को दर्शन के जटिल क्षेत्र में प्रवेश कराती है। ब्रह्म, जीव, जगत्, माया विषयक गूढ़ दार्शनिक सिद्धान्तों को कवि कबीर सामान्य जनता के लिए सरल और सुबोध शब्दों में सुलभ कराने के आकांक्षी रहे हैं। कबीर के चिंतन पर औपनिषदिक प्रभाव असंदिग्ध है। मुण्डकोपनिषद् में समस्त जागतिक पदार्थों का नैमित्तिक कारण ब्रह्म माना है।^३ तैत्तिरीय उपनिषद् में ब्रह्म को 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, यतो जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद् विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म'।^४ कहकर समस्त जीवों का उत्पत्ति कर्ता, पालन कर्ता व लयकर्ता बताया गया है। इसी प्रकार 'तन्नलानिति शान्त उपासीत' कहता हुआ छान्दोग्य उपनिषद् 'तन्न' (यह जगत् ब्रह्म से उत्पन्न), 'तल्ल' (उसी में लीन) और 'तद्र' (उसी के कारण स्थित) मानता है, ठीक उसी प्रकार कबीर भी सृष्टि का जन्म, स्थिति व लय उसी ब्रह्म में मानते हैं।^५

बाजीगर डंक बजाई, सब खलक तमासे आई।

बाजीगर स्वांग सकेला, अपने रंग रमै अकेला॥

यहीं नहीं

१ असिस्टेंट प्रोफेसर हिन्दी विभाग, कन्या गुरुकुल महाविद्यालय, हरिद्वार

२. कबीर-ग्रंथावली, डॉ० श्यामसुन्दर दास द्वारा संपादित, पदावली सं० ३२

३. यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति। यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथाक्षरात् सम्भवतीह विश्वम्॥ मुण्डकोपनिषद् १/१/७

४. तैत्तिरीय उपनिषद् ३१

५. छान्दोग्य उपनिषद् ३/१४/९

जैसे कंचन के भूषण ये कहि गालि तबाहिगें।
ऐसे हम लोक वेद के बिछरे सुनहि माहि समाहिगें।

कहता हुआ कबीर समस्त नाम-रूप आरोपित जागतिक सत्ता को आभास मात्र बताता है। जगत् का मूल अधिष्ठान तो ब्रह्म है। जिस प्रकार स्वर्ण से विविध आभूषण बनते हैं, उसी प्रकार नाना रूप धारी समस्त जागतिक पदार्थ उसी ब्रह्म से उत्पन्न होते हुए उसी ब्रह्म में समा जाते हैं। कबीर के लिए यह जागतिक प्रपंच केवल बाजीगर और कुछ क्षणोपरान्त सब कुछ बटोर कर चल देता है। यहाँ कबीर उपनिषद् के साथ-साथ तुलसी के 'पालड़ पोषड़ सृजड़ बहोरी, बालकेलि सम विधि मति भोरी' की मान्यता के समतुल्य भी दिखाई पड़ते हैं।

उपनिषद् में ब्रह्म को इन्द्रियातीत, अगम्य, अगोचर, अनिर्वचनीय माना है। यही नहीं औपनिषदिक दर्शन के अनुसार ब्रह्म की सत्ता अद्वैत है और उसका उद्घोष है- 'एकमेवद्वितीयो नास्ति'। कबीर के काव्य में भी ब्रह्म का स्वरूप अगम्य अगोचर और अनिर्वचनीय ही है। कबीर की स्पष्टोक्ति है-जाके मुख माथा नहीं, नाहीं रूप कुरूपा। पुहुप बास तें पातरा, ऐसा तत्त अनूपा।^६ यहाँ कबीर 'जाके मुख माथा नहीं' कहकर ब्रह्म की अगोचरता को बताते हैं तो पुष्प की सुगंध से भी पतला कहकर उसकी सूक्ष्मता को सरल शब्दों में समझाते चलते हैं। कबीर के लिए तो ब्रह्म की स्थिति पाप और पुण्य से भी परे है। वह तो केवल अखण्ड प्रकाश के रूप में विद्यमान है।^७ कबीर का ब्रह्म उपनिषद् के ब्रह्म के समान ही अजीबोगरीब है जो बिना ही रूप के क्रियाशील है, बिना पग के चलता है और बिना मुख के खाता है। वह न तो स्थूल है, न सूक्ष्म, न गोरा है और न काला।^८ वह चलता भी है और नहीं भी चलता, वह पास भी है और दूर भी, वह सबके अन्दर भी है और बाहर भी।^९ वह प्रकृति, शब्द, स्पर्श, रूप, रस से परे है। इन्द्रियाँ उस तक नहीं पहुँच सकतीं वह नित्य अविनाशी व अगम्य है। इस ज्ञानस्वरूप परमात्मा को अन्तर्ज्ञान से प्राप्त कर मनुष्य संसार से मुक्त हो जाता है।^{१०} ठीक उपनिषद् की ही तर्ज पर कबीर भी ब्रह्म को- भारी कहौं त बहु डरौं, हलका कहूँ तौ झूठ, मैं का जाणौं राम कूँ, नैनूँ कबहुँ न दीठ^{११} कहते दिखाई पड़ते हैं। कबीर की दृष्टि में भी ब्रह्म इन्द्रियातीत है इसीलिए तो उसकी प्राप्ति समाधि की शून्यावस्था में की जा सकती है। कबीर इस इन्द्रियातीत अवस्था को 'सुनि सिखर गढ़ मांहि' के माध्यम से अभिव्यक्ति देते हैं। अन्तर्ज्ञान के जाग्रत होने पर उसकी प्राप्ति को कबीर मुक्ति रूपी मोती के रूप में देखते हैं।^{१२} कबीर की दृष्टि में ब्रह्म सर्वव्यापी है। उसे निर्गुण और सगुण की सीमा में भी आबद्ध नहीं किया जा सकता। समस्त दृश्यमान जागतिक पदार्थों में विद्यमान रहते हुए वह उससे परे भी है-

संतो धोखा कासूँ कहिये। गुण में निरगुण मैं गुण हैं,
बाट छाड़ि क्यूँ बहिये॥ अजरा, अमर, कथै सब कोई, अलख न कथणां जाई।

६. कबीर-ग्रंथावली, डॉ० श्यामसुन्दर दास द्वारा संपादित, पीव पिछाणन कौ अंग सं० ४१
७. अगम अगोचर गमि नहीं, तहाँ जगमगे जोति। जहाँ कबीरा बंदिगी, तहाँ पाप पुण्य नही छोति॥ कबीर ग्रंथावली, सम्पादक डा० श्यामसुन्दरदास, परचा कौ अंग ४
८. बृहदारण्यकोपनिषद् २.३.६; ३.९.२६; ४.२.४
९. तदेजति तन्नेजति तद्दूरे तद्वन्तिके। तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः। ईशावास्योपनिषद् ५
१०. कठोपनिषद् ३.१५
११. कबीर-ग्रंथावली, सम्पादक डा० श्यामसुन्दर दास, जणां कौ अंग-१
१२. सायर नाहीं सोप बिन, स्वाति बूढ़ भौ मांहि॥ कबीर मोती नीपजै, सुनि सिखर गढ़ मांहि॥ कबीर ग्रंथावली सम्पादक डा० श्यामसुन्दर दास परचा कौ अंग ८.

नाति सरूप वरण नहीं जाकै, घटि घटि रह्यौ समाई।

प्यंड ब्रहाण्ड कथै सब कोई, वाकै आदि अरु अन्त न होई।

प्यंड ब्रहाण्ड छाड़ि जे कथिये कहै कबीर हरि सोई॥^{१३}

वास्तव में ब्रह्म रूपातीत और शब्दातीत है। वह वर्णन का विषय न होकर केवल और केवल अनुभव गम्य है। कबीर ने इस सत्य को पारब्रह्म के तेज का, कैसा है उनमाना कहिबे कू सोभा नहीं देख्या ही परवान^{१४} कहते हुए प्रकट किया है। यही बात तैत्तिरीय उपनिषद् भी कहता है-‘यतो वाचो निर्वतन्ते अप्राप्य मनसा सह’।^{१५} ‘यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति। सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजिगृप्सते’।^{१६} कहता हुआ ईशावास्योपनिषद् यह विचार प्रकट करता है कि सब कुछ परमात्मा में है और सब कुछ परमात्मा ही है। कबीर का मानस भी इस सत्य का अनुभव करता दिखाई पड़ता है। ‘खालिक खलक खलक महिं खालिक, पूरि रहयो सब साई’ कहता हुआ सर्वत्र परमात्मा की उपस्थिति और सबमें परमात्मा को देखता है।

ब्रह्म इन्द्रियों के द्वारा संकल्प विकल्पात्मक मन से, विवेचनात्मक बुद्धि से तथा हमारी सत्ता के कारण भूत प्राणों से पृथक् है। यह शरीर रथ है, बुद्धि सारथि है, मन प्रग्रह (लगाम) है, इन्द्रियाँ घोड़े हैं जो विषय मार्ग पर चलते हैं और आत्मा रथ का स्वामी है।^{१७} कठोपनिषद् के ही सिद्धान्तों को मानते हुए कबीर ने चलायमान मन को वश में रखने के प्रयत्न किये हैं। मन की वल्गा संभालते ही आत्मान्वेषण का मार्ग प्रशस्त हो उठता है। उनकी स्पष्ट उद्घोषणा है-मन के मते न चालिये, छाँड़ी जीव की बाँणि, ताकूँ केरे सूत ज्यूँ, उलटि अपूठा आँणि।^{१८} कबीर कसे हुए शरीर रूपी धनुष द्वारा पंचतत्त्वमय बाण रखकर मन रूपी चंचल मृग का वध करना चाहता है।^{१९} स्पष्ट है कि कबीर भी शरीर-रथ को नियंत्रित करने वाले तत्त्व को पहचानता है। उपनिषद् उस आत्मतत्त्व के दर्शन, श्रवण, मनन तथा ज्ञान से सर्वज्ञ होने की पुष्टि करता है। इसीलिए वह पुकार-पुकार कर कहता है-

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः, श्रोतव्यः, मन्तव्यः, निदिध्यासितव्यः।

आत्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन, मत्या, विज्ञानेनेदं सर्वं विज्ञातं भवति॥^{२०}

यह आत्म तत्त्व बहिर्जगत् में न मिलकर अपने अन्दर ही ढूँढा जा सकता है। कबीर के विचार भी इससे पृथक् नहीं हैं ‘मोको कहाँ ढूँढता बन्दे, मैं तो तेरे पास में।’ कबीर जानता है कि समस्त दृश्यमान जगत् मरणधर्मा है और समय रहते आत्मतत्त्व को जान लेना है, क्योंकि मृत्यु के पश्चात् आत्मतत्त्व को जानने का साधन समाप्त हो जाएगा-कबीर पटण कारिवां, पंच चोर दस द्वार। जम रांणौ गढ़ भेलिसी, सुमिरि लै करतार॥^{२१} यदि मनुष्य समय रहते आत्मज्ञान प्राप्त कर लेता है तो अभय की स्थिति उससे प्रसन्नता पूर्वक कहला सकती है-

१३. कबीर-ग्रंथावली, डॉ० श्यामसुन्दर दास द्वारा संपादित, पदावली सं० १८०

१४. कबीर-ग्रंथावली, सम्पादक डॉ० श्यामसुन्दर दास, परचा कौ अंग ३

१५. तैत्तिरीय उपनिषद् ३४०/२.४

१६. ईशावास्योपनिषद् ६

१७. आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु। बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च, इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान् आत्मन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥ कठोपनिषद् १/३-४

१८. कबीर ग्रंथावली सम्पादक डॉ० श्यामसुन्दर दास मन कौ अंग १

१९. काया कसूँ कमाणं ज्यूँ, पंचतत्त्व करि बाण। मारौँ तौँ मन मृग कौ, नहीं तौँ मिथ्या जाण॥ कबीर-ग्रंथावली, सम्पादक डॉ० श्यामसुन्दर दास, मन कौ अंग-३०

२०. बृहदारण्यकोपनिषद् ६/४/८ JK Sanskrit Academy, Jammu. Digitized by S3 Foundation USA

२१. कबीर ग्रंथावली सम्पादक डॉ० श्यामसुन्दर दास चितावणी कौ अंग ७

पाणी ही तैं हिम भया, हिम हवै गया बिलाइ। जो कुछ था सोई भया, अब कछू कहा न जाइ।^{२२} यह वह स्थिति है जहाँ जन्म और मृत्यु, गोचर और अगोचर में कोई पार्थक्य रह ही नहीं जाता।

उपनिषद् दृश्यमान जगत् को प्रपंच मानता है। उसकी तात्त्विक दृष्टि से स्थिति है ही नहीं। वह तो नित्य परिवर्तनशील व मरणधर्मा है। उसकी स्पष्टोक्ति है-‘ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या’। कबीर की दृष्टि भी इससे मिलती जुलती है। उसके लिए भी यह संसार क्षण-भंगुर और मिथ्या है। इसलिए तत्त्वान्वेषी को इसके प्रपंच में नहीं फँसना चाहिए और समय रहते लक्षण को प्राप्त कर लेना चाहिए। इसीलिए तो कबीर चेतावनी देते हैं- यहु ऐसा संसार है, जैसा सेंबल फूल। दिन दस के ब्यौहार कौं, झूठे रंगि न भूलि।^{२३} अद्वैतवादी माया को ईश्वर की ही त्रिगुणमयी शक्ति के रूप में निरूपित करते हैं, जिसने समस्त जगत् को अपने वश में कर रखा है।^{२४} कबीर ने भी माया को वेदान्त की अविद्या की भांति ही निरूपित किया है, जो त्रिगुणात्मिका है, संसार को भ्रमित करने वाली है तथा जो कनक और कामिनी के रूप में प्रकट होकर जीवात्मा को परमात्मा से पृथक् करती है।^{२५} कबीर संसार का आकर्षण मिथ्या मानते हैं, यहाँ तो सर्वत्र दुःख ही दुःख है- कबीर इस संसार का झूठा माया मोह, जिहि घरि जिना बंधावणा तिहि घरि तिल अँदोह।^{२६} उनके लिए माया का आकर्षण फीका है- माया तरवर त्रिबिधका, सांखा दुःख संतान। सीतलता सपिनै नहीं, फल फीकौ तनि तापि।^{२७} कबीर ने माया को दैहिक, दैविक, भौतिक त्रय-संताप से युक्त माना है जिस वृक्ष के आश्रय में कदापि सुख की अनुभूति नहीं हो सकती। माया तो सत, रज तम के त्रिगुणामयी पाश को लेकर संसार के बाजार में बैठी हुई समस्त जीवों को आकृष्ट करती है- कबीर माया पापणीं फंथ ले बैठी हाटि।^{२८} ‘तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः’ के ही समान कबीर ने भी माना है कि सांसारिक आकर्षण से उत्पन्न तृष्णा दिनों-दिन बढ़ती जाती है- त्रिष्णां सांची नां बुझै, दिन-दिन बघती जाई।^{२९} इसलिए साधक को इससे दूर रहने की चेतावनी कबीर ने अपनी साखियों के माध्यम से दी है।

दर्शन का आग्रह है कि क्रिया के बिना ज्ञान का बोझ व्यर्थ ढोना है-‘ज्ञानं भारः क्रियां विना’ यदि व्यक्ति इस ज्ञान का जीवन में उपयोग नहीं करता, उसे जीवन में नहीं उतारता तो उसका अर्थ नहीं रह जाता। कबीर ने भी कोरे ज्ञान को व्यवहार में परिणत करने की बात की है। उन्होंने साधना के अनेक सूत्रों को पकड़ाते हुए उस पर अमल करने की बात कही है, क्योंकि उन्हें स्पष्ट ज्ञान था कि कथणी भयी तो क्या भया, करणी न ठहराई, कालबूत के कोट ज्यूं, देखत ही ढह जाइ।^{३०} वास्तव में यदि हम ज्ञान को तत्काल आचरण में नहीं उतारते तो वह ठीक उसी प्रकार क्षणिक और व्यर्थ बनकर रह जाता है जैसे कलाबत्तू से बना हुआ मेहराब। कलाबत्तू कच्ची मिट्टी का बना आधार है जो इतना नाजुक होता है कि छूते ही टूट जाता है। इसी प्रकार व्यवहार में

२२. कबीर ग्रंथावली सम्पादक डॉ० श्यामसुन्दर दास परचा कौ अंग १७

२३. कबीर ग्रंथावली सम्पादक डॉ० श्यामसुन्दर दास चितावणी कौ अंग १३

२४. अव्यक्तनाम्नी परमेशशक्तिर्नाद्यविद्या त्रिगुणात्मिका या। कार्यानुमेया सुधियैव माया यथा जगत् सर्वमिदं प्रसूयते॥ विवेक चूडामणि, श्लोक ११०

२५. माया की झल जग जल्यो, कनक कामिणीं लागि। कहु धौं किहि विधि राखिये, रुई पलेटी आगि॥ कबीर ग्रंथावली सम्पादक डॉ० श्यामसुन्दरदास माया कौ अंग ३२

२६. कबीर ग्रंथावली सम्पादक डॉ० श्यामसुन्दर दास माया कौ अंग २८

२७. कबीर ग्रंथावली सम्पादक डॉ० श्यामसुन्दर दास माया कौ अंग २०

२८. कबीर ग्रंथावली सम्पादक डॉ० श्यामसुन्दर दास माया कौ अंग २

२९. कबीर ग्रंथावली सम्पादक डॉ० श्यामसुन्दर दास माया कौ अंग १५

३०. कबीर ग्रंथावली सम्पादक डॉ० श्यामसुन्दर दास करणी बिना कथनी कौ अंग १

न लाया गया केवल सैद्धान्तिक ज्ञान साधक को कोई लाभ नहीं पहुँचाता और उसे सत्य की कसौटी पर खरा नहीं उतरने देता।

उपनिषद् का लक्ष्य है मनुष्य को अखण्ड आनन्द की स्थिति में पहुँचाना। बृहदारण्यककोपनिषद् का कथन है-तद् यथा प्रियया स्त्रिया संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद, नान्तरम्; एवमेवायं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद, नान्तरम्। तद् वा अस्य एतदासकामम् आत्मकामम् अकामं रूपम्।^{३१} अर्थात् जिस प्रकार प्रिया आलिंगनबद्ध पुरुष न तो किसी बाह्य वस्तु को जानता है न तो भीतरी वस्तु को उसी प्रकार आत्मा के परमात्मा के साथ आलिंगनबद्ध होने पर जीव का बाह्य आन्तरिक ज्ञान विलुप्त हो जाता है, उसकी समस्त कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं और वह अखण्ड आनन्द की स्थिति में रहता है। कबीर भी इस आत्मानन्द की अनुभूति को इन शब्दों में व्यक्त करते हैं-

दुलहनीं गावहु मंगलचार, हम धरि आये तो राजा राम भरतार तन रत करि मै मन रत करि,
पंचतत बराती, रामदेव मोरे पांहुनै आये, मैं जोबन मै, माती।

सरीर सरोवर वेदी करिहूँ, ब्रह्म वेद उचार। रामदेव संगि भांवरि लैहूँ, धनि धनि भाग हमारा।^{३२}

कबीर ने परम पुरुष से अपने आध्यात्मिक मिलन का वर्णन विवाह के रूपक के माध्यम से किया है। आत्मा, परमात्मा रूपी पति का वरण कर रही है। तन और मन से समर्पण को उत्सुक पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, आकाश को साक्षी बनाकर अपने शरीर रूपी कुण्ड में परम पुरुष के साथ एकाकार हो उठती है। जैसे दैहिक मिलन की परिणति ऐन्द्रियजन्य आनन्द में बदलती है, ठीक वैसे ही आत्मा परमात्मा के मिलन से इन्द्रियातीत अखण्ड आनन्द का अनुभव होता है। यह आत्मानन्द की अनुभूति उस अखण्ड अमरता का बोध भी कराती है।^{३३} वह निर्भय होकर कह उठता है-कौन मरे कौन जनमै भाई, सरग नरग कौने गति पाई। पंचतत अविगत थै उत्पनां, एकै किया निवासा बिछुरे तत फिर सहज समानां, रेख रही नहीं आसा जल में कुंभ कुंभ में जल है, बाहरि भीतरि पानी फूटा कुंभ जल जलहि समानां, यह तत कथौ गियानी।^{३४} साधक अनुभव करने लगता है कि समस्त दृश्यमान जगत् पंच महाभूतों से विनिर्मित है और सबमें एक चैतन्य सत्ता प्रवाहित है। क्षिति, जल, पावक, गगन, समीर से विनिर्मित देह के समाप्त हो जाने पर भी अनित्य आत्मा कभी भी समाप्त नहीं होती।

निष्कर्षतः उपनिषदों के समान ही कबीर ने ब्रह्म और जीव और ब्रह्म और जगत् सर्वत्र अद्वैतता का प्रतिपादन किया है। माया की अनिवर्चनीयता के साथ-साथ कबीर ने वास्तविक जगत् की सत्ता को अस्वीकारते हुए केवल व्यावहारिक दृष्टि से इसे सत्य माना है। 'अयमात्मा ब्रह्म' ही भांति कबीर आत्मा को ही परमात्मा बताते हुए दोनों में एकत्व स्थापित किया है। 'अहं ब्रह्मास्मि' के समान ही कबीर ने जीव को परमात्मा का ही रूप बताया है। निःसन्देह कबीर की भावभूमि औपनिषदिक चिंतन का समर्थन करती दिखाई देती है।

३१. बृहदारण्यकोपनिषद् ४/३/२१

३२. कबीर ग्रंथावली सम्पादक डॉ० श्यामसुन्दर दास पदावली सं० १

३३. हम न मरै मरिहैं संसारा, हम कूँ मिल्या जियावन हारा। अब न मरौ मरने मन मानां, तेई मूए जिन राम न जानाँ। कबीर ग्रंथावली सम्पादक डॉ० श्यामसुन्दर दास पदावली सं० ४३

३४. कबीर ग्रंथावली सम्पादक डॉ० श्यामसुन्दर दास पदावली सं० ४४

आर्हतदर्शनगत सम्यक्-चारित्र की वर्तमान में आवश्यकता

डॉ. देवी सिंह^१

विद्वज्जन धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष को ही पुरुषार्थ-चतुष्टय कहते हैं। सामान्य व्यक्ति प्रायः अर्थ एवं काम की दिशा में सदैव प्रयत्नशील रहता है, लेकिन धर्म के बिना अर्थ एवं काम तन्त्र अन्ततोगत्वा जीवन के लिये दुःखावह सिद्ध होते हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह सामाजिक जीवन में अर्थ और काम को नियन्त्रित करके उसे जीवन और जगत् के लिये सुखावह बनाते हैं। मानव जब अर्थ एवं काम के चक्र-व्यूह से निकलने का अपना संकल्प परिपुष्ट कर लेता है, फिर वह केवलपिण्णत्तं धम्मं सरणं पवञ्चामि, धम्मं शरणं गच्छामि तथा धर्म चर जैसे धर्मसूत्रों के चिन्तन एवं आचरण को अपनी आत्मिक शान्ति का केन्द्र बिन्दु बनाता है और वहीं से उसके जीवन में सदा-सदा के लिये दुःख से मुक्त होने का उपक्रम आरम्भ होता है। उस मुक्ति के लिये कौन सा मार्ग अधिक सत्य, यथार्थ एवं समीचीन है, इसके लिये आर्हत-दर्शन में दुःख का आत्यन्तिक क्षय करने तथा परमानन्द को प्राप्त करने के लिये सम्यक् ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप 'रत्नत्रय' प्रतिपादित किया गया है। रत्नत्रय की उपादेयता एवं उपयोगिता जीवन की सर्वोच्च, परम व चरम संसिद्धि से जुड़ी हुई है।

समस्त जागतिक विवाद बाहर के क्रिया कलापों को ही सब कुछ समझने से होते हैं। बाहर तो पर्यायार्थक नय से सब विनश्वर ही है, वह सारपूर्ण नहीं। निस्सार है। वह ज्ञेय तो है, किन्तु मोक्ष की दृष्टि से वह हेय ही है, उपादेय नहीं। उपादेय तो केवल आत्मा का निज स्वरूप ही है, जो सम्यक् चारित्र से प्राप्त होता है, किन्तु दर्शन के बिना ज्ञान और ज्ञान के बिना चारित्र तथा चारित्र के बिना मोक्ष सम्भव नहीं है।^२ जैन मत में जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर निर्जरा और मोक्ष से सात ही तत्त्व हैं, जिनमें यथार्थ श्रद्धा का होना सम्यक् दर्शन बतलाया गया है।^३ जिस स्वभाव से जीव आदि पदार्थ व्यवस्थित हैं, उसी रूप में मोह तथा संशय से रहित होकर उन्हें जानना सम्यक् ज्ञान कहलाता है।^४ जो विभाव से स्वभाव में ले जाये तथा परिणाम स्वरूप निवृत्ति प्रतिष्ठित कर दे, वही सम्यक्=यथार्थ चरित्र है।

प्रस्तुत शोध पत्र के अन्तर्गत आर्हतदर्शन में प्रतिपादित 'रत्नत्रय' के 'सम्यक् चारित्र' नामक रत्न को ही लिया गया है। चरति याति तेन हितप्राप्तिं अहितनिवारणं चेति चारित्रम्। चर्यते सेव्यते सज्जनैरिति वा चारित्रम्^५ अर्थात् आचार-विचार स्वरूप चारित्र हित की प्राप्ति कराने वाला और अहित का निवारक होता है तथा सज्जन जिसका आचरण करते हैं, उसी को चारित्र कहा जाता है। सर्वदर्शनसंग्रहकार के अनुसार संसार के प्रवर्तन के कारणस्वरूप कर्मों के नष्ट हो जाने पर उद्यत, श्रद्धावान् तथा ज्ञानवान् पुरुष का पाप में ले जाने वाली क्रियाओं से

१ संस्कृत, पालि एवं प्राकृत विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र

२. नादंसणिस्स णाणं, नाणेण विणा ण हुन्ति चरणगुणा। अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमोखस्य निव्वानं॥ उत्तराध्ययन सूत्र, २८.३०

३. तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्। उमास्वाति, तत्त्वार्थसूत्र, १.२

४. येन स्वभावेन जीवादयः पदार्था व्यवस्थितास्तेन स्वभावेन मोहसंशयरहित्वेनावगमः सम्यग्ज्ञानम्। - सर्वदर्शनसंग्रह, पृ०

११९

५. आचार्य शिवकोटि, भगवती आराधना मूलाराधना, ८.४१.११

निवृत्त (पृथक्) हो जाना ही सम्यक् चरित्र है।^१ इसी बात को आचार्य अमृतचन्द्रसूरि ने स्पष्ट करते हुए कहा है कि समस्त पापयुक्त योगों के दूर करने से निरवद्य अर्थात् निष्पाप, दोषरहित चारित्र होता है। जो सदाचरण समस्त कषायों से रहित है, विशद तथा निर्मल है और जो राग-द्वेष से रहित है अर्थात् वीतराग है, वह चारित्र ही आत्मा का निज स्वरूप है।^१

जैन दर्शन के अनुसार इस सम्यक् चारित्र के पांच महाव्रत हैं— अहिंसा, सूनृत (सत्य), अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। महापुरुषों के द्वारा हिंसादि पांच पापों को मन, वचन, काम व कृत कारित-अनुमोदना से त्याग करना 'महाव्रत' कहलाता है।^१

अहिंसा महाव्रत

प्रमत्त योगों से पर-प्राण को पीड़ा देना अथवा उनका अनिपात होना हिंसा है।^{१०} हिंसा का अभाव अहिंसा है। प्रमाद के योग से अथवा असावधानी या पागलपन से भी चरों (मनुष्य, पशु, पक्षी आदि) और स्थाव्रों (लता, वृक्ष आदि) के प्राणों का विनाश न करना 'अहिंसा' कहलाता है।^{११} भगवती अराधना में आता है कि जैसे तुझे दुःख प्रिय नहीं है, वैसे ही अन्य जीवों को भी दुःख प्रिय नहीं है, ऐसा जानकर सदा अपनी तरह ही सभी जीवों के प्रति व्यवहार करना चाहिये।^{१२} तप, श्रुत, यम, ज्ञान, ध्यान, दान, सत्य, शील, व्रतादि जितने भी उत्तम कार्य हैं, उन सब की माता एकमात्र अहिंसा ही है।^{१३}

आज संसार में बढ़ रही आंतकवाद रूपी हिंसात्मक प्रवृत्तियों को रोकने के लिये संस्कृतवाङ्मय में प्रतिपादित अहिंसा रूपी महाव्रत को अपनाने की आवश्यक है, क्योंकि हिंसा में लिप्त मनुष्य को कभी शान्ति नहीं मिल सकती, जैसा कि महर्षि मनु ने भी कहा है—न हि वैरेण वैराणि प्रशाम्यन्ति कदाचन।^{१४} अर्थात् वैरभावना रखने से वैरभावना कभी शान्त नहीं हो सकती। यदि किसी व्यक्ति को चोरी आदि अशुभ कर्म करने पर उसके सुधार के लिये और अन्यो के उपकार के लिये प्रेमपूर्वक उचित दण्ड दिया जाये तो वह अहिंसा है, हिंसा नहीं। माता, पिता आचार्य आदि बालक-बालिकाओं को दोषों से दूर करने के लिये उनको गुणवान् बनाने के लिए यदि उचित दण्ड देते हैं तो वह हिंसा न होकर अहिंसा ही है। इस प्रकार अहिंसा का पालन करने से व्यक्ति अपने सूक्ष्म दोषों को जानने और उनका निवारण करने में समर्थ हो जाता है।^{१५} जैन दर्शन में अहिंसा की पाँच भावनाएं भी

६. संसरणकर्मोच्छित्ताबुद्धतस्य श्रद्धानस्य ज्ञानवतेः पापगमनकारणक्रियानिवृत्तिः सम्यग् चारित्रम्। - स० द०स०, पृ० १२१
७. चारित्रं भवति यतः समस्तसावद्ययोगपरिहरणात्। सकलकषायविमुक्तं शरदमुदासीनमात्मरूपं तत्॥ - पुरुषार्थसिध्युपाय, गा० ३९
८. अहिंसासूनृतास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः। - स०द०स०, पृ० १२२
९. समन्तभद्राचार्य, रकरण्ड श्रावकाचार, ७२
१०. प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा। - तत्त्वार्थसूत्र, ७/८
११. न यत्प्रमादयोगेन जीवितव्यपरोपणम्। चराणां स्थावराणां च तदहिंसाव्रतं मतम्॥ - स०द०स०, पृ० १२२
१२. भ०आ०७७७
१३. आचार्य शुभचन्द्र, ज्ञानार्णव, ८/३० ३१, ४२ तथा ९/२
१४. आचार्य राजवीर शास्त्री द्वारा संपादित पातसजल-योगदर्शन-भाष्यम्, पृ० २८३ पद उद्धृत
१५. योगदर्शनम्, व्याख्याकार स्वामी सत्यपति परिव्राजक, पृ० १७५

कही गई है^{१६} - (क) ईर्यासमिति, (ख) मनोगुप्ति, (ग) वचनगुप्ति, (घ) आलोक भाजन भोजन, (ङ) आदानभण्डमात्रनिक्षेपणा समिति। इन भावनाओं की महत्ता महाव्रतों की स्थिरता में अधिक सहकारी है।

सत्य महाव्रत

प्रिय (सुनने में सुखद), पथ्य (अन्त में सुखद) तथातथ्य (यथार्थ सत्य) वाणी को सूतृत व्रत कहते हैं। वह वाणी सच्ची होकर भी सच्ची नहीं है जो प्रिय नहीं (सुनने में सुखद नहीं) या हितकर नहीं (परिणाम से सुखद नहीं) है।^{१७} जैसा देखा हो, अनुमान से जाना हो और सुना हो, वैसा ही मन और वाणी में होना 'सत्य' कहलाता है। निशीथचूर्ण में मन, वचन और कर्म इन तीनों की एकरूपता को सत्य तथा इसके अभाव को मृषावाद कहा है।^{१८} काम, क्रोध, भय, हास्य- इनका त्याग और सोच समझ कर बोलना ये पांच सत्यव्रत की भावनाएं हैं, जिनकी वर्तमान काल के व्यावहारिक जीवन में ग्रहण करने की आवश्यकता है।

अस्तेय महाव्रत

कोई भी वस्तु हो, उसके स्वामी की आज्ञा के बिना उसका ग्रहण नहीं करना - 'अस्तेय' कहलाता है। सभी जानते हैं कि धन मनुष्य का बाह्य प्राण है, उसका हरण हो जाने से तो प्राणी के प्राणों का ही हनन हो गया समझना चाहिये।^{१९} मन, वाणी और शरीर से चोरी की परित्याग करके उत्तम कार्यों में तन, मन और धन से सहायता करना अस्तेय है। केवल चोरी को छोड़ देना ही अस्तेय नहीं है।^{२०}

ब्रह्मचर्य महाव्रत

'ब्रह्म' शब्द का अर्थ है- निर्मल ज्ञान स्वरूप आत्मा और आत्मा में लीन होने का नाम 'ब्रह्मचर्य' है। दिव्य (आगामी जीवन में योग्य) औपरिक (इसी शरीर में भोज्य) कामनाओं का कृत (स्वयं किये गए), अनुमत (अनुमोदित) तथा कारित (दूसरों से कराये गए) तीनों विधियों से (मन, वचन तथा कर्म से) त्याग देना 'ब्रह्म' अथवा ब्रह्मचर्य कहलाता है।^{२१} स्त्री-प्रेम की बातें न सुनना, स्त्री के सुन्दर शरीर को न देखना, पहले की रति का स्मरण न करना, शक्ति-वर्धक रस-रसायनों का सेवन न करना और अपने शरीर के संस्कारों का त्याग करना। ये पांच ब्रह्मचर्य व्रत की भावनाएं हैं।

अपरिग्रह महाव्रत

जो परिग्रहण की बुद्धि का त्याग करता है, इसके अतिरिक्त विषयों में उपार्जन, रक्षण, क्षय, हिंसा दोष देखकर विषय भोग की दृष्टि से उनका संग्रह न करना, अपरिग्रह कहलाता है।^{२२} मनुष्य को चाहिये कि वह

१६. तत्त्वार्थ सूत्र, ७/३

१७. प्रियं पथ्यं वचस्तथ्यं सूतृतं व्रतमुच्यते। तत्तथ्यमपि नो तथ्यमप्रियं चाहितं च यत्॥ - स०द०स०, पृ० १२२

१८. जिनदास महतर, पृ० ३९८८

१९. अनादानमदत्तस्यास्तेयं व्रतमुदीरितम्। बाह्याः प्राणाः नृणामर्थो हरता तं हता हिते॥ - स द सं, पृ० १२२

२०. योगदर्शनम्, व्याख्याकार स्वामी सत्यपति परिव्राजक, पृ० १७५

२१. दिव्यौदरिककामनां कृतानुमतकारितैः। मनोवाक्कायतस्त्यागो ब्रह्माष्टादशधा मतम्॥ - स०द०स०, पृ० १२२

२२. योगदर्शनम्, व्याख्याकार स्वामी सत्यपति परिव्राजक, पृ० १७६

परिग्रह को मूर्च्छा रूप जानते हुए लेशमात्र भी उसका संग्रह नहीं करे, अपितु पक्षीवत् संग्रह- निरपेक्ष रहकर वह अनासक्तिपूर्वक संयमोपकरणमात्र के साथ विचरण करें।^{२३}

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि आर्हत-दर्शन का सम्पूर्ण आचारशास्त्र 'रत्नत्रय' पर ही अवलम्बित है। ये तीनों एक साथ मिलकर मोक्ष के मार्ग का निर्माण करते हैं, जैसे दण्ड, चक्र, सूत्र, मृत्तिका आदि सब मिलकर घट का निर्माण करते हैं, न कि पृथक्-पृथक्, उसी प्रकार तीनों रत्न (सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र) मिलकर ही मोक्ष मार्ग बनाते हैं। इनमें से सम्यक् चारित्र, जो प्रस्तुत शोध-पत्र का विषय है- को यदि वर्तमानकालीन इस उहापोह जीवन के परिप्रेक्ष्य में घटित करें तो आज के मानव को जीवन-यापन में आ रही बाधाओं का सामना करने में सहायता मिल सकती है। आज विश्व में जगह-जगह पर हिंसाएँ हो रही हैं, मानव स्वार्थसिद्धि में लिप्त होकर ऐसे कार्य भी कर जाता है जो उसे नहीं करने चाहिये। एतदर्थ संस्कृत वाङ्मय में पुरुष को सुखी के प्रति मित्रता, दुःखी के प्रति करुणा, पुण्यवान् के प्रति प्रसन्नता और पापी के प्रति उपेक्षा भाव रखकर चित्त को निर्मल करने का उपदेश दिया गया है। आज के समाज में सामान्य जन की उपेक्षा, स्वार्थपूर्ति और झूठ का बोलबाला है, जिसके परिणाम स्वरूप धनी और अधिक धनवान् बनता जा रहा है और निर्धन और अधिक गरीबी की रेखा से नीचे आ रहा है। यदि संस्कृत वाङ्मय में बताए गए जीवन के नैतिक-मूल्यों को वर्तमान में क्रियान्वित किया जाये तो यह अनुपात कुछ कम हो सकता है। हम प्रतिदिन समाचार पत्रों, दूरदर्शन आदि में पढ़ते एवं देखते हैं कि लूट-खसोट एवं चोरी आदि कर्म निरन्तर बढ़ते जा रहे हैं। इस प्रकार की प्रवृत्तियों पर अंकुश लगाने के लिये संस्कृत वाङ्मय के आर्हत दर्शन में प्रतिपादित सम्यक् चारित्र के अस्तेय एवं अपरिग्रह महाव्रत के अनुसार आचरण करने की आवश्यकता है। आज यदि किसी बच्चे को एक विद्यालय से दूसरे विद्यालय में प्रवेश लेना पड़ जाए तो उससे सबसे पहले उसके चरित्र-प्रमाण की मांग की जाती है, जिससे यह पता लग सके कि इसका चरित्र समाज में कैसा रहा है। इससे यह ज्ञात होता है कि आज हमारे समाज में चरित्र-हीनता कितनी फैल चुकी है। अतः अश्लीलता की ओर बढ़ रही आज की युवा पीढ़ी को सदाचरण की राह पर चलने के लिये सम्यक् चारित्र में ब्रह्मचर्य व्रत के अन्तर्गत किए गए निर्देशों का पालन करने की आवश्यकता है, क्योंकि यदि मनुष्य का चरित्र सही होगा तो समाज सही होगा और समाज सही होगा तो राष्ट्र में सुव्यवस्था का निर्माण होगा। लेकिन यह सब तभी हो सकता है जब हम संस्कृत-वाङ्मय के विचारों को केवल पठन-पाठन तक सीमित न रखकर उनका अपने व्यावहारिक जीवन में निर्वहण करेंगे।

२३. जैन दर्शन, डॉ० साध्वी सुभाषा, पृ० २२५

शुक्रनीति में वर्णित न्याय व्यवस्था

डॉ० सन्ध्या कुमारी^१

आचार्य शुक्र अपने युग के एक 'महान् ऋषि' एवं नीतिज्ञ थे। उनके पर्याय शब्द उशना, काव्य, भार्गव आदि हैं। कौटिलीय अर्थशास्त्र के प्रारम्भ में ऋषि-वन्दना में शुक्र-बृहस्पति को नमन (नमः शुक्रबृहस्पतिभ्याम्) स्पष्ट कर देता है कि कौटिल्य के युग तक शुक्र ख्यातिलब्ध आचार्य माने जा चुके थे। महाभारत आदिपर्व (७६, ६) में वर्णित है कि देवासुर संग्राम के समय देवताओं ने बृहस्पति को और दैत्यों ने उशना (शुक्र) को यज्ञ के लिए पुरोहित निश्चित किया था। आचार्य शुक्र के ग्रन्थ शुक्रनीति में २,२०० श्लोक मौलिक और इधर-उधर के सभी श्लोकों को मिलाकर सभी २,४५४ श्लोक हैं। राजनीतिक एवं आर्थिक चिन्तन के अतिरिक्त शुक्रनीति मानव आचरण के लिए मानदण्ड भी विहित करती है। शुक्रनीति में न्याय व्यवस्था का क्रमबद्ध एवं विस्तृत वर्णन व्यावहारिक रूप में उपलब्ध होता है।

प्राचीन भारत में न्याय की अत्यधिक महत्ता थी और न्याय विभाग को शासन विभाग से अलग रखने का प्रयास किया गया। रामायण^२ एवं महाभारत^३ में भी राजा को एक सर्वोच्च न्यायपालक के रूप में स्वीकार करते हुए न्याय-व्यवस्था की समुचित स्थापना करना उसका दायित्व निश्चित किया है। प्राचीन भारतीय आचार्यों के अनुसार राजा के निर्माण का उद्देश्य प्रमुखतः दुष्टनिग्रह में ही निहित था।^४ सत्, असत् एवं साधु-असाधु की जानकारी करने के उपरान्त ही सत्कार और दण्ड की व्यवस्था की जाती थी। सम्भवतः इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्राचीन भारतीय चिन्तकों ने न्याय व्यवस्था की स्थापना की है। इसी परम्परा के अनुरूप शुक्रनीति में भी राजा के विभिन्न कर्तव्यों में दुष्ट निग्रह को प्रमुख कर्तव्य माना है^५ और सत्, असत् पर विवेकपूर्ण निर्णय के लिए तथा अपनी प्रजा की धर्ममय स्थिति, कार्यों की भली भाँति सिद्धि एवं विवादों पर निर्णयों के लिए न्यायालयों की व्यवस्था की है।

स्वप्रजाधर्मसंस्थानं सदसत्प्रविचारतः।

जायते चार्थसंसिद्धिर्व्यवहारस्तु येन सः॥^६

महर्षि शुक्र ने अपनी न्याय-व्यवस्था में दो प्रकार के न्यायालयों की व्यवस्था की है जिनमें प्रथम के अन्तर्गत स्थानीय संस्थाओं के द्वारा संचालित न्यायिक कार्य सम्पादित करने वाले गैर सरकारी स्थानीय न्यायालय तथा दूसरी के अन्तर्गत राजा द्वारा स्थापित एवं संगठित सरकारी न्यायालय आते हैं।

१ वरिष्ठ प्रवक्ता, संस्कृत विभाग, पी०सी० बागला पी०जी० कॉलेज, हाथरस उ०प्र० दूरभाष: ०९४११९८०१७९

२ रामायण उत्तरकाण्ड, ७४, ३२- एवं ५३, २४-२५

३ व्यवहारलोपे कुतः स्वर्गः कुतो यशः। महाभारत, शान्तिपर्व, ६९, ३२

४ पाण्डुरंग वामन काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, पृष्ठ ७००-७०१

५ शुक्रनीति, १।१२३

६ शुक्रनीति, ४।४।४

स्थानीय गैर सरकारी न्यायालय

शुक्रनीति में स्थानीय गैर सरकारी न्यायालयों की कुल श्रेणी तथा गण तीन शाखाएं उपलब्ध होती हैं जिन्हें सरकार द्वारा स्वतन्त्रतापूर्वक न्यायिक कार्य करने की मान्यता प्राप्त होगी।^{१०} ये तीनों न्यायालय एक दूसरे की अपेक्षा अधिक अधिकारों से युक्त माने गये हैं।

कुल न्यायालय विभिन्न संस्थाओं में छोटे, किन्तु महत्वपूर्ण संस्था के रूप में माने गये हैं। कुल की स्वतन्त्रता को प्राचीन दार्शनिकों द्वारा भारतीय समाज में सदैव से ही स्वीकार किया गया है। प्रत्येक कुल को अपने ही क्षेत्र में अपने आचार, विचार एवं नियमों के अनुसार जीवन व्यतीत करने की उस समय तक पूर्ण स्वतन्त्रता होती है जब तक कि वह राज्य तथा समाज के नियमों को भंग न करें। प्रत्येक कुल के अपने निजी आचार, विचार, नियम आदि थे।^{११} वस्तुतः कुल न्यायालय में निकट या दूर के रिश्तेदार समझौता कराने का कार्य करते थे।^{१२} आचार्य शुक्र इस तथ्य से पूर्णतः अवगत थे कि प्रत्येक कुल एवं कुटुम्ब में विवाद उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है। अतः इनके समाधान के लिए उन्होंने कुल न्यायालय की व्यवस्था की है।

‘राज्ञा ये विदिताः सम्यक् कुल श्रेणिगणादयः।’^{१०}

इसके अतिरिक्त महर्षि शुक्र का विश्वास है कि यदि किसी भी प्रकार की कुल न्यायालय के निर्णय में त्रुटि रहती है तो इस न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध श्रेणी न्यायालय में अपील की जा सकेगी।

विचार्य श्रेणिभिः कार्य कुलैर्यत्र विचारितम्।

गणैश्च श्रेण्यविज्ञातं गणाज्ञातं नियुक्तैः॥’^{११}

इस प्रकार आचार्य शुक्र ने कुल नामक स्थानीय न्यायालय को कुल के विवादों को निपटाने के कारण प्राथमिक न्यायालय के रूप में मानते हुए उसे सीमित क्षेत्राधिकार प्रदान किया है।

कुल न्यायालय की भांति श्रेणी न्यायालय का वर्णन भी शुक्रनीति में मिलता है। ये न्यायालय क्षेत्रीय समस्याओं के सुलझाव में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। सामान्यतः श्रेणी का अभिप्राय एक ही प्रकार की वृत्ति या शिल्प करने वाले संघ या समुदाय से लिया गया है।^{१२} इस प्रकार का यद्यपि महर्षि शुक्र ने श्रेणी का कोई स्पष्ट अर्थ तो प्रस्तुत नहीं किया, लेकिन उन्होंने विभिन्न जातियों के विवादों का निर्णय स्वयं उनकी पंचायतों द्वारा करने का आग्रह अवश्य किया है। क्योंकि उनकी यह धारणा थी कि किसी भी जाति के व्यक्तियों के अतिरिक्त उस जाति के धर्मों को जानने वाले अन्य लोग नहीं हो सकते हैं। अतः एव उन्होंने जिस जाति एवं स्थान पर रहने वाले लोगों का झगड़ा है, उसी जाति एवं स्थान के व्यक्तियों से ही न्याय-कार्य कराने का निर्देश दिया है।^{१३} इस भांति श्रेणी न्यायालय द्वारा दिये गये निर्णयों से असन्तुष्ट पक्ष इसके निर्णय के विरुद्ध अपील गण न्यायालय में कर

७ ‘कुलश्रेणी गणादयः’ शुक्रनीति, ४५।२९

८ प्रभाकर दीक्षित, वाल्मीकि रामायण में राजनीतिक विचार, पृष्ठ १३१

९ अनन्त सदाशिव अल्तेकर, प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृष्ठ १८९

१० शुक्रनीति, ४५।२९

११ शुक्रनीति, ४५।३०

१२ अनन्त सदाशिव अल्तेकर, प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृष्ठ १८९

१३ शुक्रनीति, ४५।२२

सकेगा।^{१४} स्पष्ट है कि शुक्रनीतिकार ने श्रेणी नामक न्यायालय का क्षेत्राधिकार कुल न्यायालय से अधिक और गण न्यायालय से कम निश्चित किया है।

गण की वास्तविक स्थिति क्या थी? इसके विषय में प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में मतभेद है जहां कुछ एक विद्वानों ने गण एवं पूग में भेद किया है तथा उन्हें क्रम से कुलों का संघ और व्यापारियों का संघ भी माना है, वहीं दूसरी ओर कुछ विद्वानों ने गण और पूग को पर्याय रूप में स्वीकार किया है।^{१५} शुक्रनीति में गण न्यायालयों को श्रेणी न्यायालय के विरुद्ध अपील सुनने का अधिकार भी प्राप्त है। यहां यह भी उल्लेखनीय है कि कुल, श्रेणी, गण आदि तीनों गैर सरकारी न्यायालयों को डकैती, चोरी आदि जैसे जघन्य अपराधों को सुनने का अधिकार महर्षि शुक्र ने नहीं दिया है।

साहसस्तेयवर्ज्यानि कुर्युः कार्याणि ते नृणाम्।^{१६}

उपर्युक्त विभिन्न विवादों का निर्णय स्थानीय न्यायालयों द्वारा कराने में महर्षि शुक्र का उद्देश्य यह भी रहा होगा, जिससे कि आपसी विवादों तथा समस्याओं का सुलझाव पारस्परिक विचार-विनिमय द्वारा ही सम्पन्न हो सके, क्योंकि आपसी सहयोग एवं सहमति के आधार पर लिये गये निर्णय अपेक्षाकृत अधिक स्थायी एवं शान्ति प्रदान करने वाले होते हैं। आचार्य शुक्र ने स्थानीय न्यायालयों की व्यवस्था करके न्याय-व्यवस्था को अत्यधिक व्यावहारिक, सुगम एवं महत्वपूर्ण बना दिया है।

सरकारी न्यायालय

शुक्रनीति में जहां एक ओर स्थानीय गैर सरकारी न्यायालयों की स्थापना का वर्णन किया गया है, वहीं दूसरी ओर सरकारी न्यायालयों की व्यवस्था भी दृष्टिगोचर होती है। सरकारी न्यायालयों में सर्वप्रथम सभ्य न्यायालय का उल्लेख मिलता है जिनमें न्यायाधीशों की संख्या ३, ५, ७ निर्धारित की गयी है।^{१७} शुक्रनीति में यद्यपि सभ्य न्यायालय के न्यायाधीश पद पर व्यवहार का विशेषज्ञ, विद्वान्, बुद्धिमान्, चरित्रवान्, शीलगुण से युक्त, शत्रु-मित्र में समभाव रखने वाला, धर्मज्ञ सत्यवादी, आलस्य रहित, काम, क्रोध तथा लोभ पर विजयी, प्रियभाषी आदि गुणों से युक्त व्यक्ति की ही नियुक्ति की व्यवस्था की गयी है।

व्यवहारविदः प्राज्ञा वृत्तशीलगुणान्विताः।

रिपौ मित्रे समा ये च धर्मज्ञाः सत्यवादिनः॥^{१८}

निरालसा जितक्रोध-कामलोभाः प्रियंवदाः।

राजा नियोजितव्यास्ते सभ्याः सर्वासु जातिषु॥^{१९}

किन्तु इसके अतिरिक्त शिक्षा सम्बन्धी योग्यता में महर्षि शुक्र का विचार किसी भी एक शास्त्र के ज्ञाता की इस पद पर नियुक्ति से नहीं अपितु उक्त पद पर अनेक शास्त्रों के ज्ञाता की नियुक्ति से रहा है।

एकं शास्त्रमधीयानो न विन्द्यात् कार्यनिर्णयम्।

^{१४} शुक्रनीति, ४५।२९-३०

^{१५} पाण्डुरंग वामन काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, पृष्ठ ७२३

^{१६} शुक्रनीति, ४५।२९

^{१७} शुक्रनीति, ४५।२५

^{१८} शुक्रनीति, ४५।१६

^{१९} शुक्रनीति, ४५।१७

तस्माद् ब्रह्मागमः कार्यो विवादेष्टमो नृपैः॥'^{२०}

वस्तुतः उक्त अनिवार्य योग्यताओं वाले किसी भी जाति के बैलों की भांति मुकदमे के भार को वहन करने वाले, व्यक्ति की नियुक्ति शुक्रनीतिकार ने राजा द्वारा मानी है।^{२१} आचार्य मनु^{२२} की भांति न्यायाधीशों की नियुक्ति में आचार्य शुक्र ने किसी भी प्रकार के जातिबन्धन को स्वीकार न करके जातीय संकीर्णता के परम्परावादी विचारों से अपने आपको मुक्त रखा है। सभ्य न्यायालय का अधिकार क्षेत्र कुलादि न्याय संस्थाओं से अधिक है। उनके निर्णयों के विरुद्ध अपील सुनने का अधिकार भी इसको प्राप्त है।^{२३}

सभ्य न्यायालय के अतिरिक्त शुक्रनीति में अध्यक्ष न्यायालय का भी उल्लेख मिलता है। अतः स्पष्ट है कि सर्वोच्च निर्णायक राजा की न्याय व्यवस्था और सभ्य न्यायालय के बीच में अध्यक्ष न्यायालय की स्थापना महर्षि शुक्र के द्वारा और की गयी है।

कुलादिभ्योऽधिकाः सभ्यास्तेभ्योऽध्यक्षोऽधिकः कृतः।

सर्वेषामधिको राजा धर्माधर्मनियोजकः॥'^{२४}

सम्भवतः अध्यक्ष न्यायालय का कार्य सभ्य न्यायालयों के निर्णयों के विरुद्ध अपील सुनने का रहा होगा। इस प्रकार राजा की न्याय-सभा के अतिरिक्त अध्यक्ष न्यायालय अन्तिम अपीलीय न्यायालय के रूप में माना गया है।

शुक्रनीति में राजा की न्याय सभा को सर्वोच्च न्यायालय के रूप में स्वीकार किया गया है। वस्तुतः महर्षि शुक्र की यह धारणा थी कि वादी-प्रतिवादी की बातों को सुनकर राजा यदि सभा के अन्य सदस्यों की राय लिये बिना ही स्वयं कोई निर्णय करता है तो उसे नरक की प्राप्ति होती है। केवल इतना ही नहीं, महर्षि ने तो यह भी माना है कि ऐसे राजा की प्रजा का नाश शत्रु सेनाओं से सदैव भय तथा आयु क्षय आदि फल प्राप्त होते हैं।^{२५} इसलिए उन्होंने व्यवस्था की है कि लोभ, क्रोध से रहित राजा प्राड्-विवाक पुरोहित अमात्य और ब्राह्मण के साथ सभापति के रूप में सावधान चित्त से शास्त्रानुसार न्यायकार्य का सम्पादन करे। इसके साथ ही इस प्रकार लिए जाने वाले सम्पूर्ण निर्णय वर्तमान व्यवस्था की भांति सार्वजनिक रूप में किये जायेंगे।^{२६} यदि राजा किन्हीं परिस्थितिवश न्याय सभा में उपस्थित होकर न्यायिक कृत्य सम्पन्न न कर सके तो अपने स्थान पर उसे इन्द्रिय निग्रही, वेदज्ञ, कुलीन, पक्षपात रहित, स्थिर बुद्धि, प्रियवादी, परलोक का भय मानने वाला, क्रोधरहित, धार्मिक एवं उद्योगी आदि गुणों से युक्त व्यक्ति को न्याय कार्य सम्पादन करने के लिए अपने प्रतिनिधि के रूप में नियुक्त करना चाहिए।^{२७} आचार्य शुक्र की यह मान्यता थी कि राजा अपने प्रतिनिधि के रूप में सदैव ही ब्राह्मण की नियुक्ति करे। यदि ब्राह्मण न मिले तो उसके स्थान पर पूर्वोक्त गुणों से युक्त, शास्त्रों के ज्ञाता क्षत्रिय, क्षत्रिय के

२० शुक्रनीति, ४५।३३

२१ 'राजा नियोजित व्यास्ते सभ्याः सर्वासु जातिषु।' शुक्रनीति, ४५।१७

२२ मनुस्मृति, ८, २१

२३ शुक्रनीति, ४५।३०

२४ शुक्रनीति, ४५।३१

२५ शुक्रनीति, ४५।१०-११

२६ शुक्रनीति, ४५।५-६

२७ शुक्रनीति, ४५।१२-१४

अभाव में वैश्य की नियुक्ति करे तथा आचार्य शुक्र ने न्याय सभा में प्रतिनिधि के रूप में न्यायकार्य सम्पादन के उद्देश्य से किसी भी परिस्थिति में शूद्र की नियुक्ति करने का निषेध किया है।

यदा विप्रो न विद्वान स्यात् क्षत्रियं तत्र योजयेत्।

वैश्यं वा धर्मशास्त्रज्ञं शूद्रं येन वर्जयेत्॥^{२८}

यहां यह भी उल्लेखनीय है कि महर्षि ने सभ्य न्यायालय के न्यायाधीशों की भांति राजा के प्रतिनिधि के रूप में नियुक्त व्यक्ति को प्रत्येक जाति का स्वीकार नहीं किया है।

राजा की न्याय-सभा को न्यायिक निर्णय करने में अन्तिम शक्ति प्राप्त है। जहां एक ओर न्याय-सभा अन्तिम अपीलीय न्यायालय के रूप में दृष्टिगोचर होती है वहीं दूसरी ओर प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार भी प्राप्त है। चूंकि अधीनस्थ न्यायालयों को धिग्दण्ड (फटकारना, झड़कना आदि) एवं वाक्दण्ड (अपराध करने के सम्बन्ध में पूछना) देने का ही अधिकार दिया गया है, अतः इनके निर्णयों के विरुद्ध अपील न्याय सभा द्वारा अन्तिम रूप से सुने जाने की व्यवस्था है। इस प्रकार अधीनस्थ न्यायालय द्वारा दिए गए निर्णयों के विरुद्ध अपील पर निर्णय करने की अन्तिम शक्ति न्याय-सभा को ही प्राप्त है। इसके अतिरिक्त अर्थदण्ड एवं वधदण्ड से सम्बन्धित सम्पूर्ण विवादों पर विचार करने का अधिकार केवल न्यायसभा को ही दिया गया है।^{२९} इससे स्पष्ट है कि शुक्रनीतिकार की न्यायसभा को अर्थदण्ड एवं मृत्युदण्ड देने के सम्बन्ध में प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार भी प्राप्त है लेकिन वर्तमान समय की भांति इस प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार वाले न्यायालय के निर्णयों के विरुद्ध अपील किसी अन्य न्यायालय में करने की व्यवस्था दृष्टिगोचर नहीं होती और राजा को न्याय सभा द्वारा दिया गया प्रत्येक अर्थ एवं मृत्युदण्ड अपने आप में अन्तिम और सर्वमान्य होगा, किन्तु वास्तव में न्याय सभा स्वयं अपने आप ही ऐसे विवादों की लघुता एवं गुरुता के आधार पर कई बार पुनर्विचार^{३०} कर सकेगी। इस प्रकार वर्तमान सर्वोच्च न्यायालय की भांति राजा की न्यायसभा को भी सर्वोच्च न्यायालय के रूप में न्यायिक पुनरावलोकन का अधिकार प्राप्त होगा।

शुक्रनीति में प्राप्त सम्पूर्ण विवेचन के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि शुक्रनीति में वर्णित न्याय व्यवस्था जीवन के उच्च आदर्शों पर आधारित एवं स्थापित की गयी है। भले ही दण्ड एवं न्याय व्यवस्था की स्थापना उच्च आदर्शों पर की गयी हो, किन्तु वह कोरे आदर्शों पर ही आधारित न होकर वास्तविक व्यावहारिक जड़ों में अपना स्थान बनाए हुए है। जहां तक वर्तमान न्याय एवं दण्ड व्यवस्था का प्रश्न है इसके सम्बन्ध में तो इतना ही कहना न्यायसंगत होगा कि आज की वर्तमान व्यवस्था शुक्रनीति की व्यवस्था पर आधारित प्रतीत होती है। इसके साथ ही शुक्रनीति अपेक्षाकृत अधिक जीवन के व्यावहारिक पहलुओं पर आधारित है जो आज की महत्त्वपूर्ण भौतिक परिस्थितियों के समीप है।

^{२८} शुक्रनीति, ४५।१४

^{२९} शुक्रनीति, ४५।२७४

^{३०} शुक्रनीति, ४५।२७५-२७६-२७७ एवं ३४

विस्तृत 'कैन्वस' पर अभिराजीय गजल के रंग

डॉ. मंजुलता शर्मा^१

आज सम्पूर्ण विश्व हमारी मुट्ठी में है। संगणक युग ने हमारे साहित्य और साहित्यकारों को एक डोर से बांधा हुआ है। संस्कृत कवियों की रचनाओं में यत्र 'विश्वं भवत्येकनाडम्' की अनुभूति है। हम एक नई ऊर्जा के साथ स्वयं को विश्वजनीन फलक पर उतारने को दृढ़ संकल्पित हैं, हम में न केवल विश्व की समस्याओं से रूबरू होने का हौसला है, अपितु बेबाक होकर लगाम कसने का विश्वास भी है। रचनाशिल्प की दृष्टि से हम पिछड़ नहीं रहे हैं, हमारे छन्दों में शाश्वत नूतनता है, विषय बोध में सम्पूर्ण विश्व की चेतना समाई हुई है। हमारी गीतियों में मेनका है तो 'मोनिका' भी शकुन्तला की तिरछी चितवन है तो मोनालिसा की मुसकान भी।

बीसवीं शताब्दी में उर्दू एवं फारसी काव्य परम्परा के छन्दों का संस्कृत कविता में अवतरण हुआ। इसके बाद हिन्दी, सिन्धी, कश्मीरी, गुजराती आदि अनेक भारतीय भाषाओं में उर्दू काव्य शिल्प की चर्चित एवं हृदयग्राही विधा गजल लोकप्रिय होने लगी। गजल की लोकप्रियता का प्रमुख कारण उसकी गति एवं यति है। संस्कृत साहित्य में गजल के प्रवर्तक के रूप में भट्ट मथुरानाथ शास्त्री का नाम उल्लेखनीय है, जिन्होंने उर्दू, फारसी, छन्दःशास्त्र का निर्वाह करते हुए छोटी बड़ी सभी बहरों में अपनी गजलें लिखीं। शास्त्री जी के गजल लेखन में पण्डित सुलभ शास्त्रीय दृष्टि के साथ-साथ विधिवत् सैद्धान्तिक अध्ययन की प्रक्रिया भी अनुस्यूत थी। उर्दू के गजल लेखन में विषय वस्तु के रूप में वियोग वेदना का ही वर्चस्व था। प्रायः प्रेमी मृत्यु में ही आनन्द की अनुभूति करते थे।

मजे जो मौत के आशिक बयां कभू करते (जौक)

मसीहो खिन्न भी मरने की आरजू करते

भले ही वह शमा पर मरने वाले परवाने की बात हो, अथवा लैला के लिए सिर कटा देने वाले मंजून की दास्ताने मुहब्बत हो। शृंगार का परिणाम बीभत्स प्रधान था। प्रेमी, प्रेमिका महफिल, मद्यपान और नदी, अरण्य, उपवन आदि से परिपूर्ण गजल में सामाजिक राष्ट्रीय धार्मिक और सांस्कृतिक बिन्दुओं के लिए कहीं स्थान ही नहीं था। ऐसे समय में मथुरानाथ शास्त्री ने विषय परिवर्तन करके गजल को एक नया रूप प्रदान किया। भगवद्भक्ति में डूबी छोटी बहर की एक गजल दृष्टव्य है-

अहो कं वाऽऽश्रयेयं दीनबन्धो? स्वदुःखं कं वदेयं दीनबन्धो?

अतः जहां उर्दूभाषा के साम्राज्य में सर्वत्र अत्युक्ति का ही प्रभाव था। शायर इसी में अपने वर्ण्यकौशल को प्रस्तुत करने का प्रयास करते रहते थे, ऐसे में भट्ट जी ने गजल को नये आयामों में सुरक्षित करने का श्रमसाध्य कार्य किया। उनकी गजलों में प्रेमगीतियां हैं तो नीतिपरक उपदेशात्मक गीतियां भी, अतः कल्पना की मौलिकता और बिम्बों की नवीन योजना से इस विधा में मथुरानाथ जी ने एक अलग पहचान बनाई। शब्दावली और अभिव्यक्ति पूर्णतः भारतीय होने के कारण यह एहसास ही नहीं होता कि यह भारतीयेतर छन्द में निबद्ध गीति है-

विरहाऽऽपगातटमुत्तरं पुनरागमिष्यति वा न वा

१. अध्यक्ष संस्कृत-विभाग, सैण्ट जॉन्स कालेज, आगरा.

२. गीतिवीथी पृष्ठ ७१

अपि मानसी मम वेदना विषमा गमिष्याति वा न वा
अपि चन्द्रहासमिमं दधासि, जहासि वक्षसि मामके
किमवैषि ते निशितोऽप्यसिर्मयि संचलिष्यति वा न वा॥^३

यहां यद्यपि निर्ममता का उलाहना और मन की पीड़ा को न समझने की अनुदारता तो उर्दू भावभूमि की है, परन्तु चन्द्रहास का प्रयोग और विरही की वेदना भारतीय शैली में अभिव्यक्त है। यहां खंजर से सीने के चाक हो जाने की कथा नहीं है, अपितु चन्द्रहास के चलने से हृदय के विदीर्ण होने का संदेश है। वस्तुतः इस कालखंड के बाद भट्ट जी ही शैली में गिरिधर शर्मा नवर, रामनाथ प्रणयी जानकी वल्लभ शास्त्री, हरिशास्त्री आदि कवियों ने इस विधा को पल्लवित एवं पुष्पित किया। तदनन्तर पं. बच्चूलाल अवस्थी ने व्याकरणपूत भाषा में सही वजन और चलन की कई गजलें लिखकर संस्कृत पाठकों को चमत्कृत कर दिया। उनकी गजलों में संस्कृत भाषा की प्रौढ़ता के साथ-साथ गजल की नजाकत भी विद्यमान है। प्रेम आशिकी वियोग आंसू से विलग एक नए भावबोध की गजल का रंग कितना विलक्षण है-

विस्मयाविष्टचेता विषीदामि किम्? सम्प्रसादेन नक्तं न निद्रामि किम्?

नानुभावाः स्फुरन्ति प्रभावस्पृशो नापि शब्दार्थसाहित्यमुन्नीयते

आविले मानसे को नु बिम्बग्रहो भावहीनो विभावैर्निर्बन्धामि किम्।^४

यहां किम् रदीफ है और विषीदामि निद्रामि आदि काफिये हैं।

इसी प्रकार भावों की ताजगी और लय की गेयता लिए हुए एक और गजल अवस्थी जी की अद्भुत सर्जनशीलता की परिचायक है-

पिकामौनं भजेरन् मासि वासन्ते कथंकारम्

शरः शाकुन्तलः सिध्येन्न दुष्यन्ते कथंकारम्।

उपायैः कष्टकं पादान्निरस्येतापि सायासम्

अथो शल्यानि कालेयादपोहन्ते कथंकारम्।^५

सचमुच कलेजे के कांटे को कैसे निकाला जा सकता है। चाहे यह किसी की चितवन का तीर हो अथवा बेवफाई का शल्य। प्रेम की पीड़ा जब दिल में उतरती है तब केवल आह ही निकलती है समस्त उपाय निष्फल हो जाते हैं वहां। एक शायर ने इश्क की पाठशाला का प्रथम अक्षर 'आह' को ही बताया है।

इश्क के मकतब में मेरी आज विस्मिल्लाह है

मुंह से कहता हूं 'अलिफ' दिल से निकलती है आह है।

वस्तुतः बच्चूलाल अवस्थी ने विरह मिलन की अनुभूतियों को तो उर्दू काव्य परम्परा में रससिक्त होकर ही लिखा, परन्तु कल्पना की मौलिकता और भारतीय मिथकों एवं बिम्बों के तीर सन्धान से उसे और पैना बना दिया। इस प्रयोग की सर्जनात्मकता ने गजल विधा को भारतीय ताने बाने में बुनकर बहुत ही सुगढ़ शिल्प में बदल दिया। इस सदी के अन्तिम दो तीन दशकों में पं. जगन्नाथ पाठक और और अभिराज राजेन्द्र मिश्र जैसे श्रेष्ठ कवियों ने गजल के एक नए रूप से पाठकों का परिचय कराया। जगन्नाथ पाठक की गजलों में मनोवेदना और सूक्ष्म भावों की व्यञ्जना है। उर्दू, फारसी की गजल शैली पर आधारित आपकी गीतियां अपनी रागात्मकता से हृदय में

३. गीतिवीथी ३९-४०

४. प्रतानिनी १९५

५. प्रतानिनी १०२

अलौकिक आनन्द का संचार करती हैं। कापिशायिनी में कवि ने वैयक्तिक प्रेम की सम्पूर्ण मधुशाला को एक चषक में पी लिया है। यह चषक प्रिया की ऐसी मधुर मुस्कान है जो पूरी मधुशाला पर भारी है। गालिबकाव्य को गालिबकाव्यम् बना देने वाले साधक के रूप में भी पाठक जी सतत स्मरणीय हैं।

परन्तु अभिराज राजेन्द्र मिश्र बहुआयामी व्यक्तित्व के धनी हैं। उनके काव्य में जहां सोहर कजरी और क्षेत्रीय लोकगीतों की महक है, वहीं मत्तवारिणी और शालभंजिका की गजल गीतियों में सम्पूर्ण विश्व की चेतना संरक्षित है। रदीफ और काफ़िए के आकर्षक संयोजन के साथ आपने अपनी बहुरंगी गजलों के रंग काव्यक्षितिज पर बिखेरे हैं, मत्तवारिणी की भूमिका में आपने स्वयं स्वीकार किया है कि-

मैंने गजलों को उनके पुश्तैनी बाड़े (हुस्न इश्क) से बाहर निकालने का कार्य किया है और उन्हें एक बड़ा कैन्वस प्रदान किया है जिसमें व्यक्ति, समाज, राष्ट्रलोक तथा विश्वसमरस है।

वास्तव में अभिराज की गजलों में कथ्य की व्यापकता है, विषयवस्तु की विविधता है और अनेकों बिम्ब एवं प्रतीकों की सहज ग्राह्यता है। वाग्वधूटी, मृद्रीका, श्रुतिम्भरा एवं मधुपर्णी के प्रणयी कवि ने प्रौढ़त्व के छैनी हथौड़े से शालभंजिका को गढ़ा है। इसमें झर-झर बहते आंसुओं में प्रिय बिछोह की पीड़ा नहीं प्रिया से मिलने की तृष्णा भी नहीं और न ही भोग की चाह है, अब तो सांसारिक कामनाओं के अंकुर सूख गए हैं यह जीवन मुक्ति की तृष्णा में जिया जा रहा है।

शोषमापादिताः सर्वभावाङ्कुराः जीवनं जीव्यते काम्यया साम्प्रतम्।^६

यही मुक्ति हमारी धरोहर है, परम पुरुषार्थ है जिसके समक्ष लौकिक यश-अपयश बौने हो जाते हैं-

रमन्ते सर्वकालं ये परब्रह्मणि निमग्नाः जयानां का कथा तेषां पुरोऽथ पराजयानाम्।^७

संस्कृत की गजल में भावबोध का यही नयापन उसे उर्दू की गजल से विलग करता है। संस्कृत साधक का उद्देश्य परमतत्त्व में एकाकार होना है। प्रेम की लौकिक बात भी अलौकिक प्रतीत होती है-

नहि जगदति रुचिरं त्वया विना जीवतमपि न चिरं त्वया विना।

जगत में जीवित रहना, सम्बन्धों का निर्वाह करना तो मात्र औपचारिकता है। कबीर की कमलिनी जल में उत्पन्न होकर और निवास करती हुई भी जिस प्रकार मुरझा जाती है, उसी प्रकार आत्मा और परमात्मा का बिछोह जीव को पीड़ा देता है, वह जीवित है विरह में, परन्तु बहुत दिन तक रह नहीं सकेगा यही भारतीय दर्शन है, आध्यात्मिक चिन्तन है और संसार की नश्वरता का सन्देश भी।

आध्यात्मिकता के अतिरिक्त कवि राजेन्द्र मिश्र का लोकधर्मी रूप उनके काव्य की आत्मा है, उनकी रचनार्धर्मिता में समाजवादी विचारधारा के प्रति आस्था सदैव विद्यमान रही है। वे ऊंच-नीच के भेद को मिटाकर एक ऐसे समाज की प्रतिष्ठा चाहते हैं, जिसमें केवल मनुष्य और मनुष्यता का अस्तित्व रहे-

परितोऽपि पामराणां तृणशालिका इमाः होलानलं समिधय बभ्यो शनैः शनैः।^८

जब चारों ओर झौपड़ी हों वह भी तिनकों से निर्मित घोंसलों जैसी उन्हें नष्ट करने के लिए तो एक चिंगारी ही काफी है। उस पर भी वह विशाल भवन के चारों ओर बनी है। यहां एक संकेत व्यंजनापरक भी हो सकता है। पूंजीवादी व्यवस्था में क्रीतदास के अस्तित्व का कोई मूल्य नहीं होता तो निश्चित रूप में धनाढ्यों के

६. शालभंजिका-१३४/४

७. शालभंजिका ३६/३

८. मत्तवारिणी ३८/३

महल के करीब जो झौंपड़ पट्टियाँ हैं, उससे उनके घर का सौन्दर्य बाधित हो रहा है, अतः कहीं होली के बहाने उनके जला देने की योजना तो नहीं बनाई जा रही। क्योंकि बदसूरत झौंपड़ियाँ अब महल के सौन्दर्य को डसने लगी हैं अतः होली के ब्याज से उनमें आग लगाने का बहाना ढूँढा जा रहा है। अतः हे बन्धु! अपने उसी बन्धुत्व को बनाए रखने के लिए इन ऊँच-नीच की दीवारों को गिरा दो, यह समाजवादी विचारधारा का केन्द्र बिन्दु है, जिसमें सर्वसमाज की कल्पना की गई है।

इसके अतिरिक्त समाज में गिरते मूल्य, दोहरे मानदंड और परपीड़ा के लिए अनेकों छल छद्म करने वाले व्यक्तियों के लिए लिए अभिराज ने जो आचार संहिता निश्चित की है, उससे कुछ सामाजिक विसंगतियाँ दूर की जा सकती हैं। आज व्यक्ति अपने दुःख से दुःखी नहीं है, अपितु दूसरे के सुख से दुःखी है, निरन्तर दूसरे के लिए अवरोध खड़े करता है-

कण्टकशिखाऽसह्य प्रतिभाति चेत्य दंगे

प्रतिवेशि नित्यमार्गे तदलं निखन्य शंकुम्।^१

आपको कांटे की पीड़ा भी असह्य है और दूसरे के मार्ग में खूँटा गाड़ने में भी आपको लज्जा नहीं आती कैसा दोहरा व्यक्तित्व है।

यहां इस शेर में गूढ़ार्थ यह है कि कांटे के चुभने में और खूँटे के गाड़ने में उद्देश्य भिन्नता है। प्रथमतः कांटा अनायास चुभता है और उसकी पीड़ा भी बहुत छोटे भाग पर होती है और फिर कांटा चुभने में दूसरे के द्वारा जानबूझकर कष्ट देना निहित नहीं होता। परन्तु इसके विपरीत खूँटा गाड़ते समय हमें उस विशिष्ट स्थान की तलाश है जहां से हमारा प्रतिवेशी नित्य गुजरता है, और फिर खूँटे से टकराने पर पता नहीं चोट कहाँ-कहाँ लगे। यहां पड़ौसी को पीड़ा देने में हमारा कलुषचिन्तन कार्यरत है।

प्रेम काव्य की आत्मा है, भले ही वह पति-पत्नी का दाम्पत्य प्रेम हो, प्रिया के प्रति समर्पण हो, माता-पिता के प्रति समादर हो, भाई बहन के प्रति स्नेह हो, अथवा अपने देश के लिए मर मिटने का संकल्प हो। प्रेम का सूक्ष्म तन्तु प्रत्येक सम्बन्ध में उसकी चेतना बनकर रहता है। अभिराज ने जिस प्रेम को स्थायी और प्रशंसनीय स्वीकार किया है वह क्षुप के समान धीरे-धीरे विकसित प्रीति है-

प्रीति क्षुपं विवर्धय बन्धो शनैःशनैः

यहां जिस प्रीति को व्याख्यायित किया जा रहा है, वह वल्लरी के समान शीघ्रवर्धित और पराश्रयी नहीं है, वह तो धीरे विकसित होने वाला 'क्षुप' है। बन्धु शब्द 'बन्ध' धातु से निस्त है जो बांधने के अर्थ में आती है। आज विभिन्न पारस्परिक सम्बन्धों में इसी बन्ध का अभाव है। भले वह सामाजिक सम्बन्ध हो अथवा राष्ट्रीय प्रतिबद्धता जहां भी अहं टकराते हैं, युद्ध की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इस अन्तर्कलह को तब ही रोका जा सकता है जब पारस्परिक सम्बन्ध प्रगाढ़ है। ऐसी प्रीति तो त्याग और समर्पण से ही उत्पन्न होती है। उसमें न स्वार्थ की गन्ध होती है और न विचारों का छलछद्म^{१०}

अभिराजीय गजल वाथिकाओं के कई मोड़ कई विश्राम बिन्दु हैं जहां से इन गीतियों का विशिष्ट रूप परिलक्षित होता है सर्वप्रथम गजल की पारम्परिक शैली के अनुरूप प्रेम की पाती अभिराज ने भी लिखी है भले ही वह शनैःशनैः वर्धित प्रीति बिरवा हो अथवा निरुद्धात प्रीति की सरणि हो^{११}। यह प्रीतिवीथी तो गभीरा गभीरा है।

१. मत्तवारणी ३०/४

१०. मत्तवारणी ३८/१, १०

११. शालभजिका ६८/६

सुगम्याः परे जीवने सन्तु मार्गाः परं प्रीतिवीथी गभीरा गभीरा।^{१२}

उनके प्रेम में न तो आशिक माशूका की दीवानगी है और न वासना की कालिमा। यह तो विशुद्ध सात्विक प्रेम है। जो लाल सूरज जैसी बिंदिया को देखकर काली घनघटा जैसे केशों में बन्धे बेला के फूलों से सुसज्जित जूड़े को देखकर उत्पन्न होता है और प्रिया की गर्भावस्था की फरमाइशें जिसे और भी प्रगाढ़ बनाती है पैंतों की पायल रुनझुन करती हुई जब आंगन को गुंजित करती है तो पूनम के चांद सा मुख साकार हो उठता है।^{१३} यह है हमारी भारतीय संस्कृति जिसका प्रेम गृहस्थ सुख की पवित्रता से जुड़ा हुआ है।

परन्तु कहीं-कहीं धीर गम्भीर अभिराज भी प्रेम में मतवाले होकर विरह पीड़ा को व्यक्त कर ही गए हैं, लेकिन वहां उनका मन रूपी चातक पी कहां की रट तो लगाता है, सपने में प्राप्त संयोग क्षणों को प्राप्त कर कोयल सा कुहकने भी लगता है।^{१४} यहां पर मन के चातक होने में विरह की पीड़ा के साथ-साथ त्याग भी निहितार्थ है।^{१५} जैसे चातक स्वाति नक्षत्र के जल की ही प्रतीक्षा करता है वैसे ही भारतीय संस्कृति में दाम्पत्य प्रेम ही सर्वश्रेष्ठ है।

उर्दू गजल के शमा परवाने ने शालभंजिका में भी अपनी उपरिस्थिति को दर्ज कराया है, परन्तु कवि को इस प्रेम में स्थायित्व नजर नहीं आता। वे गृहस्थ जीवन के सुख से परिचित हैं अतः जलने और मरने में रचा बसा प्रेम संशय ही उत्पन्न करता है।

शैखावली त्वदाभा ममशालभोऽनुरागः जातं ततोऽखिलं संशय तुलाधिरूढं।^{१६}

वास्तव में यह तो पतंगा ही बता सकता है कि शमां पर जलकर मरने में मुक्ति का सुख है या मृत्यु की व्यथा।^{१७}

अभिराज का काव्य भारतीय संस्कृति की प्रतिष्ठा है उनमें समाज को बदलने का संकल्प है। समाज के गिरते मूल्य क्या हमारी परम्पराओं को नष्ट कर देंगे ?

कभी यह प्रश्न उठता है तो कभी हृदय का विश्वास झकझोर देता है कि नहीं भारतीय वसन्धुरा का आत्मगौरव आज भी विद्यमान है।

गौरवं तदेव येन दुर्गुणोऽपि जीयते मानवेन मानवाय बन्धुताऽनुभूयते।^{१८}

लेकिन जब अभिराज अपने देश के किसान को भूखे मरते देखते हैं^{१९} व्यभिचारी मन्त्रियों के स्वागत का भव्य आयोजन, चोर सिपाही का पारस्परिक मेल^{२०} संसद में बैठे भ्रष्ट राजनीतिज्ञों^{२१} की अगवानी करने वाले राष्ट्र को देखते हैं तो पीड़ा ज्वार बनकर होठों से निकलती है। उनके अनेकों छन्द में विषाक्त राजनीति पर प्रहार है^{२२}

१२. शालभंजिका २०/१

१३. मत्तवारणी १४२ पृष्ठ, ६४/१-५, ६६/७

१४. मत्तवारणी ९६/१, ६,

१५. मत्तवारणी ८२/३

१६. शालभंजिका १००/१

१७. शालभंजिका - १२६/४

१८. वाग्वधूटी १०/१

१९. मत्तवारणी ४२/२

२०. मत्तवारणी १०२/८-९

२१. मत्तवारणी ३७/४, ६, ११३/१-९, शालभंजिका २३/६

२२. मत्तवारणी ५०/४७, मधुपर्णी-३१/६

सामाजिक रूढ़ियों पर रोष है और दुष्टजनों पर कटाक्ष भी। कवि की व्यंजना बहुत ही मार्मिक है, वे सकारात्मक वाक्यों को कहकर व्यक्ति को आत्ममूल्यांकन के लिए विवश कर देते हैं। उनकी बहुत ही अजब-गजब नीति है ऐसे छोटे तीर जो मर्म पर गहरी चोट करते हैं, उनके तूणीर में विद्यमान है। 'यशस्ते मयाऽवेक्षितं राष्ट्रबन्धो' इस रचना में उन्होंने नेताओं के कलुषित कर्मों को अन्योक्ति के माध्यम से उजागर किया है, भले ही वह सड़क बनवाने का ठेका हो अथवा बगीचा, पुल पाठशाला तालाब आदि का निर्माण सब में पैसा खाने के बाद क्या वह सुखी रह सकेगा? इस प्रश्न के उत्तर में एक गीतिपंक्ति सम्पूर्ण बात कह जाती है-

बहूपार्जितं लक्षकोटीश्वरो भूः समृद्धेस्त्वयाऽकारि सर्वो विकल्पः।

ध्रुवं निस्सुते त्वद् गृहप्रांगणेऽस्मिन् 'यशस्ते मयाऽवेक्षितं राष्ट्रबन्धो' ^{२३}

राष्ट्रनायक को व्यंग्य की इन पंक्तियों ने क्या शिकस्त दी है, अरे भला यह सारा प्रपंच किसके लिए? समस्त बेईमानी दुराचार किसके लिए? सम्पत्ति का एकत्रीकरण किसके भोग के लिए? जब पुत्रहीन घर हो तो यह समस्त दांवपेंच किस काम के तुम अपने जीवन के वास्तविक सुख से ही वंचित हो तो यह बाह्य सुख किस काम के? यहां दुष्कर्मी राष्ट्रविरोधी नेतृत्व को राष्ट्रबन्धु नाम देना एक अनकहा तिरस्कार है।

एक बात अभिराज को सदैव पीड़ित करती रही कि जहां श्रेष्ठ साहित्यकारों के सम्मान के लिए कोई स्थान नहीं है, वहां अंगूठा टेक अशिक्षित राजनेताओं के लिए मंच सजाए जाते हैं, उन्हें 'भारतरत्न' देने के विषय में विचार विमर्श किए जाते हैं ^{२४} ऐसे में जब सम्पूर्ण देश इस व्यवस्था का अनुयायी हो जाएगा तो क्या होगा इसका भविष्य? बरबाद गुलिस्तां करने को बस एक ही उलू काफी है, हर शाख पै उलू बैठा है अंजामे गुलिस्तां क्या होगा? इस शेर को अपनी गजल गीति में कुछ इस तरह से उतारा है।

उद्याने यस्मिन् सान्द्रतरौ प्रतिशाखमुलूका वल्गन्ते।

कल्याणं तस्य कथं भविता सुषमा वसन्तस्यागमने ^{२५}

वर्तमान राजनीति में अवगुणियों की एक लम्बी जमात है। सभी एक दूसरे के दुश्चरित्र का पर्दाफाश करने को उतावले हैं ऐसे में सबके आवरण उतारे जा रहे हैं ^{२६} जैसे प्याज लहसुन का पारस्परिक विवाद दोनों की दुर्गन्ध को ही प्रदर्शित करता है सद्गुणों को नहीं ^{२७} वस्तुतः व्यक्ति अपनी बुद्धि के आधार पर ही अपने वाक्कौशल को व्यक्त करता है, भले ही वह आलोचना हो अथवा प्रणति वह सबमें अपने चरित्र की दुर्बलता के बेलबूटे चित्रित कर देता है। ^{२८}

कवि दोहरे चरित्र के प्रत्येक व्यक्तित्व को समाज का कलुष मानते हैं चाहे वह राजनेता हो अथवा आडम्बर युक्त पण्डे-पुजारी। उन्हें इस दोगलेपन से घृणा है। धर्म को तोड़मरोड़ कर अपने सुख के लिए प्रयोग करना उन्हें पीड़ा देता है। कण्ठ में माला और गेरुए कपड़े पहने तथाकथित पण्डितों का एक बड़ा समूह है। ये जनभावनाओं से खिलवाड़ करते हुए उसका शाषण करते हैं। ^{२९} आज सम्पूर्ण विश्व आंतकवाद की देहरी पर खड़ा

२३. मत्तवारणी ९४/७

२४. मत्तवारणी ९४/९

२५. मत्तवारणी-९४/९

२६. मत्तवारणी -२०/३, ५०/४, ३४/६-८

२७. शालभंजिका २२/६

२८. शालभंजिका ४०/२, ४६/१-८

२९. मत्तवारणी २६/१-१०, १०८/७

है। युद्ध के भीषण परिणामों से परिचित होने पर भी अपने-अपने प्रभुत्व के मंच ढूँढे जा रहे हैं। देश विदेश में बढ़ते बेरोजगार हमारे युवाओं को दिग्भ्रान्त कर रहे हैं। जो युवा शक्ति राष्ट्र की स्तम्भ है, वही भरभरा कर ढह जाने के कगार पर आ खड़ी हुई है, आत्मघाती दस्ते तैयार किए जा रहे हैं, खुद मर कर दूसरे को मारने का फैसला। आखिर क्या चाहिए? अन्त में कहां जायेगा यह रास्ता। हम कैसे विश्वबन्धुत्व को विकसित करें? अनेकों प्रश्न हमारी विश्व चेतना पर दस्तक दे रहे हैं। इसमें अभिराज का सुझाव है कि यदि प्रतिष्ठा एवं वर्चस्व की इस लड़ाई में बैर की यह लोहे की जंजीरें पारस्परिक प्रेम एवं समझौते से काटी जाएं तो विश्वहित की बात की जा सकती है।

परुषाऽऽयसी च नूनं सापत्यशृङ्खला प्रीत्यैव तां निकर्तय बन्धो शनैः शनैः।

यहां द्वेष जन्य बैरभाव को सापत्य शब्द से व्यक्त किया गया है। पत्नी का सपत्नी से जो बैर होता है वह प्रभुताजन्य होता है। इसमें पति पर अपने विशिष्ट अधिकार की लड़ाई है। यह प्रभुता व्यक्तियों में हो अथवा राष्ट्रों में जब प्रभुत्व का अंहकार, एकाधिकार की लिप्सा समाप्त हो जाएगी तो राष्ट्रीय सीमाएं अन्तर्राष्ट्रीय बन जायेंगी। इसके लिए प्रेम की ऐसी कर्तरी की आवश्यकता है, जो इन शृङ्खलाओं को काटकर विश्वबन्धुत्व का सन्देश मानवमात्र को दे सके।

अभिराज की विशेषताओं के पुञ्ज को यदि एक शब्द में कहने की शर्त हो कहा जा सकता है कि वे 'बेबाक' हैं। वास्तव में उनकी समस्त कृतियों में उनके व्यक्तित्व की पारदर्शिता झलकती है वे जो कहते हैं वही करते हैं। बाह्य आडम्बर न तो उनके चरित्र और व्यक्तित्व में है और न ही वे ऐसे व्यक्तियों से प्रभावित होते। अपनी सरलता से ही उनके हृदय को जीता जा सकता है, यदि कोई व्यक्ति निरर्थक चाटुकारिता के बल पर उनके करीब पहुंचने का स्वप्न देखता है तो वह मूर्ख है। वे ऐसे कृतध्नों को कभी क्षमा नहीं करते अगले सात जन्मों तक तो कदापि नहीं-

चिद् विस्मरेयं न जन्मान्तरेषु कृतघ्नाऽननं लोकितं भूरि भूरि।^{३०}

इसी भाव से ओत प्रोत भुजंगा कथम्? यह गजल मंच की दृष्टि से भी बहुत प्रभावी गजल कहीं जा सकती है। इसमें सपों के द्विजिह्वित्व एवं विषयुक्त होने को उनका दोष न मानकर विधाता का आदेश माना है, परन्तु जब इन्सान अपनी कुटिलता से संसार को डसता है तो वह उसका अपना कलुषित चरित्र ही है-

यद्यपि अभिराज सुख दुःख को समान रूप से सेवित करने वाले साधक हैं, वे कर्मों के अनुसार ही फलों की प्राप्ति करने का उपदेश देने वाले योगीश्वर हैं, ऐसे में उनकी रचनाएं इससे वियुक्त कैसे हो सकती हैं।^{३१} परहित के लिए अपना सम्पूर्ण जीवन अर्पित कर देना ही तो मनुष्यता है और मनुष्य वही है जो जीवन पर्यन्त अपनी मनुष्यता को बनाए रखे।^{३२} वे तो अगरबत्ती की तरह तिल-तिल जलकर भी संसार को सुगन्धित करने का संकल्प ले चुके हैं-

कामं तनुर्विनाष्टा सुरभिर्बभूव लोकः किमतः परं कृतित्वं स्याद् भूतलेऽगुरुणां।^{३३}

यद्यपि इसके विपरीत स्थिति प्राप्त होने पर उन्हें क्षोभ होता है कष्ट होता है परन्तु वे मलिनता को स्वच्छ जल से धोने के पक्षधर हैं।^{३४} इसके लिए ईश्वर से प्रार्थना करते हैं कि वे उग्र न हों उनकी सहिष्णुता बनी रहे।^{३५}

३०. मत्तवारिणी ४८/५

३१. मत्तवारिणी ५६/१-८, ५८/६-७, ६०/१-१०, ९८-१-९, ५२/१, शालभंजिका ११०/६, ६६/१-८, ७४/५

३२. मत्तवारिणी ७४/१-९, ६८/४-८, ५८/६ १३८/१-९ शालभंजिका ६६/२

३३. मत्तवारिणी ८२/११ CC-0. JK Sanskrit Academy, Jammu. Digitized by S3 Foundation USA

३४. मत्तवारिणी-१२४/१-८, शालभंजिका १३२/२-४

जीवन पर्यन्त स्वाभिमान से ही जीवन को पल्लवित पोषित करने वाले अभिराज में दीनता नहीं तेजस्विता है, चाटुकारिता नहीं गुणग्राह्यता है, यही उनका व्यक्तित्व है और यही उनका कृतित्व।^{३६} अभिराज में कबीर जैसा समाजसुधारक श्वास लेता है। वे संघर्ष रत रह कर भी समाज को रूढ़ियों से मुक्त करने को संकल्पित हैं।^{३७} उनमें किंचित् भी भय नहीं है। कुछ समालोचक उनकी इस निर्भयता एवं आत्मकेन्द्रित गीतियों को उनका अभिमान कह सकते हैं, परन्तु वास्तव में यह उनका घमंड नहीं अपितु एक श्रेष्ठ साहित्यकार का स्वाभिमान है। वे इसके बिना अपने जीवन को मृतप्रायः मानते हैं। वास्तविकता भी यही है कि व्यक्ति यदि आत्मसम्मान के बिना जीवित रहता है तो वह जीवन निष्फल होता है।^{३८}

शालभंजिका की प्रत्येक गजल में अभिराज चाहे अनचाहे स्वयं आ खड़े हुए हैं। उनकी अधिकांश गीतियाँ आत्म चिन्तन से जुड़ी हुई हैं। यह एक ऐसी डायरी है जो गजल विधा में लिखी गई हैं।^{३९} इसकी भूमिका में उन्होंने इस तथ्य को स्वयं स्वीकार किया है कि-

शालभंजिका की गजलों में जीवन की विसंगतियों की संगत समीक्षा का यत्न मैंने किया है। इनमें विवशता एवं विकलता का मर्म है तो उनकी स्वयंस्फूर्ति एवं निर्वृतिपरक पर्यवसिति भी है।^{४०} इसकी गजलों में सहज मैत्री, प्रणयासक्ति, सहभाव, निष्ठा, वंचना अभिसन्धि, उपेक्षा सभी का चित्रण है।

शालभंजिका की गजलें अपने कवि को आत्मसात् कर अग्रेसर होती हैं, इनमें कवि कहीं नदी द्वीप सा स्थिर है मात्र प्रवाह का दृष्टा है तो कहीं स्वयमेव प्रवाह है। वह कहीं मंझधार बनकर तो कहीं तटबन्ध बन कर प्रकट होता है, परन्तु अपनी गजलों में वह है सर्वत्र^{४१}। अभिराज की प्रत्येक कृति में समाज की कृतघ्नताजन्य पीड़ा का उद्देग है, वे स्वतन्त्र पंछी की भांति साहित्याकाश उड़ान के लिए ही प्रतिबद्ध है, अतः वे अपने कुलपतित्व को भी आनन्द के स्थान पर अभिशाप कहते हैं, यह पद उनके लिए इन्द्रजाल है-

कथं शापत्रिवर्षावधिरतीतः सखायश्चूयतां कुलपतिः कथ्यम्।^{४२}

उनकी यतो निष्कपाटम् गजल भी उनके हृदय सरलता को व्यक्त करती हैं^{४३}। इसमें हृदय का कपाटहीन होना मानो कपट-हीन होने का सूचक है।

वस्तुतः विषय वस्तु की दृष्टि से अभिराज की गजल गीति का फलक उर्दू की अपेक्षा बहुत व्यापक है। उसमें कुरुक्षेत्र का महासमर है^{४४} तो कार्गिल के मन की व्यथा भी है।^{४५} गंगा, चांदनी, बादल का विशुद्ध आलम्बन

३५. मत्तवारणी ६०/१०,

३६. शालभंजिका ७८/१-२, ७, ११०/८ १२८/२-३,

३७. शालभंजिका ३६/१, २०/८

३८. शालभंजिका १३०/४-५, १३६/७, ११०/८, २२/९

३९. शालभंजिका १४८/२

४०. शालभंजिका १० पृ० भूमिका

४१. शालभंजिका पृ० ११ भूमिका

४२. शालभंजिका १६/८

४३. शालभंजिका १०४/१-७

४४. मत्तवारणी ७६/१-१०

४५. मत्तवारणी २५/१-१२

रूप है^{४६} तो वृक्ष विहीन और बहुमंजिली इमारतों से घिरी पृथिवी के अन्धकारमय भविष्य की चेतावनी भी^{४७}। मूर्खता, सत्य, अभिनय, लोभ, संगीत, प्रतिछद्म, प्रेम समस्त भावों का समुच्चय है अभिराज की गजल^{४८}। कुछ गजलों में मिश्रजी ने बहुत ही हृदयार्कषक बिम्बों का प्रयोग किया है। मनुष्य की परछाई के लिए प्रतिबिम्ब शब्द की सार्थकता इस गजल में मिलती है^{४९}। कहीं कहीं पर कवि आध्यात्मिक चिन्तन में लीन होकर संसार से विरक्त काव्यालोक में विचरता है, क्योंकि सभी जानते हैं कि मृत्यु निश्चित है फिर रोने बिलखने मित्रता, बैरभाव, चिन्ता प्रसन्नता से क्या? अतः व्यक्ति को कार्य करते हुए ईश्वरचिन्तन में समय बिताना चाहिए^{५०}। यही है अभिराज राजेन्द्र मिश्र का जीवन दर्शन और उनकी गजल गीतियों की आधार भूमि। उन्हें नर से नारायण बनने की साधना नहीं चाहिए वे तो ऐसे फक्कड़ जीवन को ही वास्तविक सुख मानते हैं-

किंचिद् गृहे व्यतीतं किंचित् तले दुमाणाम्।

न कदम्बके नराणां न कदम्बके सुराणाम्॥

यही अपरिग्रह है। जहां संचय की लिप्सा ही नहीं, क्योंकि वे जानते हैं यह जीवन क्षणभंगुर है। यही कारण है कि अभिराज के कथ्य में आत्मचिन्तन के मंथन का नवनीत है। वे स्वयं को शंकर जैसा निस्पृही बनाकर शिवम् की साधना करना चाहते हैं। क्योंकि जीवन के अन्तिम मोड़पर जब हम सम्पूर्ण विश्व को अपनी मुठ्ठी में बंद करने का स्वप्न पाल रहे थे अनायास ही प्रयाण वेला में वह मुठ्ठी खुली रह गई और जीव इस नश्वर शरीर को छोड़ कर उड़ गया बड़ी-बड़ी शक्तियां सत्ताएं नष्ट हो गईं, क्षणभंगुर संसार से कैसा मोह?

मयमिस्त्रबेबिलोना असुराश्च पारसीकाः, के के न नामशेषाः प्रतिभाति कीदृशन्ते।

सर्वं ममैव मुष्टौ भवितेति ते प्रतिज्ञा शिथिलैव सा प्रयाणे प्रतिभाति कीदृशन्ते।^{५१}

इसके अतिरिक्त मिश्रजी ने अपनी गजलें में चेलसा (बिलकिंलटन की पुत्री) मोनिका (प्रेमिका) आदि के विषय में भी अपना मन्तव्य दिया है, परन्तु यहां समादर जन्य चाटुकारिता नहीं है, अपितु वासनात्मक प्रेम के निन्दनीय पक्ष को प्रस्तुत किया है।^{५२} यह प्रस्तुति उनको वैश्विक चिन्तन से जोड़ती है।

समालोचना की दृष्टि से अभिराज की कुछ गजलों के एक दो तथ्यों ने मुझे ठिठक कर रुकने को बाध्य किया इसमें प्रथम बात है गजलों का शीर्षक होना। अधिकांशतः उर्दू गजलों में संख्या क्रम होता है परन्तु मिश्रजी की गजलों में प्रायः शीर्षक देकर गजल लिखी गई हैं, लेकिन इसके अपवाद स्वरूप 'मृद्वीका' की गजलें भी आपकी ही देन हैं जिनमें प्रथमा द्वितीया आदि गीति लिखकर संख्या क्रम को वरीयता दी गई है। सम्भवतः 'मृद्वीका' की गजलें प्रारम्भ में लिखी गई थीं। अतः कवि ने उर्दू साहित्य का अक्षरशः अनुसरण करने का संकल्प लिया होगा, परन्तु बाद में शालभंजिका, मत्तवारिणी तक आते-आते उन्होंने गजल को अपने आइने में स्थापित किया, अतः शीर्षकों से बांधकर उनका सृजन किया।

४६. मत्तवारणी १०६/१-९, ७८/१-९, ११८/१-८,

४७. मत्तवारणी १२०/८

४८. मत्तवारणी ५२/१-९

४९. शालभंजिका ४८/१-९

५०. मत्तवारणी १३६/१-९

५१. शालभंजिका ११२/४, ७

५२. मत्तवारणी १०४/८, ७८/१६, ११८/१४, ११८/१५, ११८/१६, ११८/१७, ११८/१८, ११८/१९, ११८/२०, ११८/२१, ११८/२२, ११८/२३, ११८/२४, ११८/२५, ११८/२६, ११८/२७, ११८/२८, ११८/२९, ११८/३०, ११८/३१, ११८/३२, ११८/३३, ११८/३४, ११८/३५, ११८/३६, ११८/३७, ११८/३८, ११८/३९, ११८/४०, ११८/४१, ११८/४२, ११८/४३, ११८/४४, ११८/४५, ११८/४६, ११८/४७, ११८/४८, ११८/४९, ११८/५०, ११८/५१, ११८/५२, ११८/५३, ११८/५४, ११८/५५, ११८/५६, ११८/५७, ११८/५८, ११८/५९, ११८/६०, ११८/६१, ११८/६२, ११८/६३, ११८/६४, ११८/६५, ११८/६६, ११८/६७, ११८/६८, ११८/६९, ११८/७०, ११८/७१, ११८/७२, ११८/७३, ११८/७४, ११८/७५, ११८/७६, ११८/७७, ११८/७८, ११८/७९, ११८/८०, ११८/८१, ११८/८२, ११८/८३, ११८/८४, ११८/८५, ११८/८६, ११८/८७, ११८/८८, ११८/८९, ११८/९०, ११८/९१, ११८/९२, ११८/९३, ११८/९४, ११८/९५, ११८/९६, ११८/९७, ११८/९८, ११८/९९, ११८/१००, ११८/१०१, ११८/१०२, ११८/१०३, ११८/१०४, ११८/१०५, ११८/१०६, ११८/१०७, ११८/१०८, ११८/१०९, ११८/११०, ११८/१११, ११८/११२, ११८/११३, ११८/११४, ११८/११५, ११८/११६, ११८/११७, ११८/११८, ११८/११९, ११८/१२०, ११८/१२१, ११८/१२२, ११८/१२३, ११८/१२४, ११८/१२५, ११८/१२६, ११८/१२७, ११८/१२८, ११८/१२९, ११८/१३०, ११८/१३१, ११८/१३२, ११८/१३३, ११८/१३४, ११८/१३५, ११८/१३६, ११८/१३७, ११८/१३८, ११८/१३९, ११८/१४०, ११८/१४१, ११८/१४२, ११८/१४३, ११८/१४४, ११८/१४५, ११८/१४६, ११८/१४७, ११८/१४८, ११८/१४९, ११८/१५०, ११८/१५१, ११८/१५२, ११८/१५३, ११८/१५४, ११८/१५५, ११८/१५६, ११८/१५७, ११८/१५८, ११८/१५९, ११८/१६०, ११८/१६१, ११८/१६२, ११८/१६३, ११८/१६४, ११८/१६५, ११८/१६६, ११८/१६७, ११८/१६८, ११८/१६९, ११८/१७०, ११८/१७१, ११८/१७२, ११८/१७३, ११८/१७४, ११८/१७५, ११८/१७६, ११८/१७७, ११८/१७८, ११८/१७९, ११८/१८०, ११८/१८१, ११८/१८२, ११८/१८३, ११८/१८४, ११८/१८५, ११८/१८६, ११८/१८७, ११८/१८८, ११८/१८९, ११८/१९०, ११८/१९१, ११८/१९२, ११८/१९३, ११८/१९४, ११८/१९५, ११८/१९६, ११८/१९७, ११८/१९८, ११८/१९९, ११८/२००, ११८/२०१, ११८/२०२, ११८/२०३, ११८/२०४, ११८/२०५, ११८/२०६, ११८/२०७, ११८/२०८, ११८/२०९, ११८/२१०, ११८/२११, ११८/२१२, ११८/२१३, ११८/२१४, ११८/२१५, ११८/२१६, ११८/२१७, ११८/२१८, ११८/२१९, ११८/२२०, ११८/२२१, ११८/२२२, ११८/२२३, ११८/२२४, ११८/२२५, ११८/२२६, ११८/२२७, ११८/२२८, ११८/२२९, ११८/२३०, ११८/२३१, ११८/२३२, ११८/२३३, ११८/२३४, ११८/२३५, ११८/२३६, ११८/२३७, ११८/२३८, ११८/२३९, ११८/२४०, ११८/२४१, ११८/२४२, ११८/२४३, ११८/२४४, ११८/२४५, ११८/२४६, ११८/२४७, ११८/२४८, ११८/२४९, ११८/२५०, ११८/२५१, ११८/२५२, ११८/२५३, ११८/२५४, ११८/२५५, ११८/२५६, ११८/२५७, ११८/२५८, ११८/२५९, ११८/२६०, ११८/२६१, ११८/२६२, ११८/२६३, ११८/२६४, ११८/२६५, ११८/२६६, ११८/२६७, ११८/२६८, ११८/२६९, ११८/२७०, ११८/२७१, ११८/२७२, ११८/२७३, ११८/२७४, ११८/२७५, ११८/२७६, ११८/२७७, ११८/२७८, ११८/२७९, ११८/२८०, ११८/२८१, ११८/२८२, ११८/२८३, ११८/२८४, ११८/२८५, ११८/२८६, ११८/२८७, ११८/२८८, ११८/२८९, ११८/२९०, ११८/२९१, ११८/२९२, ११८/२९३, ११८/२९४, ११८/२९५, ११८/२९६, ११८/२९७, ११८/२९८, ११८/२९९, ११८/३००, ११८/३०१, ११८/३०२, ११८/३०३, ११८/३०४, ११८/३०५, ११८/३०६, ११८/३०७, ११८/३०८, ११८/३०९, ११८/३१०, ११८/३११, ११८/३१२, ११८/३१३, ११८/३१४, ११८/३१५, ११८/३१६, ११८/३१७, ११८/३१८, ११८/३१९, ११८/३२०, ११८/३२१, ११८/३२२, ११८/३२३, ११८/३२४, ११८/३२५, ११८/३२६, ११८/३२७, ११८/३२८, ११८/३२९, ११८/३३०, ११८/३३१, ११८/३३२, ११८/३३३, ११८/३३४, ११८/३३५, ११८/३३६, ११८/३३७, ११८/३३८, ११८/३३९, ११८/३४०, ११८/३४१, ११८/३४२, ११८/३४३, ११८/३४४, ११८/३४५, ११८/३४६, ११८/३४७, ११८/३४८, ११८/३४९, ११८/३५०, ११८/३५१, ११८/३५२, ११८/३५३, ११८/३५४, ११८/३५५, ११८/३५६, ११८/३५७, ११८/३५८, ११८/३५९, ११८/३६०, ११८/३६१, ११८/३६२, ११८/३६३, ११८/३६४, ११८/३६५, ११८/३६६, ११८/३६७, ११८/३६८, ११८/३६९, ११८/३७०, ११८/३७१, ११८/३७२, ११८/३७३, ११८/३७४, ११८/३७५, ११८/३७६, ११८/३७७, ११८/३७८, ११८/३७९, ११८/३८०, ११८/३८१, ११८/३८२, ११८/३८३, ११८/३८४, ११८/३८५, ११८/३८६, ११८/३८७, ११८/३८८, ११८/३८९, ११८/३९०, ११८/३९१, ११८/३९२, ११८/३९३, ११८/३९४, ११८/३९५, ११८/३९६, ११८/३९७, ११८/३९८, ११८/३९९, ११८/४००, ११८/४०१, ११८/४०२, ११८/४०३, ११८/४०४, ११८/४०५, ११८/४०६, ११८/४०७, ११८/४०८, ११८/४०९, ११८/४१०, ११८/४११, ११८/४१२, ११८/४१३, ११८/४१४, ११८/४१५, ११८/४१६, ११८/४१७, ११८/४१८, ११८/४१९, ११८/४२०, ११८/४२१, ११८/४२२, ११८/४२३, ११८/४२४, ११८/४२५, ११८/४२६, ११८/४२७, ११८/४२८, ११८/४२९, ११८/४३०, ११८/४३१, ११८/४३२, ११८/४३३, ११८/४३४, ११८/४३५, ११८/४३६, ११८/४३७, ११८/४३८, ११८/४३९, ११८/४४०, ११८/४४१, ११८/४४२, ११८/४४३, ११८/४४४, ११८/४४५, ११८/४४६, ११८/४४७, ११८/४४८, ११८/४४९, ११८/४५०, ११८/४५१, ११८/४५२, ११८/४५३, ११८/४५४, ११८/४५५, ११८/४५६, ११८/४५७, ११८/४५८, ११८/४५९, ११८/४६०, ११८/४६१, ११८/४६२, ११८/४६३, ११८/४६४, ११८/४६५, ११८/४६६, ११८/४६७, ११८/४६८, ११८/४६९, ११८/४७०, ११८/४७१, ११८/४७२, ११८/४७३, ११८/४७४, ११८/४७५, ११८/४७६, ११८/४७७, ११८/४७८, ११८/४७९, ११८/४८०, ११८/४८१, ११८/४८२, ११८/४८३, ११८/४८४, ११८/४८५, ११८/४८६, ११८/४८७, ११८/४८८, ११८/४८९, ११८/४९०, ११८/४९१, ११८/४९२, ११८/४९३, ११८/४९४, ११८/४९५, ११८/४९६, ११८/४९७, ११८/४९८, ११८/४९९, ११८/५००, ११८/५०१, ११८/५०२, ११८/५०३, ११८/५०४, ११८/५०५, ११८/५०६, ११८/५०७, ११८/५०८, ११८/५०९, ११८/५१०, ११८/५११, ११८/५१२, ११८/५१३, ११८/५१४, ११८/५१५, ११८/५१६, ११८/५१७, ११८/५१८, ११८/५१९, ११८/५२०, ११८/५२१, ११८/५२२, ११८/५२३, ११८/५२४, ११८/५२५, ११८/५२६, ११८/५२७, ११८/५२८, ११८/५२९, ११८/५३०, ११८/५३१, ११८/५३२, ११८/५३३, ११८/५३४, ११८/५३५, ११८/५३६, ११८/५३७, ११८/५३८, ११८/५३९, ११८/५४०, ११८/५४१, ११८/५४२, ११८/५४३, ११८/५४४, ११८/५४५, ११८/५४६, ११८/५४७, ११८/५४८, ११८/५४९, ११८/५५०, ११८/५५१, ११८/५५२, ११८/५५३, ११८/५५४, ११८/५५५, ११८/५५६, ११८/५५७, ११८/५५८, ११८/५५९, ११८/५६०, ११८/५६१, ११८/५६२, ११८/५६३, ११८/५६४, ११८/५६५, ११८/५६६, ११८/५६७, ११८/५६८, ११८/५६९, ११८/५७०, ११८/५७१, ११८/५७२, ११८/५७३, ११८/५७४, ११८/५७५, ११८/५७६, ११८/५७७, ११८/५७८, ११८/५७९, ११८/५८०, ११८/५८१, ११८/५८२, ११८/५८३, ११८/५८४, ११८/५८५, ११८/५८६, ११८/५८७, ११८/५८८, ११८/५८९, ११८/५९०, ११८/५९१, ११८/५९२, ११८/५९३, ११८/५९४, ११८/५९५, ११८/५९६, ११८/५९७, ११८/५९८, ११८/५९९, ११८/६००, ११८/६०१, ११८/६०२, ११८/६०३, ११८/६०४, ११८/६०५, ११८/६०६, ११८/६०७, ११८/६०८, ११८/६०९, ११८/६१०, ११८/६११, ११८/६१२, ११८/६१३, ११८/६१४, ११८/६१५, ११८/६१६, ११८/६१७, ११८/६१८, ११८/६१९, ११८/६२०, ११८/६२१, ११८/६२२, ११८/६२३, ११८/६२४, ११८/६२५, ११८/६२६, ११८/६२७, ११८/६२८, ११८/६२९, ११८/६३०, ११८/६३१, ११८/६३२, ११८/६३३, ११८/६३४, ११८/६३५, ११८/६३६, ११८/६३७, ११८/६३८, ११८/६३९, ११८/६४०, ११८/६४१, ११८/६४२, ११८/६४३, ११८/६४४, ११८/६४५, ११८/६४६, ११८/६४७, ११८/६४८, ११८/६४९, ११८/६५०, ११८/६५१, ११८/६५२, ११८/६५३, ११८/६५४, ११८/६५५, ११८/६५६, ११८/६५७, ११८/६५८, ११८/६५९, ११८/६६०, ११८/६६१, ११८/६६२, ११८/६६३, ११८/६६४, ११८/६६५, ११८/६६६, ११८/६६७, ११८/६६८, ११८/६६९, ११८/६७०, ११८/६७१, ११८/६७२, ११८/६७३, ११८/६७४, ११८/६७५, ११८/६७६, ११८/६७७, ११८/६७८, ११८/६७९, ११८/६८०, ११८/६८१, ११८/६८२, ११८/६८३, ११८/६८४, ११८/६८५, ११८/६८६, ११८/६८७, ११८/६८८, ११८/६८९, ११८/६९०, ११८/६९१, ११८/६९२, ११८/६९३, ११८/६९४, ११८/६९५, ११८/६९६, ११८/६९७, ११८/६९८, ११८/६९९, ११८/७००, ११८/७०१, ११८/७०२, ११८/७०३, ११८/७०४, ११८/७०५, ११८/७०६, ११८/७०७, ११८/७०८, ११८/७०९, ११८/७१०, ११८/७११, ११८/७१२, ११८/७१३, ११८/७१४, ११८/७१५, ११८/७१६, ११८/७१७, ११८/७१८, ११८/७१९, ११८

इसके अतिरिक्त दूसरा तथ्य है कि शेरों में पारस्परिक सम्बद्धता का अभाव। यद्यपि आपकी अधिकांश गजलों के शेर, अर्थ एवं विषय की दृष्टि से सम्बद्ध हैं अर्थात् एक ही विषय पर सम्पूर्ण गजल लिखी गई है, परन्तु कुछ गजलें इसका अपवाद हैं जैसे तेषां सूर्येदयोऽद्य हस्ते^{५३} गजल इसी प्रकार लिखी गई हैं। इस गजल का प्रायः प्रत्येक शेर स्वतन्त्र भाव से युक्त है। यह प्रयोग अभिराज जी द्वारा साभिप्राय किया गया है अथवा अनायास यह कहना तो सम्भव नहीं है, परन्तु यह विशेषता उर्दू शायरी में मिलती है। उर्दू शायर की सम्पूर्ण गजल एक ही विषय पर हो यह जरूरी नहीं होता बस रदीफ और काफिए संतुलित होने चाहिए, क्योंकि उर्दू, फारसी में लिखी गई गजलों में भाव प्रवणता का तत्त्व प्रमुख होता है, परन्तु मिसरे पारस्परिक सम्बद्ध हों यह आवश्यक नहीं होता। फारसी छन्दशास्त्र की नैसर्गिकता को कवि ने अपनी गजलों में बड़े पैमाने पर जीया है। छोटी बहर की गजलें लिखने में तो मिश्रजी बेजोड़ हैं। कालिदास और वाल्मीकि की धरोहर पर गर्व करते हुए ही कवि ऐसी सराहनीय पंक्ति लिख सकता है—

अज्ञातहस्तु वैरी भवति स्मरोत्सवः हृदयं ततः समर्पय बन्धो! शनैः शनैः!^{५४}

आपकी अधिकांशतः गजलों के मकते (अन्तिमशेर) में आपने अपने 'तखल्लुस' (उपनाम) का प्रयोग किया है, जैसा कि उर्दू में होना अनिवार्य माना जाता रहा है। कुछ लोग इसे उर्दू का प्रभाव कह सकते हैं, पर कवि ने सर्वत्र अनिवार्यता से इसका प्रयोग नहीं किया है।

भाषा की दृष्टि से आपके गजल संग्रह सरल सहज हैं आपने मत्तवारणी की भूमिका में स्वयं लिखा है कि मैंने यथाशक्ति प्रयत्न किया है कि मत्तवारणी की भाषा बोधगम्य हो वस्तुतः यह कहना भी गौरव लेने जैसा हुआ। सचाई यह है कि मैं ऐसे ही भाषाबन्ध के प्रयोग में समर्थ हूँ (कवि की अतिशय विनम्रता द्योतित होती है) हां जो मैं कहना चाहता हूँ वह अवश्य ही दीर्घ दीर्घतर है, परन्तु वाच्य नहीं प्रत्युत व्यंग्य।

वास्तव में सरल बोधगम्य मिथकों के द्वारा मिश्रजी ने अपने गूढ़ अनुभवों को पाठकों से बांटा है। इसके लिए उन्होंने अनेकों मुहावरों व लोकोक्तियों को भी प्रश्रय दिया है, वैसे भी अभिराज क्षेत्रीय प्रभाव से कभी मुक्त नहीं हो पाए अथवा होना नहीं चाहते जिससे उनका वास्तविक व्यक्तित्व बना रहे। डूबते को तिनके का सहारा^{५५}, मार्गमतिक्रामति मार्जारी^{५६} (बिल्ली का रास्ता काटना), स्फुरति वामनयनम्^{५७}, व्यालवक्त्रेऽगुलिर्जातु नो दीयताम्^{५८}, शश शृंगतां जिहीते^{५९}, कर्णिनी भित्तिरेषा^{६०}, खर्वतामेत्य दासरको मुष्यते^{६१} (लोकोक्ति), वक्रमुक्त्वा गृहप्रागणं दूष्यते^{६२} आदि मुहावरे एवं लोकोक्तियों का प्रयोग करके उन्होंने गजल विधा को भी विशुद्ध भारतीय भाव भूमि में उतार दिया है।

५३. शालभंजिका पृ० १३८

५४. मत्तवारणी ३८/८

५५. मत्तवारणी ५४/६

५६. मत्तवारणी १०८/२

५७. मत्तवारणी १०८/१

५८. मत्तवारणी ११०/६

५९. शालभंजिका ११६/५

६०. शालभंजिका २०/७

६१. शालभंजिका ११६/१

६२. शालभंजिका ११६/५

वस्तुतः अभिराज की गजलों का परिवेश पाठकों के लिए आत्मीय है, भले ही वह शालभंजिका का बांकपन हो, मत्तवारिणी के कटाक्ष हों वाग्वधूटी का संचरण हो अथवा मधुपर्णी की मिठास हो। उन्होंने उर्दू-फारसी छन्दशास्त्र का चिन्तन करते हुए भी अपनी गजल गीतियों को एक अलग पहचान दी है, उनके द्वारा संकेतित मिथक भंगी-भणितयाँ, बिम्ब एवं प्रतीक बहुत उजले और करीबी लगते हैं। उनकी गजलों में दर्शन भी है, काव्य शास्त्र भी, राजनीति भी है, पुरुषार्थ भी।

इस प्रकार इन्द्र धनुषी भावबोध और व्याकरण सिद्ध शैली के धनी अभिराज राजेन्द्र मिश्र की गजल गीतियाँ भी अनुपमेय हैं। आपका विषयवस्तु फलक बहुत व्यापक है। आपने जहाँ एक ओर गजल की शाश्वत धारा को अंगीकृत करके प्रेम, व्यथा, विरह, शमा, पतंगा और उष्ण श्वांसों की तपन को संजोया है, वहीं दूसरी ओर इस पारंपरिक भूमि से परे सामाजिक रूढ़ियों परम्पराओं, राजनैतिक उद्वेगताओं, और दोहरे चरित्र पर कठोर प्रहार किए हैं। अपने जीवन के अनुभवों को आपने हर पल संगृहीत किया है, जैसा कि प्रत्येक गजल के अन्त में स्थान और समय संकेत से अनुभव होता है। कभी विमान यात्रा में, कभी ट्रेन की प्रतीक्षा करते हुए प्लेटफार्म पर, कभी उनीदी आंखों से अतिथिगृह में और कभी आश्रमों के सुरम्य शान्त परिसर में जब भावों का उद्वेलन हुआ शब्दों की माला गजल में बदल गई। यदि गहनता से देखा जाए तो उर्दू-फारसी गजल का उद्गम भी सायास न होकर अनायास ही होता रहा है, वहाँ भी आंखों के आंसू, गहरी श्वांसे तिल-तिल करके मरते आशिक गजल को जन्म देते हैं। अतः अपनी अन्य विधाओं की भांति अभिराज राजेन्द्र मिश्र ने गजल गीति को भी विश्वजनीन फलक पर उतारा है, उनकी गीतियों में सामाजिक विघटन, नैतिक पीड़ाएँ, राजनैतिक विद्रूपताएं और वैश्विक चिन्तन पदे-पदे मुखरित हुआ है। अतः अभिराजीय आलोक में विश्वक्षितिज के इन्द्र धनुषी रंग और भी चित्ताकर्षक हो उठे हैं। यह न केवल संस्कृत वाङ्मय की समृद्धि के सूचक हैं, अपितु संस्कृत विचारकों समालोचकों एवं चिन्तकों के लिए भी एक श्रेष्ठ संकेत है कि आज संस्कृत रचनाकार युगानुरूप है, उसकी दृष्टि विश्वबोध से जुड़कर तत्त्वान्वेषी हो रही है। वह जीवन मूल्यों का उपदेशक भी है और निर्णायक भी।

अन्ततः यही कहा जा सकता है कि आज जब विश्व में विद्वेष की बयार वह रही है, हम व्यक्तिगत जातिगत हितों को अंगीकृत करके अलग-अलग नीड रचने का स्वांग कर रहे हैं, ऐसे में अभिराज का यह संदेश उद्धोषित होना ही चाहिए-

वैरेण वैरं शम्यतीह न जातु तत्त्वविदो विदुः।

विषयैव भा परिवर्धते सृतिमिति हरति दीपावली।^{६३}

कालिदास का योग-विषयक प्रेम

डॉ. राकेश शास्त्री^१

जब हम महाकवि कालिदास के विषय में दो व्यक्तित्वों- नाटककार कालिदास एवं काव्यकार कालिदास के रूप में विचार करते हैं तो हम पाते हैं कि नाटककार कालिदास 'योग' एवं इसके माध्यम से 'मोक्ष' की प्राप्ति के प्रति पूर्णतया निरपेक्ष रहे हैं, क्योंकि अपनी तीनों नाट्य कृतियों में से किसी एक में भी उन्होंने योग अथवा मोक्ष की चर्चा नहीं की है। इसके अतिरिक्त उनके नायकों में से भी कोई योग से परिचित प्रतीत नहीं होता है और न ही उनकी इसमें कोई अभिरुचि ही है। केवल अपनी अन्तिम कृति अभिज्ञान शाकुन्तलम् के भरत-वाक्य में महाकवि ने नीललोहित अर्थात् भगवान् शंकर से स्वयं को 'पुनर्जन्म से मुक्त करने की प्रार्थना' अवश्य की है।^२

इसके ठीक विपरीत काव्यकार कालिदास ने अपने दोनों ही महाकाव्यों में योगविषयक अनेक बातों धारणा,^३ ध्यान^४ और समाधि^५ आदि को स्पष्टरूप से उल्लेख करते हुए कुमारसम्भव के नायक शिव को परमयोगी^६ और रघुवंश के अधिकांश राजाओं^७ को योग द्वारा मोक्षप्राप्ति के लिए तत्पर बताया है।

योगदर्शन का मुख्य सिद्धान्त उन उपायों की शिक्षा प्रदान करना है, जिनके द्वारा मानव आत्मा पूर्णरूप से परमात्मा में विलीन हो जाती है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए गम्भीर भाव-चिन्तन ही मुख्य साधन बताया गया है। इस प्रकार के योग या मन के संकेन्द्रीकरण के समुचित अभ्यास के लिए महर्षि पतंजलि ने योगसूत्र^८ में यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि आदि का प्रतिपादन किया है।^९

काव्यकार कालिदास भी परमात्मा में लीन होकर आत्मा के अनुभव को ही ध्यान मानने के पक्षधर रहे हैं। ऐसी प्रतीत होता है कि काव्यकार के समय में सामान्य-जन भी 'योग' से परिचित थे। दूसरे शब्दों में पतंजलि के योगसूत्र का समाज में पर्याप्त प्रभाव था। तभी तो उन्होंने रघुवंश के नायकों के आदर्श को योगेनान्ते तनुत्यजाम्^{१०} के रूप में महाकाव्य के आरम्भ में ही प्रतिपादित किया है। यद्यपि एक स्थल पर उन्होंने महाराज रघु को योग की शिक्षा प्राप्त करने के लिए 'जैमिनि' के पास भेजा है। विद्वत्परम्परा 'जैमिनि' को मीमांसक आचार्य के रूप में पतंजलि से भी पूर्व स्वीकार करती है।^{११}

१. अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग, राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, बांसवाडाराज. ३२७००१

२. ममापि च क्षपयतु नीललोहितः पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्मभूः। अभि. - ७/३५।

३. नृपतिः प्रकृतिरवेक्षितुं व्यवहारासनमाददे युवा। परिचेतुमुपांशुधारणा कुशपूतं प्रवयास्तु विष्टरम्॥ रघु. ८/१८।

४. वीरासनैर्ध्यानजुषामृषीणाममी समध्यासितवेदिमध्याः। निवातनिष्कम्पतया विभान्ति योगाधिरूढा इव शाखिनोऽपि। वही - १३/५२

५. अथ काश्चिदजव्यपेक्षया गमयित्वा समदर्शनः समाः। तमसः परमापदव्ययं पुरुषं योगसमाधिना रघुः॥ रघु.- ८/२

६. कु. - ३/४०, ४७-५०।

७. रघु. - ८/१७, २२, २४, १३/६, ५२, १५/९५।

८. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः योगसूत्र, पतंजलि।

९. रघु. - १/८

१०. मीमांसा दर्शन का विवेचनात्मक इतिहास, डॉ. गजानन शास्त्री 'मुसलगांवकर', चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, पृ. १४४।

इसके अतिरिक्त काव्यकार श्रीमद्भगवद्गीता में बतायी गयी स्थितप्रज्ञ^{११} की परिभाषा से भी वे पूर्णरूप से परिचित प्रतीत होते हैं-

न नवः प्रभुराफलोदयात्स्थिरकर्मा विरराम कर्मणः।

न च योगविद्येर्नवेतरः स्थिरधीरा परमात्मदर्शनात्॥^{१२}

योग की अन्तिम अवस्था 'समाधि' को माना गया है, जिसमें मन और इन्द्रियों की सभी क्रियाएँ पूर्णरूप से अवरुद्ध हो जाती हैं, यही अवस्था यहाँ 'स्थिरप्रज्ञ' की कही गयी है, इसी को पूर्ण शान्ति की अवस्था भी कह सकते हैं। काव्यकार ने यहाँ उसी की ओर संकेत किया है।

इसीप्रकार काव्यकार कालिदास ने योग की प्रक्रिया से जुड़े पर्यकबन्ध^{१३} एवं वीरासन^{१४} दोनों का ही उल्लेख किया है। कुमारसम्भव तृतीय सर्ग में वर्णित शिव तप की मुद्रा योग के पर्यकबन्ध नामक आसन ही है, क्योंकि यहाँ कवि ने उनका ऊपर का आधा शरीर सीधा और निश्चेष्ट होना बताया है, अपनी कमल के समान हथेलियों को उन्होंने अपनी गोद में ऊर्ध्वमुख रखा हुआ है,^{१५} कन्धों को थोड़ा झुकाए हुए उनकी अर्ध निमिलित और स्थिरदृष्टि नासिका के अग्रभाग पर एकटक लगी हुई है, जिसे योगमुद्रा कहा जा सकता है।^{१६} वस्तुतः यह सम्पूर्ण वर्णन काव्यकार के योग-विषयक सूक्ष्मतम बारीकियों से परिचय को दर्शाता है। ऐसी कोई स्थिति हमें नाटककार के नाटकों में किसी एक भी स्थल पर परिलक्षित नहीं होती है।

इसके अतिरिक्त भगवान् शिव ने शरीर के अन्दर निवास करने वाले पाँचों प्रकार की वायुओं- प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान का पूर्णतया अवरोध कर लिया है। इस समय उनकी सम्पूर्ण अन्तः एवं बाह्य स्थिति को काव्यकार ने पवनरहित स्थान में स्थित निष्कम्प दीपक से उपमित किया है।^{१७} जो उपमा उनके योग-विषयक ज्ञान के साथ-साथ उपमान विषयक सौन्दर्य को भी अभिव्यंजित करती प्रतीत होती है।

इसीप्रकार काव्यकार ने कुमारसम्भव में एक स्थल पर योगसूत्र के ब्रह्मरन्ध्र के अर्थ में शिरस्तः पद का प्रयोग किया है।^{१८} बुद्धि के चरम केन्द्र इसका सम्बन्ध सुषुम्ना नाड़ी से माना गया है। इसके अलावा रघुवंश के त्रयोदश सर्ग में काव्यकार ने विष्णु की योगनिद्रा का उल्लेख किया है, जिसमें किसी प्रकार की बाह्यचेतना नहीं रहती है, किन्तु आन्तरिक चेतना और स्मरणशक्ति की स्थिति बनी रहती है, जबकि समाधि की अवस्था में साधक अपने सम्पूर्ण सम्पर्कों को निगृहीत करके आत्मा की ज्योति को भीतर ही भीतर देखने को प्रयास करता है। अन्त में अक्षर ब्रह्म का ध्यान लगाकर परम ज्योति को प्राप्त कर लेता है -

मनो नवद्वारनिषिद्धवृत्ति हृदि व्यवस्थाप्य समाधिविषयम्।

यमक्षरं क्षेत्रविदो विदुस्तात्मानमन्यवलोकयन्तम्॥^{१९}

११. प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्। आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥ गीता - २/५५

१२. रघु. - ८/२२

१३. कु. - ३/४५।

१४. रघु. - १३/५३।

१५. पर्यकबन्धस्थिरपूर्वकायमृज्वायतं सन्नमितोभयांसम्। उत्तानपाणिद्वयसन्निवेशात्प्रफुल्लराजीवमिवांकमध्वे॥ कु. - ३/४५।

१६. किञ्चित्प्रकाशस्तिमितोप्रतारैर्भ्रूविक्रियायां विरतप्रसंगैः। नेत्रैरविस्मृतिपक्ष्मालैर्लक्ष्मीकृतप्राणमधोमयूखैः॥ कु. - ३/४७।

१७. अन्तश्चराणां मरुतां निरोधान्निवर्तननिष्कम्पमिव प्रदीपम्। कु. - ३/४८।

१८. कपालनेत्रान्तरलब्धमार्गज्योतिःप्ररोहेऽखिलैः शिरस्तः॥ कु. - ३/४९।

१९. कु. - ३/५०।

श्रीमद्भगवद्गीता में भी समाधि की इसी अवस्था का वर्णन किया गया है।^{२०}

काव्यकार का योग-विषयक यही प्रेम हमें रघुवंश में चरम पर दृष्टिगोचर होता है, जब तपोवन में वीरासन में समाधि लगाए हुए तपस्वियों को वेदिकाओं के बीच में खड़े वृक्ष भी समाधिस्थ ही प्रतीत होते हैं, क्योंकि यहाँ तो सम्पूर्ण वातावरण ही योगमय हो गया है -

वीरासनैर्ध्यानजुषामृषीणाममी समध्यासितवेदिमध्ययाः।

निवातनिष्कम्पतया विभान्ति योगाधिरूढा इव शाखिनोऽपि।^{२१}

इस सबके अतिरिक्त काव्यकार ने परमात्मा की प्राप्ति के लिए योग साधन के अलावा भक्तियोग का प्रतिपादन भी विष्णु,^{२२} एवं ब्रह्मा^{२३} की स्तुतियों के माध्यम से किया है एवं गीता के निष्काम कर्मयोग की ओर भी संकेत किया गया है -

बहुधाप्यागमैर्भिन्नाः पन्थानः सिद्धिहेतवः।

त्वय्येव नियतन्त्योधाः जह्वीया इवार्णवे॥^{२४}

इसके अतिरिक्त कालिदास की मोक्ष के लिए स्वयं की चाह भी हमें रघुवंश का अध्ययन करने से प्रतीत होती है, क्योंकि इस महाकाव्य के महानायक रघु स्वयं इतने आत्मज्ञान से युक्त हो जाते हैं कि वे नष्ट होने वाले सुखों की चाह छोड़कर मोक्ष के साधक बन जाते हैं।^{२५} चारों आश्रमों में आस्था रखने वाले काव्यकार के श्रद्धास्पद राजा रघु योग का अभ्यास करने के लिए संन्यास आश्रम को स्वीकार करते हैं और अपने पुत्र अज की अश्रुपूर्ण भावना को दृष्टिगत रखते हुए नगर के बाहर ही कुटिया बनाकर रहते हैं तथा अपने जितेन्द्रिय पुत्र के राज्य के फल-फूल ग्रहण करके ही अपना जीवन यापन करते हैं-

स किलाश्रममन्त्यमाश्रितो निवसन्नावसथे पुराद् बहिः।

समुपास्यत पुत्र भोग्या स्नुषसेवाविकृतेन्द्रियः श्रियाः॥^{२६}

यहाँ हम देखते हैं कि महाराज रघु वस्तुतः पूर्णरूप से जितेन्द्रिय हैं, वे नाटककार के नायकों के समान भोगों के पीछे दौड़ने वाले नहीं हैं। रघु के योगी जीवन की विस्तार से चर्चा^{२७} काव्यकार के योग विषयक विचारों को स्पष्ट करने के साथ-साथ उनके स्वयं के योगी व्यक्तित्व की ओर भी संकेत करती प्रतीत होती है।

यहाँ तो योगीराज रघु अपने मन को साधने का अभ्यास करने के लिए एकान्त में कुशा के आसन पर विराजमान होते हैं और योगियों के साथ चर्चा भी करते हैं-

परिचेतुमुपांशुधारणां कुशपूतं प्रवयास्तु विष्टरम्॥^{२८}

२०. अक्षरं ब्रह्मपरमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते। भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः॥ गीता - ८/३

२१. रघु. - १३/५२।

२२. रघु. - १०/५-१४, १६-३२।

२३. कु. २/४-१५।

२४. रघु. - १०/२६।

२५. अथ वीक्ष्य रघुः प्रतिष्ठितं प्रकृतिष्वात्मजात्मवतया। विषयेषु विनाशधर्मसु त्रिदिवस्थेष्वपि निःस्पृहोऽभवत्। रघु. -

८/१०।

२६. रघु. - ८/१४।

२७. रघु. - ८/१६-२५।

२८. रघु. ८/१८।

अनपायिपदोपलब्धये रघुरासैः समियाय योगिभिः॥^{२९}

इतना ही नहीं यहाँ रघु भी शिव के समान ही अपने योगबल से शरीर के भीतर रहने वाले प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान नामक पंच वायुओं को अपने वश में कर लेते हैं -

अपरः प्रणिधानयोग्यया मरुतः पंच शरीरगोचरान्।^{३०}

इसके अतिरिक्त रघु की योग-साधना की पराकाष्ठा तो तब देखने को मिलती है, जब वे अपनी यौगिक क्रियाओं द्वारा उत्पन्न ज्ञान की अग्नि से अपने सभी कर्मों को जला डालते हैं।^{३१} इस प्रसंग में महत्त्वपूर्ण एवं उल्लेखनीय तथ्य यह है कि काव्यकार यहाँ सांख्य एवं योगदर्शन के सिद्धान्तों में आस्था रखते हुए प्रकृति के गुणत्रय - सत्त्व, रजस् और तमस् का स्पष्टरूप से उल्लेख करके रघु द्वारा इन तीनों को अपनी यौगिक क्रियाओं द्वारा जीतने की बात का कथन करते हैं, जिसे हम नाटककार की कृतियों में अप्रत्यक्षरूप से भी नहीं देख पाते हैं -

रघुरप्यजयद् गुणत्रयं प्रकृतिस्थं समलोष्ठकांचनः॥^{३२}

मिट्टी और सोने में समदृष्टि सांसारिकता से विरक्ति का सबसे उत्कृष्ट लक्षण माना गया है, जिसका उल्लेख केवल योग-विशेषज्ञ काव्यकार कालिदास ही करते हैं नाटककार नहीं। यह काव्यकार का योग-विषयक प्रेम ही है कि दृढ निश्चयी एवं स्थिर-चित्त राजा रघु अपनी यौगिक क्रियाओं का तब तक परित्याग नहीं करते हैं, जब तक वे स्वयं परमात्मा का दर्शन नहीं कर लेते हैं -

न च योगविधेर्नवेतरः स्थिरधीरा परमात्मदर्शनात्॥^{३३}

यहाँ प्रयुक्त 'स्थिरधी' शब्द वस्तुतः काव्यकार के स्थिर-चित्त एवं दृढ-निश्चयी व्यक्तित्व की अभिव्यंजना करता प्रतीत होता है। इस प्रसंग में उल्लेखनीय है कि काव्यकार के जीवन का लक्ष्य न तो स्वर्ग-प्राप्ति है और न ही परमात्मदर्शन, अपितु वे तो यहाँ एक मात्र मोक्ष के ही साधक प्रतीत होते हैं। तभी तो उनके आदर्श राजा रघु परमात्मदर्शन के बाद भी मोक्ष प्राप्त करने के लिए अपने मन को योग-साधना में निरत किए हुए हैं।^{३४}

इतना ही नहीं अपनी सभी इन्द्रियों को पूर्णतया वश में करके वे अनेक सिद्धियाँ भी प्राप्त कर लेते हैं, किन्तु ये सिद्धियाँ भी उनके मार्ग की बाधक नहीं हो पाती हैं और समदर्शी महाराज रघु अपने प्रवृद्ध योगबल से सदैव प्रकाशमान, अविनाशी परमात्मा में लीन हो जाते हैं,^{३५} जो वस्तुतः काव्यकार का स्वयं का भी चरम लक्ष्य प्रतीत होता है।

इसके अतिरिक्त काव्यकार जानते हैं कि योगियों के शरीर का दाहसंस्कार नहीं किया जाता है, अपितु उनके शरीर को पृथ्वी में समाधि प्रदान की जाती है^{३६} तथा योगबल से देहत्याग करने वाले महात्मा पूर्णरूप से मुक्त हो जाते हैं। इसलिए उन्हें अपने पुत्रों से पिण्डदान की भी आवश्यकता नहीं रहती है, किन्तु इस सबसे

२९. रघु. ८/१७।

३०. रघु. ८/१९।

३१. इतरो दहने स्वकर्मणां ववृते ज्ञानमयेन वह्निना॥ रघु. ८/२०।

३२. रघु. ८/२१।

३३. रघु. ८/२२।

३४. रघु. ८/२३।

३५. अथ ऋषिदजव्यपेक्षया गमयित्वा समदर्शनः समाः॥ तमसः परमाण्ववस्थं मुक्तं योगसाधना रघुः॥ रघु. ८/२४।

३६. क्षुत्तेजो वसर्जनः पितृशिरमश्रूणि विमुच्य राघवः। विदधे विधिमस्य नैष्ठिकं यतिभिः सार्धमनाग्निचित्॥ रघु. ८/२५।

परिचित होते हुए भी श्रद्धादि संस्कारों के प्रति अगाध आस्थावान् काव्यकार कालिदास पुत्र अज द्वारा अत्यन्त श्रद्धा-भक्ति से रघु के श्रद्धा संस्कारों का निष्पादन कराते हैं -

अकरोत्स तदौर्ध्वदैहिकं पितृभक्त्या पितृकार्यकल्पवित्।

न हि तेन पथाः तनुत्यजस्तनयार्जितपिण्डकाक्षिणः॥^{३७}

इसीप्रकार रघुवंशी पुष्य भी राज्य का भार अपने पुत्र को सौंपकर स्वयं जैमिनि के शिष्य होकर उनसे योग की शिक्षा प्राप्त करके संसार के आवागमन से मुक्त हो जाते हैं।^{३८} ये आचार्य जैमिनि वस्तुतः कर्मकाण्ड एवं यज्ञादि विषयक वैदिक वाक्यों की व्याख्या करने वाले, मोक्ष के लिए ज्ञान एवं कर्म दोनों की आवश्यकता प्रतिपादित करने वाले पूर्वमीमांसा दर्शन के प्रवर्तक आचार्य प्रतीत नहीं होते हैं। यद्यपि काव्यकार कालिदास की कर्मकाण्ड एवं यज्ञ के प्रति भी प्रबल आस्था रही है।^{३९} सम्भवतः काव्यकार के समय में स्थित ये आचार्य योग विद्या में कुशल रहे होंगे।

इस प्रसंग में हम इतना ही कहना चाहते हैं कि गुप्तयुग में स्थित काव्यकार कालिदास की योग एवं मोक्ष के प्रति अगाध श्रद्धा रही है। रघुवंश एवं कुमारसम्भव में स्थित योगदर्शन विषयक स्थलों के विवेचन से स्वयं काव्यकार का संयत एवं जितेन्द्रिय तथा योग विषयक ज्ञानवान् होना सिद्ध होता है। कुमारसम्भव पंचम सर्ग में पार्वती की तपस्या का वर्णन^{४०} भी योग से ही प्रभावित रहा है। वर्षा ऋतु में पार्वती पर गिरी बूंदों का वर्णन उसकी योग समाधि को ही चित्रित करता प्रतीत होता है।^{४१} जबकि नाटककार कालिदास केवल अभिज्ञान शाकुन्तलम् के अन्तिम अंक में मुनि की कठोर तपस्या^{४२} का वर्णन करके परमात्म दर्शन की ही चर्चा करते हैं।

काव्यकार के अधिकांश नायक योग के प्रति विशेषरूप से आकर्षित रहे हैं।^{४३} यहाँ तो केवल रघु ही नहीं, अपितु लक्ष्मण भी अन्त में योग के द्वारा ही अपने शरीर का परित्याग करते हैं।^{४४} महर्षि वसिष्ठ ने भी अपने योगबल से ही क्रमशः दिलीप^{४५} एवं अज^{४६} के शोक का कारण जाना है तथा महर्षि वाल्मीकि ने भी योगबल से ही वन में राम द्वारा सीता के परित्याग के कारण का दर्शन किया है।^{४७} इसीप्रकार आदिपुरुष भगवान् विष्णु तीनों लोकों का संहार कर चुकने के बाद समुद्र में ही 'योगनिद्रा' में लीन रहते हैं।^{४८}

३७. रघु. ८/२६।

३८. महीं महेच्छः परिकीर्य सूनौ मनीषिणे जैमिनयेऽर्पितात्मा। तस्मात्सयोगादधिगम्य योगमजन्मनेऽकल्पयत जन्मभीरुः॥ रघु.

- १८/३३।

३९. रघु. १/६, ४४, ६/२३, ६/३८, ११/१, ३७, १३/६१, १६/३५, ३९, ।

४०. कु. ५/७-२९।

४१. स्थिताः क्षणं पक्ष्मसु ताडिताधराः पयोधरोत्सेधनिपातचूर्णिताः। वलीषु तस्याः स्खलिताः प्रपेदिरे चिरेण नाभिं

प्रथमोदबिन्दवः॥ कु. ५/२४।

४२. अभि. - ७/११-१२

४३. रघु. , १/७४, ८/ २०-२२, १३/६, १४/७२ , १५/९५, १८/३३।

४४. रघु. १५/९५।

४५. सोऽपश्यत्प्रणिधानेन संततेः स्तम्भकारणम्। रघु. १/७४।

४६. अथ तं सवनाय दीक्षितः प्रणिधानाद् गुरुश्रमस्थितः। रघु. ८/७५।

४७. जाने विसृष्टं प्रणिधानंतस्त्वां मिथ्यापवादक्षुभितेन भर्त्रा। रघु. १४/७२।

४८. रघु. १३/६।

इस प्रसंग में एक बात विशेषरूप से उल्लेखनीय है कि नाटककार कालिदास की द्वितीय एवं अन्तिम कृति के चतुर्थ^{४९} एवं अन्तिम अंक^{५०} में केवल 'तप' के प्रति किंचिद् अभिव्यक्ति अवश्य हुई है। 'तप्यते इति तपः' परिभाषा के अनुसार इसमें व्यक्ति अपने शरीर को अत्यधिक कष्ट पहुँचाते हुए कुछ सिद्धियों अथवा परमात्म दर्शन का प्रयास करता है।

अभिज्ञानशाकुन्तलम् के अन्तिम अंक में मारीच ऋषि के आश्रम में वर्णित तपः वर्णन कुछ इसीप्रकार का प्रतीत होता है, जहाँ एक तपस्वी की जटाओं में पक्षियों ने घोंसले बना लिए हैं, साँप की केंचुलियों से वेष्टित शरीर को दीमकों ने अपनी बाँबी से ढक दिया है।^{५१} इसे तपस्या की पराकाष्ठा अवश्य कहा जा सकता है, किन्तु यहाँ भी हमें योग के कुछ लक्षण प्रतीत नहीं होते हैं। वस्तुतः इसे समाधि अवस्था भी इसलिए नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि यह तपस्वी सूर्य की ओर एकटक दृष्टि से निहार रहा है।

विक्रमोर्वशीयम् नाटक में एक स्थल पर उर्वशी के स्वर्ग लौटने की बात जानकर पुरुरवा अपने पुत्र आयुष को राज्यभार सौंपकर हरिणों से भरे तपोवन में जाने की बात भर करता है, जाता नहीं है।^{५२} साथ ही यहाँ उसका तपोवन निवास का उद्देश्य मोक्ष-प्राप्ति नहीं है, यह तो वस्तुतः उर्वशी के वियोग में संसार से विरक्ति एवं उसका प्रभाव ही प्रमुख रहा है, जिसे नारद के माध्यम से संदेश देते हुए^{५३} इन्द्र द्वारा उर्वशी को हमेशा के लिए साथ रहने की अनुमति प्रदान करके क्षीण भी कर दिया गया है।

इसीप्रकार शाकुन्तलम् के अन्तिम अंक में मारीच ऋषि के आश्रम में एक स्थल पर तप के प्रभाव में आस्था व्यक्त करते हुए कण्व को अपने तप के प्रभाव से सभी बातें ज्ञात हैं,^{५४} ऐसा कहा गया है। साथ ही गालव ऋषि आकाश मार्ग से योग के कारण नहीं, अपितु अपने तप के प्रभाव से ही महर्षि कण्व को सूचना देने के लिए प्रस्थान करते हैं।^{५५}

इस प्रकार हम देखते हैं कि योग के सम्बन्ध में काव्यकार एवं नाटककार की मान्यताएँ सर्वथा भिन्न रही हैं। नाटककार जहाँ केवल कठोर तप के प्रति आस्थायान् हैं, वहीं काव्यकार की निष्ठा योग में प्रति अपेक्षाकृत अधिक रही है। इसका यह भी तात्पर्य नहीं है कि काव्यकार ने तप का उल्लेख अपने काव्यों में नहीं किया है, अपितु यहाँ इन्द्र को भी अपनी तपस्या से भयभीत कर देने वाले पंचाग्नि तप में निरत सूर्य को एकटक निहाने वाले सुतीक्ष्ण ऋषि^{५६} तथा पंचाप्सर क्रीड़ा सरोवर पर मृगों के साथ घास चरने वाले शातकर्णी^{५७} ऋषि का कठोर तप वर्णन करना।

४९. क दुष्यन्त - अपि तपो वर्धते ? अभि. - १/२३ के बाद। ख कण्व - वस्ते ! उपरुध्यते तपोऽनुष्ठानम् ॥ अभि. - ४/२० के बाद। ग शकुन्तला - तपश्चरणपीडितं तातशरीरम्, तन्मातिमात्रं मम कृत उत्कण्ठितम् ॥ अभि. ४/२१ से पूर्व।

५०. अभि. ७/१२ के बाद।

५१. अभि. ७/११।

५२. न हि सुलभवियोगा कर्तुमात्मप्रियाणि प्रभवति परवत्ता शासने तिष्ठ भर्तुः। अहमपि तव सूनावद्य विन्यस्य राज्यं विचरितमृगयूथान्याश्रयिष्ये वनानि। विक्रमो. ५/१७

५३. नारद - प्रभावदर्शी मधवा वनगमनाय कृतबुद्धि भवन्तमनुशास्ति ॥ विक्रमो. - ५/१९ के बाद

५४. मारीच - तपः प्रभावात् प्रत्यक्षं सर्वमेव तत्र भवतः। अभि. - ७/३३ के बाद।

५५. मारीच - गालव ! इदानीमेव विहायसा गत्वा मम वचनातत्रभवते कण्वाय प्रियमावेदय. । अभि. - ७/३४ से पूर्व

५६. रघु. - १३/४१-४४।

५७. रघु. - १३/३८-३९।

उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन के आधार पर निष्कर्षरूप में कहा जा सकता है कि काव्यकार कालिदास का योग-विषयक ज्ञान हमें अत्यधिक बढ़ा हुआ प्रतीत होता है। अपने दोनों ही महाकाव्यों में उन्होंने इस ओर अनेकशः स्पष्टरूप से संकेत भी किए हैं। इसके विपरीत नाटककार कालिदास की नाट्यकृतियों में से किसी में भी हमें इस प्रकार के संकेत उपलब्ध नहीं होते हैं। अतः इस विवेचन से जहाँ एक ओर काव्यकार की योग विषयक दृष्टि स्पष्ट होती है वहीं दूसरी ओर इन दोनों व्यक्तित्वों की भिन्नता की पुष्टि भी स्वतः ही हो जाती है।

प्राचीन भारत में स्त्रियों का सम्पत्ति अधिकार

डॉ० रेखा सिंह^१

किसी राष्ट्र की सभ्यता एवं संस्कृति के निर्माण तथा विकास में नारी का योगदान बहुत महत्वपूर्ण होता है। स्त्री दशा किसी देश की संस्कृति का मानदण्ड मानी जाती है। इस दृष्टि से भारतीय समाज में स्त्रियों को प्रारम्भ से ही गौरव पूर्ण स्थान प्राप्त था और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उनकी महत्वपूर्ण भूमिका थी। यही नहीं धर्मशास्त्रियों ने नारी को परम इष्ट की श्रेणी में रखा है। इस सन्दर्भ में मनु लिखते हैं - जहाँ नारी की उपासना होती है, वहाँ देवता निवास करते हैं।^२ इस सम्बन्ध में अलतेकर का मत अत्यन्त महत्वपूर्ण है कि - विश्व की लगभग सभी प्राचीन सभ्यताओं का अध्ययन करते समय हम जितने प्राचीन काल की ओर जाते हैं तो स्त्री का स्थान समाज में उतना ही महत्वपूर्ण पाते हैं।^३ भारतीय समाज में प्राचीन काल से ही स्त्री को माता, पत्नी और पुत्री इन सभी रूपों में अत्यन्त उच्च एवं सम्माननीय स्थान प्राप्त था। गृहणी गृहमुच्यते^४ अर्थात् गृह का अस्तित्व स्त्री के अस्तित्व व्यवहार में ही निहित माना जाता था। इसके विपरीत स्त्री के अस्तित्व में ही निहित माना जाता था इसके विपरीत स्त्री के प्रति व्यवहार करने वालों के लिये मनु स्वीकार करते हैं कि - 'जिस कुल में नारी दुःखी होती है, अनादर पाकर शाप देती है, वह कुल, परिवार पूर्णतया नष्ट हो जाता है'^५ इसीलिये धर्मशास्त्रकारों ने स्त्री एवं पुरुष को जीवन रूपी गाड़ी के दो पहिये माना है तथा दोनों को समान अधिकार प्रदान किये और स्त्री को पुरुष की अर्धांगिनी माना है।

संसार के सभ्य समाजों के विपरीत भारतीय समाज में स्त्री को न तो कभी सम्पत्ति माना गया और न ही पति को यह अधिकार दिया गया कि वह जब चाहे उसे बेच दे। जब की भारतीय साहित्य में कुछ एक उदाहरण अवश्य मिलते हैं जैसे - ऋग्वेद में उल्लेख है - कि एक जुआरी ने अपनी पत्नी को जुए में दाँव पर लगा दिया।^६ परन्तु ये अपवाद हैं और ऐसे कार्यों की समाज में निन्दा की गयी है। प्रथम तथा द्वितीय शती के स्मृतिकारों ने यह स्पष्टतः उल्लेख किया है कि स्त्रियाँ ओर बच्चे न तो दान में दिये जा सकते हैं और न बेचे जा सकते हैं।^७ क्योंकि समाजिक, सांस्कृतिक और धार्मिक कार्यों और विधियों के सम्पादन एवं संचालन में पत्नी का पति के साथ होना अनिवार्य था। इसीलिये यह बहुत कुछ सम्भव है कि पारिवारिक सम्पत्ति में भी दोनों का समान अधिकार रहा हो। वास्तव में प्राचीन भारत में स्त्री की सामाजिक स्थिति अत्यन्त सम्मानजनक थी। विवाह के समय पति का यह प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी कि वह पत्नी के आर्थिक अधिकारों की रक्षा व सम्मान करेगा। इस प्रकार यह समझा जा सकता है कि प्राचीन भारतीय हिन्दू समाज में स्त्रियों को एक परिधि में सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार प्राप्त थे।

१ प्रवक्ता तदर्थ प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, कन्या गुरुकुल महाविद्यालय गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

२ मनुस्मृति - ३/५६ - यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः

३ ए०एस० अलतेकर - प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति, पृष्ठ - १५५

४ ऋग्वेद - ३/५३/४

५ मनुस्मृति - ३/५७/५८

६ ऋग्वेद - १०/३४

७ बी०एन० लूणिया - प्राचीन भारतीय संस्कृति ७६४

८ बी०एन० लूणिया - प्राचीन भारतीय संस्कृति, पृष्ठ - ७६४

वैदिक युग में स्त्रियों को सम्पत्ति सम्बन्धि अधिकार प्राप्त था अथवा नहीं, यह वैदिक संहिताओं में स्पष्ट नहीं होता, पर ऋग्वेद के एक मंत्र में यह संकेत अवश्य विद्यमान है कि सन्तान न होने पर पति के पश्चात् पत्नी को ही सम्पत्ति की स्वामिनी माना जाता था। एक अन्य मंत्र में अन्योदर्य (अर्थात् अन्य स्त्री के गर्भ से उत्पन्न) सन्तान को दत्तक पुत्र बनाकर उसका सम्पत्ति पर अधिकार होना अच्छा नहीं माना गया है।^१ इससे स्पष्ट होता है कि दत्तक पुत्र की अपेक्षा स्त्री का सम्पत्ति पर अधिकार होना वैदिक युग में अधिक उचित प्रतीत होता है। पर भाई होने की दशा में पुत्री का पैतृक सम्पत्ति में कोई अधिकार नहीं माना जाता था। ऋग्वेद के एक मंत्र के अनुसार 'तान्व' (औरस) पुत्र के होने पर उसकी बहन 'रिक्थ' (पैतृक सम्पत्ति) में कोई भाग प्राप्त नहीं करती थी।^{१०} पर यदि माता-पिता की संतान केवल कन्याएँ ही हों तो वे पैतृक सम्पत्ति की अधिकरिणी मानी जाती थीं। विवाह हो जाने पर भी कन्याएँ धन प्राप्त करने के लिये पितृकुल में आया करती थी।^{११} यदि कोई कन्या विवाह न करे और पितृकुल में ही रहे तो भाई होने की दशा में भी पैतृक सम्पत्ति में उसका हिस्सा माना जाता था। ऋग्वेद के एक मंत्र में प्रार्थना की गई है - हे इन्द्र ! मैं आपसे उसी प्रकार धन की याचना करता हूँ जैसे कि माता-पिता के साथ रहने वाली और (पितृ गृह में ही) बूढ़ी हो जाने वाली कन्या घर से अपना हिस्सा माँगती है।^{१२} इस विवेचना से स्पष्ट होता है कि वैदिक युग में स्त्रियों को सम्पत्ति सम्बन्धि अधिकार प्रदान किये गये थे। चौथी सदी ईसा पूर्व तक यह व्यवस्था भारतीय समाज में प्रचलित थी।^{१३}

दूसरी सदी ईसा पूर्व में आकर स्त्री शिक्षा पर अनेक प्रतिबन्ध लगा दिये गये, जिनके कारण स्त्री का सम्पत्ति अधिकार भी क्षतिग्रस्त हुआ। इस युग में ऐसे अनुदार धर्मशास्त्रकारों के एक वर्ग का आगमन हुआ जिन्होंने स्त्री को सम्पत्ति के अधिकार से रहित कर दिया।

बौधायन के मतानुसार - पत्नी का पति की सम्पत्ति पर कोई अधिकार नहीं होता, क्योंकि वह अबला है और सम्पत्ति की रक्षा नहीं कर सकती है।^{१४} मनु के अनुसार - पति के जीवन काल में पत्नी को किसी भी प्रकार की सम्पत्ति का अधिकार नहीं है। उसे केवल भरण-पोषण प्राप्त करने का अधिकार है। जो कि उसके पतिता एवं दूषिता होने अथवा नैतिक पतन की अवस्था में भी माना जायेगा।^{१५} आपस्तम्ब ने यह व्यवस्था स्थापित की - कि उत्तराधिकारी के अभाव में जब सपिण्ड या गुरु या शिष्य कोई न हो तब पुत्री उत्तराधिकारी हो सकती है। परन्तु उसने पुत्री को उत्तराधिकारी न स्वीकार करके सारी सम्पत्ति धार्मिक कार्य में लगाने के लिये निर्देश दिया है।^{१६} मध्यकालीन टीकाकारों जैसे - जीमूतवाहन, अपरार्क, मित्रमिश्र आदि ने भी पत्नी के सम्पत्ति सम्बन्धि अधिकार को अपना समर्थन प्रदान नहीं किया है।

परन्तु इसके विपरीत दूसरे शास्त्रकारों ने अत्यन्त उदारतापूर्वक पत्नी के सम्पत्ति के अधिकार का मत प्रतिपादित किया है। इस श्रेणी के धर्मशास्त्रकारों में सबसे पहले जैमिनी स्त्रियों के सम्पत्ति सम्बन्धि अधिकार का

१ ऋग्वेद - ७/४/८

१० ऋग्वेद ३/३१/२

११ ऋग्वेद - १/२४/७

१२ ऋग्वेद - २/१७/७

१३ थेरीगाथा - संख्या - ३२७

१४ बौधायन धर्म सूत्र - //

१५ मनुस्मृति - ११/७६, १८/७, १९/८

१६ आपस्तम्बधर्मसूत्र २/६/१४/१६ - २०

समर्थन किया।^{१७} आपस्तम्ब पति की अनुपस्थिति में परिवार के आवश्यक कार्य के लिये धन खर्च करने का अधिकार पत्नी को प्रदान करते हैं।^{१८} याज्ञवल्क्य कुछ नियम विनियम के अन्तर्गत पत्नी को सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार प्रदान करते हैं।^{१९} याज्ञवल्क्य के मतानुसार-पत्नी को पति की सम्पत्ति पर अधिकार दिया गया है। वहाँ लिखा है कि पुत्र के अभाव में सम्पत्ति का उत्तराधिकार इस क्रम से होगा - पत्नी, कन्या या कन्याएँ, माता-पिता, भाई, भतीजे सगोत्र व्यक्ति, बन्धु-बान्धव, शिष्य और सहपाठी, पुत्र के अभाव में पुरुष की सम्पत्ति पर सर्वप्रथम अधिकार उसकी पत्नी का होगा और और उसके बाद कन्याओं का, यह एक ऐसा विचार है जो मनु, आपस्तम्ब आदि के विधानों से सर्वथा भिन्न है। अन्य शास्त्रकारों के द्वारा भी इस मत को समर्थन प्रदान किया गया है।^{२०}, किन्तु अलतेकर के मतानुसार समाज ने शायद ही स्त्री के इस अधिकार को स्वीकार किया हो। क्योंकि दूसरे धर्मशास्त्रकारों ने इसको अपनी सहमति प्रदान नहीं की।^{२१} विज्ञानेश्वर के मतानुसार पत्नी की इच्छा से नहीं बल्कि पति की इच्छा से सम्पत्ति की अधिकारी होती है। विश्वरूप के मतानुसार पति-पत्नी में कोई विभाजन नहीं होता, पति यदि चाहे तो स्नेहवश पत्नी को एक भाग दे सकता है।^{२२} इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि पति के जीवन काल में पत्नी को सम्पत्ति विभाजन या अलग से सम्पत्ति रखने का अधिकार प्राप्त नहीं था। इतना अधिकार अवश्य था कि पति की अनुपस्थिति में वह परिवार के आवश्यक कार्य हेतु धन खर्च कर सकती थी।

विधवा का स्थान स्त्रियों में विशेष महत्त्व का है। क्योंकि इसकी स्थिति परिवार में सबसे कोमल होती है। परन्तु प्राचीन भारतीय समाज में प्रारम्भ में विधवा स्त्रियों का सम्पत्ति पर किसी भी प्रकार का कोई अधिकार नहीं था। संहिता और ब्राह्मणग्रन्थों में पति की मृत्यु पर विधवा के अधिकार को स्वीकार नहीं किया गया है।^{२३} बौधायन ने उत्तराधिकारियों की जो एक लम्बी सूची तैयार की है, उसमें विधवा पत्नी का उत्तराधिकारियों के रूप में कोई उल्लेख नहीं किया।^{२४} कौटिल्य के मतानुसार जिस सम्पत्ति का कोई उत्तराधिकार न हो, उसे राजा ले, किन्तु स्त्री के जीवन निर्वाह एवं श्राद्ध कार्यों के लिये उसे धन अवश्य दे।^{२५} इससे स्पष्ट हो जाता है कि पुत्रहीन विधवा स्त्री अपने पति की सम्पत्ति की अधिकारी नहीं होती थी। मनु ने स्पष्ट लिखा है कि पिता की सम्पत्ति के उत्तराधिकारी उसके पुत्र होते हैं। लेकिन यदि पुत्र न हो तो उसके उत्तराधिकारी पिता या भाई होते हैं, यदि ये भी न हो तो सपिण्डों में सबसे निकट सम्बन्धि उस धन का भागी होता है, और इसके भी अभाव में क्रमशः सजातीय, आचार्य अथवा शिष्य उस धन के भगीदार होते हैं।^{२६} इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व तक विधवा स्त्री को पति की सम्पत्ति की उत्तराधिकारी नहीं माना जाता था। अलतेकर के मतानुसार विधवाओं को उत्तराधिकार से वंचित रखने का कारण सम्भवतः यह था कि उस समय समाज में विधवाओं के पुर्नविवाह तथा नियोग की प्रथा प्रचलित थी। जिस कारण विधवाओं की संख्या कम थी। लेकिन ईसा की पहली

१७ हरिदत्त वेदालंकार - हिन्दू परिवार मीमांसा - पृष्ठ - ४४७

१८ आपस्तम्बधर्मसूत्र - २/६/१४/१६ - २०

१९ याज्ञवल्क्यस्मृति - २/११५, २/१४८, १/७६

२० सत्यकेतु विद्यालंकार - प्राचीन भारत का धार्मिक, सामाजिक एवं आर्थिक जीवन - पृष्ठ - २१८

२१ ए०एस० अलतेकर - दि पोजिशन ऑफ विमेन इन हिन्दू सिविलाइजेशन पृ० - २१६

२२ विश्वरूप, याज्ञवल्क्यस्मृति पर टीका, २/११९

२३ तैत्तिरीय संहिता - ६/५/८/२/ शतपथ ब्राह्मण - ४/४/२/१३

२४ बौधायन धर्मसूत्र - १/५/११३-१४

२५ कौटिल्य - अर्थशास्त्र - ३/३५ Sanskrit Academy, Jammu. Digitized by S3 Foundation USA

२६ मनुस्मृति - १/१८५, १८७

सहस्राब्दी में इन दोनों प्रथाओं का लोप हो जाने के कारण समाज में विधवाओं की संख्या बढ़ने लगी। जिसके कारण समाजिक दृष्टि से यह समझा गया कि परिवार में स्त्री को आर्थिक अधिकार प्रदान किये जायें। इसीलिये परवर्ती शास्त्रकारों ने पुत्रहीन विधवा को पति की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी घोषित किया, जिससे उसकी दशा में कुछ सुधार हुआ।^{२७}

इस प्रकार से ऐसे विचारकों का वर्ग विकसित हुआ जिसने विधवा नारी के समान अधिकार का प्रतिपादन तथा उसकी आर्थिक स्थिति का आकलन किया। विधवा नारी का जीवन कठोरता और निर्ममता पर आधृत था, इसलिये उदार विचारकों ने उसके सम्पत्ति विषयक भाग को स्वीकार किया और तत्सम्बन्धी तर्क प्रस्तुत किया। इस श्रेणी में याज्ञवल्क्य पहले स्मृतिकार थे जिन्होंने स्पष्ट रूप से पुत्रहीन विधवा को मृत पति की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी घोषित किया।

याज्ञवल्क्य के मतानुसार पुत्रहीन व्यक्ति की मृत्यु के पश्चात् उसके उसके अधिकारी क्रमशः पत्नी, कन्या, दौहित्र, माता-पिता, भाई, भतीजे, बन्धु तथा शिष्य होते थे।^{२८} बृहस्पति ने भी विधवा के सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार का प्रबल समर्थन किया है, लेकिन साथ ही यह भी कहा है यदि पत्नी पति के प्रति ईमानदार है, तभी वह उस सम्पत्ति का उपयोग कर सकती है।^{२९} कात्यायन द्वारा भी बृहस्पति के विचारों को सहमति प्रदान की है लेकिन साथ ही साथ यह भी कहा है कि पत्नी इस प्रकार की सम्पत्ति को दान, विक्रय व गिरवी रखने की अधिकारी नहीं है, विज्ञानेश्वर ने भी विधवा स्त्री के सम्पत्ति सम्बन्धित अधिकार को स्वीकृत किया है, लेकिन साथ ही साथ यह भी कहा है कि यदि विधवा ब्रह्मचारिणी बनी रहे।^{३०} परन्तु जीमूतवाहन का कहना है कि केवल पुत्रहीन विधवा ही अपने मृत पति की सम्पत्ति में अधिकार पा सकती है।^{३१} विधवा स्त्री के सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार के विषय में महाभारत में कहा गया है कि विधवा स्त्रियों को उत्तराधिकार में प्राप्त सम्पत्ति पर केवल सीमित अधिकार ही प्राप्त है, इससे अभिप्राय है कि वह उसे बेच नहीं सकती, परन्तु केवल उपयोग मात्र कर सकती है। परन्तु स्मृतिचन्द्रिका के मतानुसार माता अपने पुत्रों के साथ मृत पति की सम्पत्ति की अधिकारिणी होती है।^{३२}

इस विवेचना के आधार पर यह मत प्रतिपादित किया जा सकता है कि विधवा स्त्रियों को अपने मृत पति की सम्पत्ति में कोई भी अधिकार प्राप्त नहीं था। परन्तु आगे चलकर कुछ ऐसे शास्त्रकारों का वर्ग विकसित हुआ जिनके द्वारा विधवा स्त्री के सम्पत्ति के अधिकार को समर्थन प्रदान किया गया। इस प्रकार विधवा स्त्री अपने मृत पति की सम्पत्ति का उपयोग अपने जीवनकाल में कर सकती थी, परन्तु उस स्त्री की मृत्यु के पश्चात् यह सम्पत्ति उसके पति के अन्य उत्तराधिकारियों को प्राप्त हो जाती थी। विधवा स्त्री इस सम्पत्ति का दान तथा विक्रय नहीं कर सकती थी, परन्तु धार्मिक कार्यों तथा पति को लाभ पहुँचाने वाले पुण्य कार्यों के लिये खर्च कर सकती थी।

२७ ए०एस० अलतेकर - पूर्वोक्त, पृ० १७४, १७५, १७९, १८३

२८ याज्ञवल्क्यस्मृति - १/१३५ - १३६

२९ बृहस्पतिस्मृति - २५/४७-४९

३० मिताक्षरा - २/१३५

३१ दायभाग - ११/१, २, ७

३२ स्मृति चन्द्रिका - २/१६७-७८. JK Sanskrit Academy, Jammu. Digitized by S3 Foundation USA

पुत्रियों को भी शुरू में सम्पत्ति सम्बन्धी कोई भी अधिकार प्राप्त नहीं था। ऋग्वेद के अनुसार पिता की सम्पत्ति की अधिकारी वही कन्या होती थी, जिसके कोई भाई नहीं होता था।^{३३} सम्भवतः यह मत स्वीकार किया जाता था कि इस अवस्था में (अर्थात् वह कन्या जिसके कोई भाई नहीं है।) पुत्री का पिता अपने दामाद से, यह समझौता कर लेता था कि वह पुत्री के पहले पुत्र को वंश चलाने के लिये देगा। परन्तु यदि भ्रातृयुक्त कन्या अविवाहित रहती थी, तो वह अपने पिता की सम्पत्ति से कुछ भाग की अधिकारिणी मानी जाती थी।^{३४}

साधारणतः पुत्री को पिता की सम्पत्ति में कोई हिस्सा नहीं मिलता था।^{३५} वशिष्ठ गौतम और मनु ने भी उत्तराधिकारी के रूप में पुत्री का कहीं नाम ही नहीं लिया है।^{३६} आपस्तम्ब के मतानुसार उत्तराधिकारी के अभाव में ही अर्थात् जब सपिण्ड, गुरु या शिष्य कोई न हो, उस दशा में ही पुत्री पिता की सम्पत्ति की अधिकारिणी हो सकती थी। दूसरी ओर यह भी मत प्रतिपादित किया कि पुत्र के न होने पर पिता को अपनी सारी सम्पत्ति धर्म कार्य में लगा देनी चाहिये, परन्तु पुत्री को सम्पत्ति नहीं देनी चाहिए।^{३७} इन व्यवस्थाकारों ने सम्पत्ति में पुत्री के अधिकार को स्वीकार नहीं किया है। प्रो० हरिदत्त वेदालंकार के मतानुसार पुत्री को पिता की सम्पत्ति से इसलिये वंचित रखा गया क्योंकि पुत्री पिण्डदान नहीं कर सकती थी।^{३८}

परन्तु इसके विपरीत दूसरे शास्त्रकारों ने अत्यन्त उदारतापूर्वक पुत्री के उत्तराधिकारी होने का मत प्रतिपादित किया है। महाभारत में उसके इस स्वत्व को पूरा समक्ष स्वीकार किया गया है और यह कहा गया है कि जिस कन्या के कोई भाई न हो तो उसे पूरी सम्पत्ति नहीं तो कम से कम आधी सम्पत्ति अवश्य ही मिलनी चाहिये।^{३९} कोटिल्य ने भी पुत्री के प्रति सहानुभूति दिखाते हुये अभ्रातृ कन्या को उत्तराधिकारिणी घोषित किया है, चाहे उसे कम ही हिस्सा क्यों न मिले।^{४०} परन्तु याज्ञवल्क्य के द्वारा दृढतापूर्वक पुत्री के हित में अपने विचारों को प्रकट किया, साथ ही यह निर्देश भी दिया है कि पुत्र और विधवा के अभाव में पुत्री ही पिता की समस्त उत्तराधिकारिणी होती है।^{४१} बृहस्पति और नारद ने मत प्रस्तुत किया कि क्या पुत्री अपने पिता के पुत्र के समान सन्तान नहीं। फिर पुत्र के न होने पर उस के उत्तराधिकार को कैसे अस्वीकार किया जा सकता है।^{४२} इस आधार पर कात्यायन जैसे व्यवस्थाकारों ने भी कन्या के सम्पत्ति अधिकार से सम्बन्धित अपने विचारों में विकास किया तथा पुत्र के अभाव में पुत्री के उत्तराधिकारी होने का मत प्रतिपादित किया।^{४३}

कन्या के सम्पत्ति सम्बन्धि अधिकार पर यह प्रश्न विचार करने योग्य है कि क्या उन कन्याओं को पिता की सम्पत्ति में अधिकार मिलना चाहिये जो भ्रातृयुक्त थी? वैदिक साहित्य में कन्या के सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार का कोई भी वर्णन नहीं मिलता है। लेकिन यदि कन्या अविवाहित रहती थी तो पिता की सम्पत्ति के कुछ भाग को

३३ ऋग्वेद - १/१२४/७

३४ वही - २/१७/७

३५ ऋग्वेद - ३/३१/२

३६ वसिष्ठ - १५/७, गौतम - २८/२१, मनु - १/१८५

३७ आपस्तम्बधर्म सूत्र - १/१४/२४

३८ हरिदत्त वेदालंकार - पूर्वोक्त, पृ० ४२० - २१

३९ महाभारत - १३/८०/११, १३/८८/२२

४० अर्थशास्त्र - ३/५

४१ याज्ञवल्क्यस्मृति - २/१०५

४२ बृहस्पतिस्मृति - १८/३५, नारदस्मृति - १३/३०

४३ कात्यायन, याज्ञवल्क्यस्मृति - २/१३५-१३६

प्राप्त करने की अधिकारी मानी जाती थी। आगे चलकर शास्त्रकारों के द्वारा पुत्री के सम्पत्ति के अधिकार का समर्थन किया गया है। यास्क ने ऋग्वेद के एक श्लोक के आधार पर कन्याओं को भाइयों के साथ पैतृक सम्पत्ति का अधिकारी माना है।^{४४}

नारद एवं विष्णु ने कन्या के हिस्से का समर्थन तो किया है, किन्तु कन्या द्वारा अपने हिस्से को ले जाने का समर्थन प्रदान नहीं किया है। नारद का विचार है कि कन्या उतना ही हिस्सा प्राप्त करे जितना उसके विवाह तक व्यय होता है।^{४५} पिता की मृत्यु हो जाने पर कन्या का विवाह करना पुत्र का परम कर्तव्य था तथा अपने हिस्से का एक चौथाई विवाह कार्य में व्यय कर सकता था।^{४६} यदि बहन के विवाह में किसी भी प्रकार की कोई कठिनाई थी तो भाई का कर्तव्य था कि वह अपनी सम्पत्ति में से विवाह का समस्त खर्च करे।^{४७} इसके साथ ही यह निर्देश किया गया था कि अगर परिवार की सम्पत्ति अधिक है तथा विवाह में कम खर्च हुआ तो शेष सम्पत्ति को कन्या अपने साथ नहीं ले जा सकती थी।^{४८} इस प्रकार से स्पष्ट होता है कि कन्या को सम्पत्ति का अधिकारी तो माना गया है, पर उस समय तक जब तक कि उसका विवाह न हो जाये। प्रो० हरिदत्त वेदालंकार के मतानुसार यह भारतीय समाज की स्त्रियों का दुर्भाग्य ही था कि शास्त्रकारों का समर्थन मिलने के पश्चात् भी भारतीय समाज ने कन्या को यह अधिकार प्रदान नहीं किया। पिता की मृत्यु के पश्चात् भाई का प्रमुख कर्तव्य बहन का विवाह करना था। जिसका परिणाम यह हुआ की कन्या का पिता की पैतृक सम्पत्ति में स्वतन्त्र भाग नहीं रहा और यह समझा जाने लगा कि कन्या को विवाह के समय वैवाहिक धन ओर दहेज के रूप में पैतृक सम्पत्ति में पर्याप्त हिस्सा मिल जाता है। इसलिये उसे अलग से सम्पत्ति में अधिकार देने की आवश्यकता नहीं है।^{४९}

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचना के आधार पर कहा जा सकता है कि प्राचीन भारतीय समाज में स्त्रियों के सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार को जानबूझ कर नहीं नकारा गया बल्कि इस उपेक्षा के भी दो कारण माने गये थे - एक उस समय की सामाजिक परिस्थितियाँ, दूसरे स्त्री धन की व्यवस्था। प्राचीन सामाजिक व्यवस्थानुसार संयुक्त परिवार का प्रचलन था। इस व्यवस्था के अनुसार स्त्रियों के अधिकार की ओर वह भी सम्पत्ति सम्बन्धी इसका प्रश्न ही पैदा नहीं होता था। सम्भवतः इसीलिये भारतीय, धर्मशास्त्रकारों द्वारा नारी के इस अधिकार का उल्लेख करना आवश्यक नहीं समझा गया। प्राचीन भारतीय समाज में स्त्रियों के लिये स्त्री धन की व्यवस्था थी। स्त्रियों को विवाह एवं अन्य अवसरों पर माता पिता, भाई, पति व अन्य सम्बन्धियों से काफी मात्रा में धन, वस्त्र, आभूषण आदि के रूप में प्राप्त हो जाता था। जिस पर स्त्री का पूर्ण अधिकार होता था। इस धन को प्रयोग में लाने के लिये उन्हें अपने पति या अन्य सम्बन्धियों से कोई सहमति नहीं लेनी पड़ती थी। बल्कि वे इच्छानुसार इस धन का उपयोग करने के लिये एकदम स्वतन्त्र थीं। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि प्राचीन भारतीय सामाजिक व्यवस्थानुसार स्त्रियों को जो स्त्रीधन सम्बन्धि अधिकार प्रदान किया गया था, इसी कारण धर्मशास्त्रकारों द्वारा स्त्रियाँ को पुरुषों की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी बनाने की कोई आवश्यकता हो नहीं समझी, क्योंकि स्त्रीधन को ही स्त्री का

४४ ए०एस० अलतेकर पूर्वोक्त, पृ० - २८६-८७

४५ नारदस्मृति - १३/२७

४६ याज्ञवल्क्यस्मृति - २/१२४

४७ नारदस्मृति १३/३४

४८ वीरमित्रोदय - पृ० - ५४२

४९ हरिदत्त वेदालंकार - पूर्वोक्त - ४३४

अपना व्यक्तिगत धन समझा गया। इस धन के स्वतन्त्र रूप से प्रयोग करने के अधिकार को ही सम्पत्ति सम्बन्धि अधिकार समझ लिया गया।

प्रमुख स्मृतियों में नारी के आर्थिक अधिकारों का मूल्यांकन

डॉ० ऋतु शुक्ला^१

श्रुतियों का आचार-व्यवहार से सम्बन्धित ज्ञान जिसे ऋषियों ने स्मरण के आधार पर संकलित करके प्रजा के कल्याणार्थ दिया स्मृति संज्ञा से अभिहित किया गया है। स्मृतियों में धर्म-तत्त्व, आश्रम-व्यवस्था, वर्ण-व्यवस्था, दण्ड-विधान, प्रायश्चित्त-विधान इत्यादि विषयों के अतिरिक्त नारी एवं पुरुष दोनों के लिये पृथक्-पृथक् अधिकारों तथा विधेय एवं त्याज्य कर्तव्यों का विस्तृत निरूपण है। चूंकि किसी भी सभ्यता एवं संस्कृति की उपलब्धियों एवं श्रेष्ठता का मूल्यांकन करने का सर्वोत्तम आधार उसमें स्त्रियों की दशा का अध्ययन करना है, अतः अपने युग के विधिग्रन्थ कही जाने वाली स्मृतियाँ जिनका परिगणन असंहिताबद्ध हिन्दू विधि के मूल स्रोत के रूप में होता है, उनके अन्तर्गत नारी के आर्थिक पक्ष का विवेचन सुसंगत प्रतीत होता है, क्योंकि आर्थिक सबलता एवं स्वावलम्बनता मानव के लिये अत्यावश्यक है।

उत्तराधिकार में प्राप्य पैतृक संपत्ति के लिये प्रायः 'दाय'^२ अथवा 'रिक्थ'^३ शब्द का प्रयोग मिलता है। अतः पैतृक धन के अधिकारी को 'दायाद', दायाधिकारी अथवा रिक्थाधिकारी कहते हैं। स्त्री के आर्थिक अधिकारों का स्मृतियों के सन्दर्भ में अध्ययन करने पर एकपक्षीय दृष्टिकोण अथवा स्मृतिकारों का पूर्वाग्रह से युक्त दृष्टिकोण दिखाई पड़ता है। स्त्री के संपत्ति अधिकारों को मूल रूप से स्त्री सम्पदा अर्थात् पुत्री, पत्नी अथवा विधवा के रूप में पैतृक संपत्ति में अंश अथवा उत्तराधिकार अथवा विभाजन के पश्चात् प्राप्त संपत्ति तथा स्त्रीधन अर्थात् वह धन जो पुत्री विवाह के अवसर पर अपने पितृजनों से प्रीतिवश प्राप्त करती है - इन दो भागों में विभाजित करके किया जा सकता है। नारी के सम्पत्ति एवं उत्तराधिकार विषयक विवेचन मुख्य रूप से तीन चरणों में किया जा सकता है:- १. पुत्री के रूप में सम्पत्ति-अधिकार २. पत्नी के रूप में सम्पत्ति-अधिकार तथा ३. विधवा स्त्री का सम्पत्ति-अधिकार

पुत्री के रूप में नारी के दायाधिकार के विषय में स्मृतिकार मनु स्पष्ट नहीं हैं। एक स्थान पर मनु पुत्रहीन मृतक पुरुष के धन का भागी उसके पिता अथवा भाई को मानते हैं^४, किन्तु अन्यत्र वे कहते हैं कि पुत्र पिता की आत्मा है तथा पुत्री पुत्र के समान है, अतः आत्मस्वरूप उस पुत्री के वर्तमान रहते पिता की सम्पत्ति का दायाद दूसरा कैसे हो सकता है?^५ मनु के इस कथन से कन्या को दायाद स्वीकार करने का आभास होता है, परन्तु मेधातिथि, कुल्लूक तथा विश्वरूप आदि टीकाकारों ने इस श्लोक में प्रयुक्त पुत्री का तात्पर्य 'पुत्रिका'^६ से लिया है, जिसकी पुष्टि इस श्लोक के पूर्ववर्ती श्लोकों द्वारा होती है^७ जिसमें 'पुत्रिका' से सम्बन्धित व्यवस्था का स्पष्टतः

१ प्रवक्ता संस्कृत, राजकीय महाविद्यालय, तालबेहट, ललितपुर उ०प्र०

२ ददातु वीरं शतदायमुक्थ्यम्। ऋ० २.३२.४

३ न जामयो तान्वो रिक्थमारैकू। ऋ० ३.३१.२

४ न भ्रातरो न पितरः रिक्थहराः पितुः। पिता हरेदपुत्रस्य रिक्थं भ्रातर एव च॥ मनु० ९.१८५

५ यथैवात्मा तथा पुत्रः पुत्रेण दुहिता समा। तस्यामात्मनि तिष्ठन्त्यां कथमन्यो धनं हरेत्॥ मनु० ९.१३०

६ 'पुत्रिका' पुत्रहीन पिता की पुत्री जिसके पुत्र को औरस पुत्र की भाँति अपने नाना की धार्मिक तथा लौकिक कृत्यों को करने तथा सम्पत्ति में अधिकार प्राप्त करने के योग्य माना जाता है।

७ मनु० ९.१२७, १२९

प्रतिपादन किया गया है। मनु भाइयों में विभाजित संपत्ति में कन्या के लिए अंश की बात करते हुए भाइयों को अपने अपने भाग में से चतुर्थ अंश अविवाहिता कन्या को देने का निर्देश करते हैं।^{१६} अन्यत्र मनु मातृक रिक्थ में भाइयों के साथ बहनों को अंशधर मानते हैं, परन्तु जहाँ माता का रिक्थाधिकार ही संदेहास्पद हो वहाँ पुत्री के दाय्याधिकार का प्रश्न ही नहीं उठता। अतः मनु ने पैतृक संपत्ति में पुत्री को कतिपय सुविधाएँ एवम् अंश की बात की है, परन्तु उसे दाय का अधिकार प्रदान नहीं किया। परवर्ती स्मृतिकारों में याज्ञवल्क्य अश्वत्थामा की स्थिति में कन्या को पिता की संपत्ति का उत्तराधिकारी मानते हैं। उनके अनुसार व्यक्ति की मृत्यु के पश्चात् पुत्राभाव में उसकी पत्नी एवं पुत्रियाँ उस धन की अधिकारी होंगी।^{१७} वे माता के धन पर प्रथम अधिकार पुत्री को प्रदान करते हैं, तत्पश्चात् पुत्र को।^{१८} नारद पुत्र के अभाव में पुत्री को दाय्या मानते हैं क्योंकि उनके अनुसार पुत्री पुत्र की भाँति होती है तथा पुत्र एवं कन्या दोनों पिता की ही सन्तानें हैं।^{१९} अन्यत्र उनका कथन है कि जिस प्रकार ज्येष्ठ भ्राता का ज्येष्ठांश तथा कनिष्ठ भ्राता का निम्नांश होता है, उसी प्रकार अविवाहिता कन्या का भी उसमें भाग होता है।^{२०} विष्णुस्मृति में पुत्रहीन व्यक्ति की संपत्ति की उत्तराधिकारिणी उसकी पत्नी को माना गया है तथा पत्नी के अभाव में उसकी पुत्री को।^{२१} आचार्य बृहस्पति पिता की मृत्यु के पश्चात् माता का भी अभाव होने पर पुत्री को रिक्थाधिकारी घोषित करते हैं।^{२२} उनके अनुसार कन्या पुत्र के समान पिता के शरीर से उत्पन्न होती है, अतः उसके रहते पिता की संपत्ति अन्य व्यक्ति कैसे पा सकता है?^{२३} आचार्य कात्यायन भी इस विषय में बृहस्पति से सहमति रखते हैं।^{२४}

स्मृतिकारों के उपर्युक्त विचारों से यह प्रमाणित होता है कि सामान्यतः सभी ने पुत्र के अभाव में ही पुत्री को उत्तराधिकार तथा संपत्ति में कुछ अंश देने की बात की है। डॉ० ए०एस०अल्तेकर का भी कथन है कि धर्मशास्त्रों के रचनाकार पुत्र के रहते पुत्री को संपत्ति के अधिकार देने के पक्षधर नहीं थे।^{२५}

अतः स्मृतिकारों ने सैद्धान्तिक रूप से कन्या को संपत्ति का अधिकारी माना है, व्यवहारिक रूप से नहीं। पुत्री केवल भरण-पोषण एवम् आजीविका हेतु पिता की संपत्ति से भाई अथवा पिता की स्वेच्छानुसार ही कुछ अंश पा सकती है, अन्यथा नहीं।

यदि विवाहिता नारी अर्थात् पत्नी के रूप में नारी के सम्पत्ति अधिकारों पर दृष्टिपात करें तो इससे सम्बन्धित आलेख अत्यल्प ही प्राप्त होते हैं, जो पत्नी का संपत्ति में उल्लेखनीय अधिकार न होने का पोषक है।

८ मनु० ९.११८

९ पत्नी दुहितरश्चैव पितरौ भ्रातरस्तथा। तत्सुता गोत्रजा बन्धुशिष्यसन्नह्यचारिणः॥ एषामभावे पूर्वस्य धनभागुत्तरोत्तरः। स्वर्यातस्य ह्यपुत्रस्य सर्ववर्णेष्वयं विधिः॥ याज्ञ० २.१३५-१३६

१० याज्ञ० २.११७

११ पुत्राभावे तु दुहितातुल्यसन्तानकारणात्। पुत्रश्च दुहिता चोभौ पितुः सन्तानकारकौ॥ नारदस्मृति - ४.१३.५०

१२ नारदस्मृति - ४.१३.१९

१३ अपुत्रं धनं पत्यभिगामि। तदभावे दुहितृगामि॥ विष्णुस्मृति १७.४-५

१४ अपुत्रस्याय कुलजा पत्नी दुहितरोऽपि वा। बृह०स्मृति, व्यवहारकाण्ड, २६.८७

१५ भर्तुधनहरी पत्नी तां विना दुहिता स्मृता। अंगादंगात्सम्भवति पुत्रवदुहिता नृणाम् तस्मात्पितृधनं त्वन्यः कथं गृहीयात् मानवः। बृह०स्मृति २६.१२६, १२७

१६ कात्यायन ७१४ Narayan Chandra Bandyopadhyaya - Katyayana Mata Sangraha, P. ७१

१७ The general opinion of Hindu Society was that the sister should get no share in patrimony, if they had brothers - A.S. Altekar - The Position of Women in Hindu Civilization' p.241

स्मृतिकार मनु का स्पष्ट कथन है कि पत्नी की अपनी कोई संपत्ति नहीं होती। स्त्री, पुत्र तथा दास - ये तीनों निर्धन होते हैं। इनके द्वारा उपार्जित धन उनका होता है, जिसके वे (स्त्री, पुत्र या दास) होते हैं।^{१८} बाद में पुत्रों को पिता की संपत्ति में दायंश अवश्य मिल जाता है, परन्तु पत्नी को किसी भी प्रकार का अंश प्राप्त नहीं होता है। अतः मनु पत्नी को पैतृक संपत्ति में अधिकारशून्य मानते हैं। याज्ञवल्क्य कुछ सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण के साथ यह व्यवस्था देते हैं कि यदि अपनी इच्छा से पिता सभी पुत्रों को समान अंश देता है, तो उसे उन पत्नियों को भी समान भाग देना चाहिए, जिन्हें अपने पति अथवा श्रमुर से स्त्रीधन नहीं मिला है।^{१९} याज्ञवल्क्य की यह सशर्त व्यवस्था अप्रत्यक्ष रूप से पत्नी के भरण-पोषण के लिए किया गया प्रावधान मात्र है न कि दाय्याधिकार। आचार्य बृहस्पति संपत्ति से पत्नी को अंश देने के पक्षधर हैं।^{२०} कात्यायन भी मनु की व्यवस्था का अनुकरण करते हुए पत्नी को पैतृक संपत्तिविहीन मानते हैं तथा यह भी कहते हैं कि पत्नी शिल्पादि निम्न कार्यों द्वारा जो धनोपार्जन करती है अथवा जो धन प्रीतिवश प्राप्त करती है, वह उसके पति का होता है।^{२१} इन उपर्युक्त दृष्टान्तों के आलोक में यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि पत्नी के रूप में भी नारी के सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार नगण्य थे।

स्मृतियों में जहाँ पुत्री एवं सधवा स्त्री की आर्थिक दशा संतोषजनक नहीं दिखाई दी, वहाँ विधवा स्त्री के सम्पत्ति विषयक अधिकारों की वस्तुस्थिति का विवेचन एक विचारणीय प्रश्न के रूप में उपस्थित होता है। इस सन्दर्भ में मनुस्मृति के अध्ययनानन्तर यह स्पष्ट होता है कि मनु विधवा स्त्री को पति की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी नहीं मानते हैं। मनु मृतक पिता के दाय्याधिकारियों का क्रम क्रमशः औरस पुत्र, क्षेत्रज पुत्र, इनके अभाव में पिता अथवा सहोदर भाई अथवा सपिण्ड तत्पश्चात् समानोदक (सजातीय) तत्पश्चात् आचार्य तथा शिष्य^{२२} - ये निर्धारित करते हैं, विधवा का दूर तक कोई नामोल्लेख प्राप्त नहीं होता। परवर्ती स्मृतिकारों में आचार्य याज्ञवल्क्य को पुत्रहीन व्यक्ति की मृत्यु के पश्चात् उसकी सभी प्रकार की संपत्ति में विधवा को सर्वप्रथम स्थान प्रदान करने का श्रेय जाता है।^{२३} अन्यत्र भी याज्ञवल्क्य का कथन है कि पिता की मृत्यु के पश्चात् विभाजन के समय स्त्रीधन से रहित माता भी पुत्रों के बराबर अंश ग्रहण करे।^{२४} आचार्य विष्णु भी इस मत का समर्थन एवम् अनुमोदन करते हैं।^{२५} आचार्य बृहस्पति पुत्रहीन मृतक व्यक्ति की सम्पत्ति का प्रथम दाय्याद उसकी विधवा पत्नी को घोषित करते हैं।^{२६} नारद प्राचीन व्यवस्था का अनुकरण करते हुए विधवा को दाय्याद नहीं मानते, मात्र पतिव्रता होने पर उसे

१८ भार्या पुत्रश्च दासश्च त्रय एवाधनाः स्मृताः। यत्ते समधिगच्छन्ति यस्य ते तस्य तद्धनम्॥ मनु० ८.४१६

१९ यदि कुर्यात्समानंशान् पत्यः कार्याः समांशिकाः। न दत्तं स्त्रीधनं यासां भर्ता वा श्वशुरेण वा॥ याज्ञ०स्मृति २.११५

२० एकां स्त्रीं कारयेत् कर्म यथांशेन गृहे गृहे। बह्व्यः समांशतो देया दासानामप्ययं विधिः। बृह०स्मृति २६.२

२१ प्राप्तं शिल्पैस्तु सदा यद्वित्तं प्रित्या चैव यदन्यतः। भर्तुः स्वाम्यं सदा तत्र शेषन्तु स्त्रीधनं स्मृतं। कात्यायन० ७७४, उद्धृत।

Narayan Chandra Bandyopadhyaya - Katyayana Mata Sangraha, P. 77

२२ न भ्रातरौ न पितरः पुत्रा रिक्थहराः पितुः। पिता हरेदपुत्रस्य रिक्थं भ्रातर एव च॥ मनु० ९.१८५ अनन्तरः

सपिण्डाद्यस्तस्य तस्य धनं भवेत्। अत ऊर्ध्वं सकुल्यः स्यादाचार्यः शिष्य एव वा॥ मनु० ९.१८७

२३ पत्नी दुहितरश्चैव पितरौ भ्रातरस्तथा। तत्सुता गोत्रजा बंधुशिष्यसब्रह्मचारिणः॥ एषामभावे पूर्वस्य धनभागुत्तरोत्तरः।

स्वर्यातस्य ह्यपुत्रस्य सर्ववर्णेष्वयं विधिः॥ याज्ञ०स्मृति २.१३५-१३६

२४ याज्ञ०स्मृति-२.१२३

२५ अपुत्रस्य धनं पत्यभिगामि। तदाभावे दुहितृगामि। विष्णुस्मृति, अ० १७

२६ यस्य नोपरता भार्या देहार्थं तस्य जीवति। जीवत्येधशरीरेर्यं कथमन्यः समाप्नुयात्। सकुल्यैर्विद्यमानस्तु

पितृभ्रातृसनाभिभिः। असुतस्य प्रमीतस्य पत्नी तद्भागहारिणी। बृह०स्मृति, व्यवहारकाण्ड, २६.९३-९४

सम्पत्ति में कुछ अंश देने का समर्थन करते हैं।^{२७} कात्यायन अव्यभिचारिणी पत्नी को पैतृक धन में अधिकार देते हैं।^{२८} तथापि वे यह प्रतिबन्ध भी लगाते हैं कि विधवा द्वारा उस सम्पत्ति का मृत्युपर्यन्त उपयोग के पश्चात् वह सम्पत्ति पति के उत्तराधिकारियों को प्राप्त हो।^{२९} इससे विधवा के साम्प्रतिक स्वत्व का अभाव संकेतित है। स्मृतिकारों के अतिरिक्त उनके टीकाकार विश्वरूप तथा मेधातिथि भी विधवा के सम्पत्ति अधिकारों को मान्यता नहीं देते। वहीं दूसरी ओर विज्ञानेश्वर निःसन्तान, विभक्त व असंयुक्त पति की संपूर्ण सम्पत्ति सदाचारिणी विधवा को देने के पक्षधर हैं।^{३०} दायभाग इसमें कुछ और विस्तार करते हुए विभक्त-अविभक्त, संयुक्त-असंयुक्त दोनों ही स्थितियों में पुत्रहीन मृतक की विधवा को दायद मानते हैं।

पूर्ववर्ती स्मृतिकारों ने विधवा को सम्पत्ति में उत्तराधिकार प्रदान नहीं किया। ऐसा सम्भवतः इसलिए हुआ होगा क्योंकि पहले संयुक्त परिवार प्रणाली थी जिसमें संयुक्त सम्पत्ति की अखण्डता को सुनिश्चित रखने की भावना थी।^{३१} दूसरा तद्युगीन समाज में प्रचलित पुनर्विवाह तथा नियोग प्रथा^{३२} के कारण आश्रयहीन विधवाओं की संख्या कम रही होगी। परन्तु धर्मशास्त्रकारों में इन प्रथाओं की मान्यता तथा औचित्य के विषय में प्रारम्भ से ही मतभेद था। आचार्य मनु ने पुनर्विवाह तथा नियोग दोनों को मान्यता प्रदान नहीं की^{३३} तथा इसे स्त्री के लिए वर्जित माना है। अतः इन सभी न्यूनताओं के कारण विधवाओं को संरक्षण प्रदान करने के उद्देश्य से स्मृतिकारों ने विधवा स्त्री को उसके पति की सम्पत्ति में कुछ शर्तों के साथ अर्थात् सीमित अधिकार प्रदान किए। जैसे आचार्य बृहस्पति अचल सम्पत्ति में विधवा को उत्तराधिकार प्रदान नहीं करते हैं।^{३४} कात्यायन विधवा के सम्पत्ति उपभोग को उसके जीवनपर्यन्त ही सीमित कर उसके द्वारा सम्पत्ति का दान, विक्रय आदि में स्वेच्छानुसार विनियोग का निषेध करते हैं।^{३५} मिताक्षरा सम्प्रदाय संयुक्त परिवार में विधवा को उत्तराधिकारी नहीं मानते। पति के जीवित रहते सम्पत्ति के विभाजन होने की स्थिति में ही वह उत्तराधिकारिणी हो सकती है, अन्यथा नहीं। अतः स्मृतिकारों द्वारा विधवा के सम्पत्ति अधिकारों पर आरोपित अनेक प्रतिबन्धों तथा शर्तों के कारण व्यवहार में विधवा के आर्थिक अधिकार बहुत सन्तोषजनक नहीं दिखाई पड़ते।

नारी के आर्थिक अधिकारों के विश्लेषण के क्रम में 'स्त्रीधन' की भी गणना होती है। वह सम्पत्ति अथवा धन जो स्त्री को विवाह के अवसर पर अपने मातृकुल अथवा पतिकुल से प्राप्त होता है, स्त्रीधन कहलाता है। स्त्रीधन पर स्त्री का पूर्ण अधिकार होता है, परन्तु स्मृतिकारों द्वारा इसमें अनावश्यक हस्तक्षेप कर तथा स्त्री द्वारा

२७ नारदस्मृति - ४.१३.१२

२८ पत्नी पत्युर्धनहरी या स्यादव्यभिचारिणी। कात्यायन० ७१४

२९ अपुत्रा शयनं भर्तुः पालयन्ती गुरौ स्थिता। भुञ्जीतामरणात् क्षान्ता दायदा उर्ध्वमाप्नुयुः। दायभाग० ११.१.५६

३० तस्याद्रपुत्रस्य स्वर्ग्यतस्य विभक्तस्यासंयुक्तो धनं परिणीता स्त्री संयता सकलमेव गृह्णातीति स्थितम्। याज्ञ०स्मृति २.१३५-१३६ पर मिताक्षरा

३१ A.S. Altekar - The Position of Women in Hindu Civilization. P. 268

३२ नियोग वह प्रथा थी जिसके अनुसार किसी पुत्रहीन स्त्री अथवा विधवा के पुत्र उत्पन्न करने के लिए किसी पुरुष देव अथवा सपिण्ड को नियुक्त किया जाता था।

३३ न द्वितीयं साधवीनां कश्चिद् भर्तुपदिश्यते। मनु० ५.१६२ अन्यस्मिन्नहि नियुञ्जाना धर्मं हन्युः सनातनम्। मनु० ९.६४

३४ यद्विभक्ते धनं किञ्चिदाध्यादि विविधं स्मृतम्। तज्ज्ञाया स्यावरं मुक्त्वा लभेत मृतभर्तृका।। वृत्तस्थापि कृतेऽप्यंशे न स्त्री स्थावरमर्हति। बृह०स्मृति, व्यवहारकाण्ड, पृ० ६६७

३५ मृते भर्तरी भर्तृश लभेत कुलपालिका। यावज्जीवं हि न स्वायं दानाधमनं विक्रये। स्मृतिविवेक, व्यवहारकाण्ड पृ० २७७

इसके यथेच्छ विनियोग को प्रतिबन्धित कर स्त्रीधन पर स्त्री के स्वामित्व को सीमित कर दिया गया है। स्वामित्व की दृष्टि से स्त्रीधन दो प्रकार का होता है।

सौदायिक - वह सम्पत्ति जिस पर स्त्री का पूर्ण प्रभुत्व होता है।

असौदायिक - वह सम्पत्ति जो पति द्वारा नियन्त्रित होती है, मात्र उपभोग स्त्री द्वारा किया जाता है।

सौदायिक स्त्रीधन वह है जो स्त्री को अपने पिता, बन्धु, पति इत्यादि से प्राप्त होता है। व्यास का कथन है कि विवाह के समय और विवाह के बाद पिता व पति के घर से कन्या को प्राप्त धन सौदायिक कहा जाता है।^{३६} मनु ने सात प्रकार के, याज्ञवल्क्य ने नौ, नारद कुछ परिवर्तन के साथ छः तथा कात्यायन ने छः प्रकार के स्त्रीधन की गणना की है। मनु ने किसी भी प्रकार के स्त्रीधन पर स्त्री को पति से स्वतन्त्र अधिकार नहीं दिया है।^{३७} वे स्त्रियों को उसके उपभोग हेतु स्वीकृति प्रदान करते हैं, उसके व्यय आदि पर नहीं। इसके अतिरिक्त वे पत्नी द्वारा पति की आज्ञा के बिना अंलकारादि के लिए धन का संग्रह करने का भी निषेध करते हैं।^{३८} नारद एक ओर अचल सम्पत्ति के अतिरिक्त धन पर स्त्री की प्रभुता की घोषणा करते हैं।^{३९} वहीं दूसरी ओर वे स्त्रियों को उसके विनियोग से वंचित कर उसके उपभोगपर्यन्त ही अधिकार देते हैं। कात्यायन सौदायिक स्त्रीधन पर स्त्री का पूर्ण स्वामित्व स्वीकार कर उसे उसके यथेच्छ विनियोग हेतु भी अधिकृत करते हैं।^{४०} आचार्य याज्ञवल्क्य^{४१} तथा कात्यायन^{४२} कुछ विशिष्ट परिस्थितियों यथा दुर्भिक्ष, व्याधि, धर्मकार्य या बन्दी बनाए जाने पर पति द्वारा स्त्री के सौदायिक स्त्रीधन को व्यय करने का अधिकार प्रदान करते हैं। यद्यपि सामान्य परिस्थितियों में वे इसका निषेध करते हैं।^{४३}

असौदायिक स्त्रीधन वह है जो स्त्री शिल्पादि श्रम द्वारा अर्जित करती है अथवा माता-पिता, पति आदि सम्बन्धियों से इतर व्यक्तियों से प्राप्त करती है। इस धन पर उसके पति का पूर्ण अधिकार होता है^{४४} जिसे वह पत्याश्रय काल में पति की सम्पत्ति के बिना व्यय नहीं कर सकती।^{४५} स्त्रीधन के उत्तराधिकारियों के क्रम पर दृष्टिपात करने पर भी स्मृतिकारों की स्त्री के आर्थिक अधिकारों के प्रति वंचनापूर्ण दृष्टि ही परिलक्षित होती है। एक

३६ यत्कन्यया विवाहे च विवाहात्परतश्च यत्। पितृभर्तृगृहात् प्राप्तं धनं सौदायिकम् स्मृतम्॥ व्यास०स्मृतिचन्द्रिका व्यवहारकाण्ड, पृ० ६५५

३७ मनु० ८.४१६

३८ मनु० ९.१९९

३९ भर्ता प्रीतेन यदत्तं स्त्रियै तस्मिन् मृतेऽपि तत्। सा यथाकाममश्नीयाद्द्वयाद्वा स्थावरादृते॥ नारदस्मृति ४.१.२८

४० सौदायिकं धनं प्राप्य स्त्रीणां स्वातन्त्र्यमभिव्यते। यस्मात्तदानृशंस्यार्थं तैर्दत्तमुपजीवनम् सौदायिके सदा स्त्रीणां स्वातन्त्र्यं परिकीर्तितम्। विक्रये चैव दाने च यथेष्टं स्थावरेष्वपि। भर्तृदायं मृते पत्यौ विन्यसेत् स्त्रीयथेष्टतः। विद्यमाने तु संरक्षेत क्षपयेत्तकुलेऽन्यथा॥७५६, ७५७, ७६५, Narayan Chandra Bandyopadhyaya - Katyayana Mata Sangraha, P. 75-76

४१ दुर्भिक्षे धर्मकार्ये च व्याधौ संप्रतिरोधके। गृहीतं स्त्रीधनं भर्ता न स्त्रियै दातुर्महति॥ याज्ञ०स्मृति २.१४७

४२ कात्यायन० ९.४

४३ जीवन्तीनां तु तासां ये तद्धरेयुः स्वबान्धवाः। ताञ्छिष्याद्यौरदण्डेन धार्मिकः पृथिवीपतिः॥ मनु० ८.२९

४४ पितृमातृभर्तृकुलव्यतिरिक्तात् यत्क्षेत्रम् शिल्पेन व यदर्जितम्। तत्र भर्तुः स्वाम्यम् अनापद्यपि भर्ता गृहीतुर्महति तेन स्त्रिया अपि धनं न स्त्रीधनं अस्वातन्त्र्यात्। दायभाग - ४.१.२० पृ० ७६

४५ आर०के०अग्रवाल - हिन्दू विधि - पृ० ३५७

और प्रायः सभी स्मृतिकारों ने स्त्रीधन पर उसकी पुत्री का सर्वप्रथम अधिकार माना है, ^{४६} वहीं दूसरी ओर इस धन पर वे पुत्री के साथ पुत्र के अधिकार को भी मान्यता देते हैं। मनु का कथन है कि विवाह के बाद पतिकुल में या पितृकुल में प्राप्त हुए स्त्री के धन को पाने का अधिकार उसके पुत्रों या पुत्रियों का होता है। ^{४७} एक अन्य स्थान पर वे माता की मृत्यु के पश्चात् सब सहोदर भाई तथा अविवाहित बहनों को उस धन को परस्पर बाँट लेने हेतु निर्दिष्ट करते हैं। ^{४८} आचार्य बृहस्पति के अनुसार स्त्रीधन की उत्तराधिकारी उसकी सन्तान होती है। ^{४९}

अतः धर्मशास्त्रकारों ने स्त्रीधन पर भी जिस पर स्त्री का पूर्ण स्वामित्व होना चाहिए, अनेक प्रतिबन्ध लगाकर तथा पुत्री के साथ पुत्र को भी उत्तराधिकारी घोषित कर पुरुष हस्तक्षेप को सुनिश्चित किया।

इसके अतिरिक्त यदि स्त्री के भरण-पोषण की व्यवस्था पर दृष्टिपात करें तो प्रायः सभी व्यवस्थाकारों ने स्त्री के इस अधिकार को मान्यता दी है। स्मृतिकारों ने प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्तव्य निर्धारित किया है कि वे अपनी पत्नी तथा अवयस्क सन्तानों का भरण-पोषण करें। भरण-पोषण किए जाने के कारण ही पत्नी 'भार्या' कहलाती थी। मनु के अनुसार सैंकड़ों अपकृत्य करके भी वृद्ध माता-पिता, पतिव्रता स्त्री एवं शिशु का भरण-पोषण करना चाहिए। ^{५०} तथा ऐसा न करने वाले को राजा दण्डित करें। ^{५१} आचार्य याज्ञवल्क्य सदाचारी पुत्रहीन पत्नी का भरण पोषण करने हेतु निर्देश देते हैं ^{५२} तथा भरण-पोषण हेतु अपेक्षित अंश भी बताते हैं। आचार्य नारद भी समान मत अभिव्यक्त करते हैं। वे पुत्रहीन स्त्री के पति की मृत्यु के अनन्तर पतिपक्ष पर उसकी आत्मरक्षा तथा भरण-पोषण का दायित्व सौंपते हैं। ^{५३} आचार्य कात्यायन के अनुसार पति की मृत्यु के अनन्तर संयुक्त परिवार वाली पत्नी को भोजन वस्त्रादि द्वारा भरण-पोषण मिलना चाहिए। ^{५४} इस प्रकार स्मृतिकारों के मध्य स्त्री के भरण-पोषण के सम्बन्ध में पर्याप्त उदार दृष्टिकोण एवं सजगता परिलक्षित होती है।

अतः समग्ररूप से प्रमुख स्मृतिकारों के नारी के आर्थिक अधिकारों के प्रति मतानुशीलन से यह स्पष्ट होता है कि व्यवस्थाकार नारी को सम्पत्ति में उत्तराधिकार देने के पक्षधर नहीं थे। स्मृतिकालीन समाज में संयुक्त परिवार व्यवस्था थी तथा उन्होंने विभक्त परिवार तथा अनपत्य दशा में ही स्त्री को सम्पत्ति में अंश देने का समर्थन किया है। उनका यह मन्तव्य नारी के आर्थिक अधिकारों के प्रति उदासीनता का पोषक है। आर्थिक दृष्टि से उसकी स्थिति पराधीना तथा आश्रिता की थी। इस प्रकार स्मृतिकालीन नारी आर्थिक क्षेत्र में अधिकार एवं निर्णयक्षमता से वंचित दिखाई पड़ती है।

४६ मातुस्तु यौतकं यत् स्यात् कुमारी भाग एव सः। मनु० ९.३१ स्त्रीधनं दुहितृणाम् प्रत्तानामप्रतिष्ठितानां च। गौ० ३.१०.२२
बौधा० धर्म० २.२.३.४४

४७ अन्वाधेयं च यद्दत्तं पत्या प्रीतेन चैव यत्। पत्यौ जीवति वृत्तायाः प्रजायास्तद्धनं भवेत्॥ मनु० ९.१९५

४८ जनन्यां संस्थितायां तु समं सर्वे सहोदराः। भजे समातृकं रिक्थं भगिन्यश्च सनामयः॥ मनु० ९.१९२

४९ बृह०स्मृति व्यवहारकाण्ड २६.३१

५० वृद्धौ च माता पितरौ साध्वी भार्या शिशुः सुतः। अप्यकार्यशतं कृत्वा भर्तव्या मनुरब्रवीत्॥ मनु० ११.१० १

५१ न माता न पिता न स्त्री न पुत्रस्त्यागमर्हति। त्यजन्नपतितानेतान् राजा दण्डयः शतानि षट्॥ मनु० ८.३८९

५२ अपुत्रा योषितश्चैषां भर्तव्या साधुवृत्तयः। याज्ञ० २.१४२

५३ मृते भर्तर्यपुत्रायाः पतिपक्षः प्रभुः स्त्रियाः। विनियोगात्मरक्षासु भरणे च सः ईश्वरः॥ नारदस्मृति ४.१२.२८

५४ कात्यायन ९२२, उद्धृत डॉ० पी० वी० काणे - धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-२, पृ० ९४७ - ९४८

संस्कृत वाङ्मय में राष्ट्रिय भावना

डॉ० मोहर सिंह^१

संस्कृतवाङ्मय में राष्ट्रियभावना विषयक विचारोल्लेख से पूर्व राष्ट्र शब्द के अर्थ एवं उसकी व्युत्पत्तिविषयक अवधारणा को उद्घाटित करना अत्यावश्यक है। राष्ट्र शब्द की उत्पत्ति दीप्त्यर्थक राज् धातु से घृण प्रत्यय करके हुई है।^२ वाचस्पत्यम् नामक ग्रन्थ में राष्ट्र शब्द का अर्थ जनपद किया गया है।^३ शब्दकल्पदुम में राष्ट्र शब्द का अर्थ विषय किया गया है और इसकी पुष्टि हेतु मनुस्मृति का एक श्लोक उद्धृत किया गया है, जो इस प्रकार है-

अशासंस्तस्करान् यस्तु बलिं गृह्णाति पार्थिवः।

तस्य प्रक्षुभ्यते राष्ट्रं स्वर्गाच्च परिहीयते।^४

प्रस्तुत श्लोक का भाव यह है कि जो राजा तस्करों को नियन्त्रित नहीं करता है, और प्रजा से राज्यशुल्क वसूल करता है, उसका राष्ट्र बुरी तरह क्षुभित हो जाता है और वह राजा स्वयं भी स्वर्ग से वञ्चित हो जाता है। शब्दकल्पदुमकार ने यहीं अपने द्वारा निर्धारित राष्ट्र के पर्यायवाची विषय का अर्थ जनपद लिखकर वाचस्पत्यकारकृत अर्थ का समर्थन किया है।^५ इंग्लिश-संस्कृत डिक्शनरी में शब्द का अर्थ संस्कृतभाषा में जातिः, लोकः, जनपदः, प्रजा, वर्णः, जनता, देशः, विषयः, राष्ट्रम्, देशजनः, देशलोकः, देशवासिनः, राष्ट्रवासिनः तथा विशेषदेश-जनता किया गया है।^६ राष्ट्र शब्द के अर्थज्ञानानन्तर राष्ट्रियभावना के अर्थ को जानना अपेक्षित है-

राष्ट्रिय भावना का अर्थ-

लोगों के मन में राष्ट्र की सभ्यता, संस्कृति, धर्म इत्यादि के प्रति जो गरिमा, महिमा एवं राष्ट्रिय चेतना सम्बन्धित नैसर्गिक स्वाभिमान हुआ करता है तथा जब लोग अपने स्वार्थ की सङ्कीर्ण सीमाओं का परित्याग कर अपने राष्ट्रियसम्मान की रक्षा हेतु एक अभेद्य एकता को अपना लेते हैं तो कहना होगा कि राष्ट्र के लिए आत्मोत्सर्ग के इस रोमाञ्चकारी वातावरण की सर्जना के पीछे जिस प्रबल भावना की प्रेरणा हुआ करती है, वही राष्ट्रियभावना कहलाती है। क्योंकि यह एक ऐसी प्रकृष्ट भावना है जिससे व्याप्त होकर लोग अपने व्यक्तिगत हितों को तिलाञ्जलि देकर अपने देश, अपनी मातृभूमि और अपने राष्ट्र की प्रतिष्ठा की रक्षा में मर मिटते हैं। इसी राष्ट्रियभावना से प्रेरित होकर हमारे अनेक राष्ट्रभक्तों जैसे कि भगतसिंह, सुभाषचन्द्र बोस, चन्द्रशेखर आजाद, रामप्रसाद बिस्मिल, खुदीराम, बालगङ्गाधर तिलक, महात्मा गाँधी, दयानन्द सरस्वती आदि ने स्वतन्त्रता स-ामरूपी अग्निहोत्र में स्वयं को आहुत कर डाला था। आज भी अनेक वीरपुरुषों को अपने जीवन, परिवार, सुख-संपत्ति, ऐश्वर्य आदि की

१ असि० प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार उत्तराखण्ड।

२ सर्वधातुभ्यः घृन्, सिद्धान्तकौमुदी, उणादि प्रकरण-४.१५८

३ वाचस्पत्यम्, भाग षष्ठ, पृ०-४८०७

४ मनु०-९.२५४

५ शब्दकल्पदुम-चतुर्थ काण्ड, पृ०-१५८

६ इंग्लिश संस्कृत डिक्शनरी, पृ०-५२६

परवाह न करते हुए राष्ट्र की मर्यादा, सम्मान, गौरव, स्वाभिमान एवं उत्कर्ष हेतु अपने प्राणों को आहूत करते हुए देखा जाता है।

भारतीय परम्परा में समस्त विद्याओं का अजस्र स्रोत वेदों को माना गया है। वेदोऽखिलो धर्ममूलम्^७ प्रशस्ति इसी भावना की परिपोषक है। डॉ० बलदेव उपाध्याय ने भी वेद को ज्ञान का मानसरोवर स्वीकार किया है, उनके अनुसार वेदों से निःसृत ज्ञान की विमल धाराएँ विभिन्न मार्गों से प्रवाहित होती हुई भारत के ही नहीं अपितु समस्त विश्व के प्रदेशों को उर्वर बनाती हैं।^८ अतः राष्ट्रियभावना जैसी उत्कृष्ट, प्राञ्जल एवं उदात्तभावना भी निस्सन्देह वैदिक ऋषियों की वाणी में सर्वत्र व्याप्त रही है। जिसका उल्लेख इस प्रकार से है-

राष्ट्र के साथ मातृ-पुत्रभाव-

वैदिक ऋषियों ने जनमानस के हृदय में राष्ट्रप्रेम की अदम्य भावना को भरने के लिए अनेक स्थलों पर मातृभूमि की मुक्तकण्ठ प्रशंसा की है, अपनी जन्मभूमि को माता मानने की भावना हमें वेदों में ही उपलब्ध होती है।^९ अथर्ववेद के बारहवें काण्ड का प्रथम सूक्त जो भूमिसूक्त के नाम से जाना जाता है, वह आज भी राष्ट्रप्रेम की अक्षुण्ण धारा को प्रवाहित करने में समर्थ है। सूक्त के अन्तर्गत माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः^{१०} के द्वारा मातृभूमि की कल्पना ऋषियों ने की है जिससे स्पष्ट हो जाता है कि हम जिस धरती पर जन्म लेते हैं उसे मातृवत् मानकर उसकी रक्षा एवं सेवा में रत रहने की भावना का प्राबल्य देखने को मिलता है। वेदों में राष्ट्रभक्ति की शिक्षा निश्चय ही राष्ट्रियभावनामूलक है क्योंकि वैदिक ऋषियों को यह तथ्य ज्ञात था कि प्रत्येक पुत्र अपनी माता की रक्षा अवश्य करता है। अतः प्रत्येक व्यक्ति अपनी मातृभूमि को माता के समान समझे तथा उसकी माता के समान ही रक्षा करे। वैदिक ऋषियों ने मातृभूमि की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए उसे सुखकारिणी (मयोभुवः),^{११} कल्याणकारी, निवासप्रदायिनी, स्योना, अनुक्षरा, निवेशनी, शिवा, सुषदा, ऊर्जस्वती पयस्वती कहकर उसके प्रति आत्मीयता की भावना को प्रकट किया है। जैसा कि अधोलिखित मन्त्र में द्रष्टव्य है-

विश्वस्व^१ मातरमोषधीनां ध्रुवां भूमिं पृथिवीं धर्मणा धृताम्।

शिवां स्योनामनु चरेम विश्वहा॥^{१२}

भाषार्थ:- (विश्वस्वम्) सब को उत्पन्न करने वाली, (ओषधीनाम्) ओषधियों (अन्न सोमलता आदि) की (मातरम्) माता, (ध्रुवाम्) दृढ़, (भूमिम्) आश्रयस्थान (धर्मणा) धर्म (धरने योग्य स्वभाव वा कर्म) से, (धृताम्) धारण की गयी, (शिवाम्) कल्याणी, (स्योनाम्) मनभावनी, (पृथिवीम् अनु) पृथिवी के पीछे, (विश्वहा) अनेक प्रकार, (चरेम) हम चलें।

जनसामान्य के हृदय में मातृभूमि के प्रति मातृभावना को उद्भूत करके वैदिक ऋषियों ने सभी सभ्य जनमानस में भ्रातृभावना के भावों को भरने की कोशिश की है ताकि वे मिल-जुलकर अथवा सङ्गठित होकर

७ मनुस्मृति-२/७

८ डॉ० बलदेव उपाध्याय-वैदिक साहित्य और संस्कृति, पृ०-८

९ तत्रो वातो मयोभु वातु भेषजं तन्माता पृथिवी तत् पिता द्यौः। तद्ग्रावाणः सोमसुतो मयोभुवस्तदश्विना शृणुतं धिष्यता युवम्॥ ऋग्वेद-१०.८९.४

१० अथर्ववेद-१२.१.१२

११ ऋग्वेद-५.५.८

१२ अथर्ववेद-१२.१.१७

निवास करें तथा मातृभूमि की रक्षा करने के लिए उद्यत एवं तत्पर रहें। अथर्ववेदीय भूमिसूक्त में मातृभूमि के विषय में कहा गया है कि हमारे राष्ट्र में तेजस्विता एवं बल का आधान करे-

यार्णवेऽर्धं सलिलमग्र आसीद् यां मायाभिरन्वचरन् मनीषिणः।

यस्या हृदयं परमे व्योमन्सुत्येनावृतममृतं पृथिव्याः। सा नो भूमिस्त्विषिं बलं राष्ट्रे दधातून्मे॥^{१३}

राष्ट्रोत्कर्ष हेतु सङ्गठन एवं सामञ्जस्य की भावना का विकास-

वेदों के अनेक स्थलों पर सङ्गठन की उपयोगिता को व्याख्यापित किया गया है। ऋग्वेद के एक मन्त्र में कहा गया है कि हम साथ-साथ चलें, साथ-साथ बोलें तथा सबके मन समान विषयों के लिए समान हों, जैसा कि अधोलिखित मन्त्र में निर्दिष्ट है-

समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सुह चित्तमेषाम्।

समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि॥^{१४}

इससे आगे कहा गया है कि तुम्हारे सङ्कल्प तथा अभिप्राय समान हों, तुम्हारे हृदय समान हों, तुम्हारे मन समान हों जिससे तुम्हारा कार्य उत्तम रीति से चल सके।^{१५} अथर्ववेद में भी विचारों की समानता का निर्देश प्राप्त होता है।^{१६} समान विचार, समान कर्म तथा समान लक्ष्य ये तीनों राष्ट्र एकता के लिए महत्त्वपूर्ण एवं वाञ्छनीय तत्त्व हैं। इनके अभाव में राष्ट्र का पतन निश्चित है।

देशहित के लिए आपसी विवादों के परित्याग की महत्ता-

देशहित के लिए वैदिक मन्त्रों में विविध भाषा-विवाद तथा धर्म-विवाद से मुक्त होने का निर्देश प्राप्त होता है। अथर्ववेदीय पृथिवीसूक्त की ऋचा- जन् बिभ्रती बहुधा विवाचसु नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम्। सहस्र धारा इर्विणस्य मे दुहां ध्रुवेवं धेनुरनपस्फुरन्ती॥^{१७} में वर्णित है कि पृथिवी पर नाना भाषाएँ बोलने वाले लोग हैं साथ ही साथ विविध धर्मों को मानने वाले लोग भी हैं। यहाँ पर सन्देश दिया गया है कि जिस प्रकार भूमि भाषा तथा धर्म के आधार पर कोई भेद नहीं करती उसी प्रकार इस भूमि पर निवास करने वाले मनुष्य आपस में भाषा-भेद एवं धर्म-भेद के आधार पर कोई भेद न करें। राष्ट्र की उन्नति के लिए अत्यावश्यक है कि समाज के सभी वर्गों में सौमनस्य हो। वे ऊँच-नीच के आधार पर आपस में भेदभाव न करें ताकि सुदृढ़ समाज एवं सङ्गठन का निर्माण हो सके। ऋग्वेद में कहा गया है कि भेदभावरहित तथा भ्रातृभावयुक्त राष्ट्र ही सौभाग्यशाली होता है।^{१८} वेदों में अनेक स्थलों पर सद्भाव एवं सौमनस्य के लिए प्रार्थनाएँ की गयी हैं।^{१९}

१३ अथर्व०-१२.१.८

१४ ऋग्वेद०-१०.१९१.३

१५ समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः। समानमस्तु वो मनो यथा वुः सुसहासति॥ ऋग्वेद०-१०.१९१.४

१६ सं वो मनोसि संव्रता समाकूतीर्नमामसि। अमुं ये विव्रता स्थन् तान् वुः सं नमयामसि॥ अथर्व०-३.८.५

१७ अथर्व०-१२.१.४५

१८ ऋग्वेद०-५.६०.५

१९ संजानं नः स्वेभिः संजानमरणेभिः। संजानमश्निना युवमिहास्मासु नि यच्छतम्। सं जानामहे मनसा सं चिकित्वा मा युष्महि मनसा दैव्येन। मा घोषा उत् स्थुर्बहुले विनिर्हते मेघुः पतद्दिन्द्रस्याहुन्यागते॥ अथर्व०-७.५२.१-२

राष्ट्रवीरों में स्वराज्यभावना, जागरूकता एवं तेजस्विता का बाहुल्य-

ऋग्वेद के एक मन्त्र में स्वराज्य की महत्ता को प्रतिपादित करते हुए कहा गया है कि चाहे कोई देवता हो या कोई बलवान् हो, वह स्वराज्य की भावना को दबा नहीं सकता है-यस्य ते नू चिदादिशं न मिनन्ति स्वराज्यम्। न देवो नाधिगुर्जना॥^{१०} एक अन्य स्थल पर कहा गया है कि प्रिय स्वराज्य को कोई नष्ट नहीं कर सकता।^{११} यजुर्वेद में भी देवों से महान् गौरव एवं महान् जनराज्य हेतु प्रार्थना की गयी है- इमं देवा असपत्नं सुवध्यं महते क्षत्राय। महते-ज्येष्ठाय महते जनराज्याय इन्द्रस्येन्द्रियाय॥^{१२} हमें राष्ट्रहित के लिए शत्रुसेना का सदा संहार करना चाहिए। इसके लिए इन्द्र को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया गया है कि उसने शत्रुओं की सौ सेनाओं को अकेले ही नष्ट कर दिया था।^{१३} साथ ही साथ वेदों में सुदृढ़ राष्ट्रनायक की भी कल्पना की गयी है क्योंकि इसके अभाव में सम्मानपूर्वक जीना असम्भव है। ऋग्वेद के एक मन्त्र में कहा गया है कि राष्ट्र की सुरक्षा के लिए सदा जागरूक रहें और अग्रगण्य रहें-शूरग्रामः सर्ववीरः सहावोज्जेता पवस्व सनिता धनानि। तिग्मायुधः क्षिप्रधन्वा समस्वषाळहः साहवान् पृतनासु शत्रून्॥^{१४} राष्ट्र के लिए हम सदा बलिदान होने को उद्यत रहें।^{१५} भूमिसूक्त के प्रथम मन्त्र में राष्ट्रेन्नृति के मूलतत्त्वों का विवेचन किया गया है- सत्यं बृहदतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति। सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्युरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु॥^{१६} जिस देश के नागरिक ऋत-सत्य-बल-दीक्षा-तप-ब्रह्म-यज्ञ इन सात गुणों से युक्त हों वह राष्ट्र निस्सन्देह उन्नति की ओर अग्रसर रहेगा। यजुर्वेदवर्णित राष्ट्रीय प्रार्थना में कहा गया है कि हे परमात्मन्! हमारे राष्ट्र में ब्राह्मण ब्रह्मवर्चस्व से युक्त हों, क्षत्रिय शूर, धनुर्धर एवं शत्रुनाशक हों। गायें बहुक्षीरा हों, बैल अधिक भारवहन करने में समर्थ हों। रथी सैनिक विजयी हों, यजमान का युवा पुत्र वीर एवं सभ्य हो। औषधियाँ फलवती होकर पकें। सर्वत्र हमारे लिए योगक्षेम हो- स्वराजस्थ, जनभृतस्थ, विश्वभृतस्थ राष्ट्रदा राष्ट्रम् में दत्ता।^{१७}

देशद्रोहियों एवं जनशोषकों के दमन हेतु कठोर दण्ड-व्यवस्था-

देशद्रोही देश की एकता, अखण्डता, शान्ति एवं समृद्धि में सबसे बड़े बाधक हैं। हमारे समाज एवं देश में कोई भी देशद्रोही न रह पाये, कुछ ऐसे ही निर्देश वेदों में प्राप्त हैं। यथा-

अस्मे वोऽस्तित्वन्द्रियमस्मे नृम्णमुत वक्रतुरस्मे व्वार्धांश्चिसि सन्तु वः। नमो मात्रे पृथिव्यै नमो मात्रे पृथिव्याऽइयते राडुयन्तासि यमनो दध्रुवोसि धरुणा।^{१८}, यः ओजिष्ठस्तमा भर पवमान श्रवाय्यम्। यः पञ्च चर्षणीरभि रयि येन वनामहे॥^{१९} अर्थात् देशद्रोह एक अक्षम्य अपराध है। देशद्रोही को आश्रय देना भी राष्ट्रद्रोह के रूप में सर्वथा निन्दनीय है। राष्ट्र के विकास के बाधक के रूप में जनशोषकों की भूमिका भी अग्रगण्य है। वैदिक

१० ऋग्वेद. १३

११ कच्चन प्रियम्, न मिनन्ति स्वराज्यम्- ऋग्वेद. ८२. २

१२ यजुर्वेद- १. ४०

१३ ऋग्वेद- १०. १०३

१४ ऋग्वेद- १. १०. ३

१५ वयं राष्ट्रे जागृयाम पुरोहितः स्वाहा। यजुर्वेद- १. २३

१६ अथर्ववेद- १२. १. १

१७ यजुर्वेद- १०. ४

१८ यजुर्वेद- १. २२

१९ ऋग्वेद- १. १०१. ९

ऋषियों के अनुसार जनशोषकों को राष्ट्रहित एवं राष्ट्रसुरक्षा के लिए नष्ट कर देना चाहिए। यथा-मायाभिरिन्द्र मायिनं त्वं शुष्णमवातिरः। विदुष्टे तस्य मेधिरास्तेषां श्रवांस्युत्तिर॥^{३०} मन्त्र इस पहलू का समर्थन करता है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वेदों में राष्ट्रप्रेम, राष्ट्रभूमि आदि के प्रति निष्ठा व्यक्त की गयी है। जहाँ एक ओर स्वराज्य की भावना की अभिव्यक्ति होती है वहीं दूसरी ओर राष्ट्र के शत्रुओं के समूल नाश करने की आवश्यकता पर भी बल दिया गया है। वेदों में राष्ट्रहित के लिए भाषा-विवाद, धर्म-विवाद, ऊँच-नीच आदि जैसी विविध निकृष्ट भावनाओं से रहित होकर भ्रातृभाव का सन्देश दिया गया है। इसके अतिरिक्त ऋचाओं में राष्ट्रमङ्गल के साथ-साथ विश्वबन्धुत्व की भावना का भी निर्देशन प्राप्त होता है।

लौकिक संस्कृत-साहित्य में वर्णित राष्ट्रियभावना विषयक अवधारणा-

केवल वैदिक साहित्य में ही नहीं प्रत्युत वेदोत्तर संस्कृत-साहित्य में भी राष्ट्रियभावनाविषयक अवधारणा द्रष्टव्य है। संस्कृत-साहित्यकारों की कृत्तियों में असीमित साहित्यिक सौन्दर्य के साथ-साथ भारतीय संस्कृति, सभ्यता, जीवनदर्शन, राष्ट्रियभावना आदि समाजोपयोगी सभी तत्त्वों पर प्रकाश डाला गया है। संस्कृत-साहित्य में कुछ ऐसे महान् साहित्यकार हुए हैं जिनकी रचनाओं में राष्ट्रियभावना का सुरीला स्वर सुनाई देता है। जिसका वर्णन इस प्रकार से है-

आदिकाव्य रामायण में वर्णित राष्ट्रीयभावना-

रामायण आदिकवि वाल्मीकि द्वारा २४ हजार श्लोकों का एक विशालकाय ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में अनेक स्थलों पर राष्ट्रियभावना विषयक विचारधारा प्राप्त होती है। सम्राट् श्रीराम के शासनकाल में प्रजाजनो की स्थिति के वर्णन के माध्यम से यह मनोभाव प्रकट कर दिया है कि राज्य की प्रजा तन-मन-धन आदि से समृद्ध होनी चाहिए। प्रजा में सभी धर्मात्मा, सुशिक्षित, संयमी, सत्यवादी, सम्पत्तिवान्, राजा के हितैषी हो, वे कदापि ईर्ष्यालु, मूर्ख, रोगी, अवैदिक, व्यथित एवं राजद्रोही न हों-

तस्मिन् पुरवरे हृष्टा धर्मात्मानो बहुश्रुताः।

नरास्तुष्टा धनैः स्वैः स्वैरलुब्धाः सत्यवादिनः॥

कामी वा न कदर्यो वा नृशंसः पुरुषः क्वचित्।

द्रष्टुं शक्यमयोध्यायां नाविद्वान् न च नास्तिकः॥

सर्वे नराश्च नार्यश्च धर्मशीलाः सुसंयताः।

मुदिताः शीलवृत्ताभ्यां महर्षय इवामलाः॥^{३१}

इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ में बताया गया है कि राजा कैसा होना चाहिए, उसमें कौन-कौन से गुण होने चाहिए, राज्य की सुरक्षा व्यवस्था कैसी होनी चाहिए, अमात्यमण्डल एवं मन्त्रिमण्डल कैसा होना चाहिए, सेना कैसी होनी चाहिए, राजा के द्वारा अपनी सेना व सैन्याधिकारियों को कैसे सन्तुष्ट रखना चाहिए आदि विषयों का वर्णन प्राप्तव्य है। राजा को शिक्षा, वाणिज्य एवं कृषि का समुचित एवं उत्तरोत्तर विकास करते रहना चाहिए। राष्ट्रियधन का समुचित प्रयोग करना चाहिए। राष्ट्र की समुचित प्रकार से सुरक्षा एवं देखभाल करनी चाहिए। यथा-

कोशलो नाम मुदितः स्फीतो जनपदो महान्।

निविष्टः सरयूतीरे प्रभूतधनधान्यवान्॥

अयोध्या नाम नगरी तत्रासील्लोकविश्रुता।

मनुना मानवेन्द्रेण या पुरी निर्मिता स्वयम्॥^{३२}

उपरोक्त विवेचन रामायणोपवर्णित राष्ट्रियभावना एवं राष्ट्रभक्ति का प्रबल परिचायक है।

महाभारत में वर्णित राष्ट्रियभावना-

इस ग्रन्थ में भी पर्याप्त मात्रा में राष्ट्रियभावना विषयक विचारोल्लेख प्राप्त होता है। इस ग्रन्थ के प्रमुख पात्रों में अपने देश एवं अपनी प्रजा की रक्षा करने के भाव अनुभूतिगोचर होते हैं। राष्ट्र की रक्षा हेतु राजसत्ता की उपादेयता पर भी पर्याप्त प्रकाश मिलता है। राष्ट्र की सुख-समृद्धि हेतु सतत जागरूक राजा की प्रशंसा की गयी है, तथा राष्ट्र को आदर्श तथा अनुकरणीय राष्ट्र बनाने के प्रयत्नों को सराहना प्राप्त होती है।^{३३} राजा को राष्ट्र की तथा राष्ट्र को राजा की सुरक्षा करने का सन्देश भी इस ग्रन्थ में प्राप्त होता है।^{३४} महाभारत में देश के विभिन्न भागों में अवस्थित तीर्थों के प्रति आस्था रखने एवं उनके दर्शन करने की प्रेरणा देकर निश्चय ही अपने देशवासियों के हृदय में सम्पूर्ण देश के प्रति आत्मीयता एवं अखण्डनीयता के भाव भरे हैं, जो वर्तमानकालिक राष्ट्रियभावना के ही प्रतिरूप हैं।^{३५} इसके अतिरिक्त-एवं भारतवर्ष स्वं राजा स्वर्गं सुरेन्द्रवत्। शशास विष्णुना सार्धं गुप्तो गाण्डीवधन्वना॥^{३६} इस श्लोक में भारतवर्ष के प्रयुक्त विशेषणभूत स्व पद से यह स्पष्ट व्यञ्जित हो जाता है कि भारतवर्ष के प्रति आत्मीयता का भाव उस समय भी था, जो राष्ट्रियता का समर्थ है।

रामायण तथा महाभारतोत्तरवर्ती संस्कृत साहित्य में वर्णित राष्ट्रीयभावना-

महाकवि भास के रूपकों में भी यद्यपि लोकानुरञ्जन की प्रधानता है तथापि वहाँ अनेक स्थलों पर भारतीय संस्कृति, सभ्यता एवं राष्ट्रियभावना का वर्णन द्रष्टव्य है। उनके द्वारा रचित दूतवाक्यम् नामक नाटक में राज्य की सुरक्षा एवं प्राप्ति के लिए शत्रुदमन करने तथा दीनता का परित्याग करने का सन्देश दिया है। यथा-राज्यं नाम नृपात्मजैः सहृदयैर्जित्वा रिपून् भुज्यते, तल्लोके न तु याच्यते न तु पुनर्दीनाय वा दीयते॥^{३७} तथा पञ्चरात्रम् में क्षत्रियों की समृद्धि को सायकाधीन बताया है।^{३८} कालिदासकृत ग्रन्थों में उनका भारत की भूमि के प्रत्येक भाग से प्यार लक्षित होता है। रघुवंश महाकाव्य में उन्होंने लिखा है कि रघुवंशी राजा अपनी प्रजा की भलाई के लिए सतत जागरूक रहते थे, फलस्वरूप उनकी प्रजा भी रघुवंशी राजाओं को अपना पिता मानती थी।^{३९} कालिदासकृत ग्रन्थों में राष्ट्रियभावना के साथ ही साथ समग्र विश्व की मङ्गलकामना का भी निवास रहा है। उन्होंने समग्र विश्व में श्री

३२ वा०रा०, बालकाण्ड-५.५-६, ६.१-२८, ७.१-२४ तथा अयोध्याकाण्ड-३.३८-४५

३३ महा०भा०, आदिपर्व-१०३/११, १०४/४४-४५, शान्तिपर्व-६७/१-१७

३४ शान्तिपर्व, अध्याय-६७-७१, ८७-९०, १००-१०३, १२०

३५ वनपर्व, अध्याय-८१-९०

३६ आश्वमेधिक पर्व-१४-४७

३७ दूतवाक्यम्-१.२४

३८ बाणाधीना क्षत्रियाणां समृद्धिः। पञ्चरात्रम्-१.२४

३९ रघुवंशम्-१.५-३०

एवं सरस्वती के समन्वय की कामना की है। उन्होंने प्रार्थना की है कि संसार में सभी व्यक्ति सुखी हों तथा सभी की कामनाओं की पूर्ति हो। वे सभी को खुश देखना चाहते थे।^{४०}

विशाखदत्तप्रणीत मुद्राराक्षसम् में उदात्त राष्ट्रियभावना का निदर्शन प्राप्त होता है वहाँ चन्द्रगुप्त की दीर्घायु के लिए प्रार्थना की गयी है कि वे चिरकाल तक जीवित रहें तथा भारतभूमि की रक्षा करें।^{४१} भवभूति की धारणा है कि राजा को चाहिए कि वह अपने राष्ट्र की रक्षा तथा प्रजा के परिपालन के प्रति सदैव जागरूप एवं दृढ़सङ्कल्प रहे। उनका मत था कि लोग परस्पर मिलकर रहें, उनमें आपस में द्वेष न हो तथा चारों ओर सुख ही सुख हो। जैसा कि अधोलिखित श्लोक में द्रष्टव्य है-

शिवमस्तु सर्वजगतां परहितनिरता भवन्तु भूतगणाः।

दोषाः प्रयान्तु शान्तिं सर्वत्र सुखीभवतु लोकः॥^{४२}

भवभूति ने उत्तरामचरितम् में राम के माध्यम से यह सन्देश दिया है कि राजा को किस प्रकार अपनी प्रजा के हित के लिए अपने सुख, प्रेम इत्यादि यदि त्याग भी करना पड़े तो उसे पीछे नहीं हटना चाहिए।^{४३} अनर्घराघवम् में विश्वामित्र-दशरथ संवाद के प्रसङ्ग में नाटककार ने लिखा है कि राजा के पुत्र का वास्तविक प्रयोग तो राष्ट्रहित के लिए है, उसके जन्मदाता के हिस्से में तो लालन-पालन का क्लेश ही होता है। मिथिला नगर में शान्ति, पुष्टि, सुख, वैभव एवं समृद्धि को पाकर वह प्रसन्नता का अनुभव करता है।^{४४}

नैषधीयचरितम् में दमयन्ती स्वयंवर से पूर्व देवराज इन्द्रप्रेषित एक दूती दमयन्ती के पास आकर उसे स्वर्गाधिपति देवराज इन्द्र का वरण करने के लिए कहती है, परन्तु वह इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं करती है। क्योंकि उसकी दृष्टि में स्वर्गलोक की अपेक्षा भारतवर्ष ही श्रेयस्कर है। उसका कहना है कि स्वर्ग तो मात्र पूर्वोपार्जित पुण्यों का परिणाम है, उपार्जित पुण्यों के क्षीण होने पर जीव को पुनः भूमि पर आना पड़ता है। मनुष्य भूमि पर न केवल पूर्वपुण्योपार्जित सुखोपभोग कर सकता है अपितु उसे अपने भविष्य को सुधारने का पूरा अवसर भी मिलता है। दमयन्ती के माध्यम से भारतभूमि की प्रशंसा करते हुए महाकवि श्रीहर्ष ने यहाँ तक कह दिया है कि भारतभूमि तथा स्वर्ग में ठीक वैसा ही अन्तर है जैसा कि शर्करा और सिकता में होता है-

स्वर्गे सतां शर्म परं न धर्मा भवन्ति भूमाविह तद्य ते च।

शक्या मखेनापि मुदोऽमराणां कथं विहाय त्रयमेकमीहे॥

साधोरपि स्वः खलु गामिताद्यो गमी स तु स्वर्गमितः प्रयाणो।

इत्यायती चिन्तयतो हृदि द्वे द्वयोरुदकः किमु शर्करे ना॥^{४५}

इन दोनों श्लोकों में राष्ट्रप्रेम एवं राष्ट्रियभावना का निदर्शन प्राप्त होता है। दमयन्ती अपनी भारतभूमि को स्वर्गलोक से भी श्रेष्ठ मानती है।

शिवराजविजयम् नामक उपन्यास में देशभक्ति एवं राष्ट्रियभावना परिपूर्ण महाराज शिवाजी के राष्ट्रकल्याणकारक राजनैतिक कार्यकलापों का बहुत ही सुन्दर वर्णन है। यवनों के अत्याचार से भारतीय संस्कृति

४० सर्वस्तरतु दुर्गाणि सर्वो भद्राणि पश्यतु। सर्वः कामानवाप्नोतु सर्वः सर्वत्र नन्दतु॥ विक्रमोर्वशीयम्-५.२५

४१ मुद्राराक्षसम्-७.१९

४२ मालतीमाधवम्-१०.२५

४३ स्नेहं दयां च सौख्यं च यदि वा जानकीमपि। आराधनाय लोकस्य मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा॥ उत्तररामचरितम्-१.१२

४४ ममकारो हि राजपुत्रेषु राजानुपलालनक्लेशाय केवलम्। उपयोगस्तु प्रजानाम्॥ अनर्घराघवम्-१.३९ के पश्चात्।

४५ नैषधीयचरितम्-६.९८-९९

सङ्कटापन्न थी, नारी जाति असुरक्षित थी, वेदों एवं धार्मिक ग्रन्थों को ध्वस्त किया जा रहा था, तीर्थों की पावन मर्यादा का विनाश हो रहा था, उस समय यवनों के अत्याचारों के विरुद्ध शिवाजी, गौरसिंह, रघुवीरसिंह इत्यादि ने मिलकर यवनों (देशद्रोहियों) को मृत्यु के घाट उतारा एवं युद्ध में परास्त किया।^{४६} इस प्रकार प्रस्तुत ग्रन्थ राष्ट्रियभावना से ओत-प्रोत एवं राष्ट्रियभावना का सन्देशवाहक है।

महर्षि दयानन्द जी सरस्वती के जीवनचरित पर आधारित दयानन्ददिविजयम् महाकाव्य राष्ट्रिय भावनाओं का भण्डार है। ग्रन्थानुसार वेदज्ञान ऐसा सूर्य है जो अज्ञानरूपी अन्धकार को दूर करके नव प्रभात लाने में समर्थ है, अधर्म, कलह, पाखण्ड आदि से रक्षा करने वाला है।^{४७} यहाँ भारत राष्ट्र की दुर्दशा का भी उल्लेख प्राप्त होता है। राष्ट्ररक्षकों को राष्ट्रभक्षकों के लिए कार्य करता देखकर ग्रन्थकार द्वारा अतीव खिन्नता को प्रकट किया गया है। भारतीयता को हेयदृष्टि से देखने वाले भारतीयों के प्रति आश्चर्य एवं दुःख प्रकट किया गया है, और इस सबके निवारणार्थ परमपिता परमेश्वर से प्रार्थना भी की गयी है कि परमात्मा उनमें उत्साह तथा आत्मसम्मान की भावना को भरे। यथा-

देशस्याधोगतिं वीक्ष्य पश्चात्तापपरो मुनिः। नितरामुन्नतौ तस्य मनः स्वीयं न्यवेशयत्॥

दुर्दशा दुर्दशां यातु सुदशाऽऽयातु भारतम्। इति प्रार्थितवान्। शमात्मोत्तेजनया यतिः॥^{४८}

भारतगोतिका में पारस्परिक वैर तथा प्रदेशभेद को राष्ट्रप्रेम के लिए घातक बताया गया है।^{४९} सत्याग्रहगीता में पराधीनता को देश की हीनता, दुःखों, दरिद्रता एवं दोषों का कारण बताया गया है तथा साथ ही साथ पराधीनता से मुक्ति पाने की प्रेरणा भी दी गयी है। राष्ट्रिय स्वाधीनता को देश का अभीष्टतम लक्ष्य मानते हुए उसकी प्राप्ति हेतु निरन्तर प्रयत्नशील रहने का सन्देश हमें इस काव्यकृति में प्राप्त होता है।^{५०} गाँधीगीता में सन्देश दिया गया है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने अन्तःकरण में व्याप्त दुर्भावों का परित्याग कर देना चाहिए क्योंकि दुर्भाव ही आन्तरिक कलह का हेतु है।^{५१} यहाँ सन्देश दिया गया है कि राष्ट्ररिपु को यथाशीघ्र नष्ट कर देना चाहिए।^{५२} साथ ही साथ राष्ट्रकार्यार्थमैक्यं हि सर्वेषां सुखदायकम् इस कथन के माध्यम से यह सन्देश दिया गया है कि यदि राष्ट्र को सुखी एवं समृद्ध बनाना है तो राष्ट्रसम्बन्धी कार्यों में लोगों में आपसी मतभेद नहीं होना चाहिए। यदि मतवैभिन्न्य होगा तो वे देश के विकास में पूर्ण सहयोग नहीं दे सकते।

संक्षेपतः हम कह सकते हैं कि संस्कृतवाङ्मय में अनेक स्थलों पर राष्ट्रप्रेम, राष्ट्रभक्ति एवं राष्ट्रियभावना विषयक विचारधारा प्राप्तव्य है। यदि देश को विकासोन्मुखी बनाना है तो हमें भाषा-भेद, जाति-भेद, ऊँच-नीच इत्यादि भेदों का परित्याग करना होगा तथा एकमत एवं एकजुट होकर देश के विकास के लिए प्रयत्न करना होगा।

४६ शिवराजविजयम् पृ०-३८-४७, ६८-७०, ७३-११८

४७ दयानन्ददिविजयम्-१.२०-३३

४८ दयानन्ददिविजयम्-५.६६-६७

४९ अलं भारतीया मतानां विभेदैः, अलं देशभेदेन वैरेण चालम्। अयं शाश्वतो धर्म एको धरायाम्, न संभाव्यते धर्मतत्त्वेषु भेदः॥

५० तथापि देशभक्त्याहं जातास्मि विवशीकृता। अत एवास्मि तद् गातुमुद्यता मन्दधीरपि॥ संगीता-१.३

निर्धनत्वाज्जनुर्भूमेः पारवश्याच्च बान्धवाः। तिरस्कृता भवन्तीति प्राज्ञेन किल निश्चितम्॥ वही, १.२४

५१ कलहं वै स्वकीयेषु नैव कुर्यात्कदाचन। कलहो राष्ट्रनाशाय भवतीति सुनिश्चितम्॥ गान्धीगीता-३.१८

५२ गान्धीगीता-३.३५

संस्कृतसाहित्य में राष्ट्रमङ्गलकामना के साथ अन्ताराष्ट्रियमङ्गलकामना विषयक विचारधारा भी प्राप्त होती है, जिसका अनुसरण करके भ्रातृभाव एवं विश्वबन्धुत्व की भावना को प्रबल किया जा सकता है।

महर्षिदयानन्दप्रतिपादितानां षोडशसंस्काराणां व्यक्तित्वविकासे योगदानम्

डॉ. कृष्णा आचार्य^१

मानवजातेर्विकासाय महर्षिणा स्वामिदयानन्देन वैदिकसाहित्यस्य सारभूतात्मकानि तत्त्वानि स्वसाहित्येप्रतिपादितानि सन्ति। तेषु तत्त्वेषु वैदिकसंस्कारा अन्यतमाः सन्ति। संस्कारो हि नामगुणान्तराधानं भवति। संस्कारमाध्यमेन अनपेक्षिता दुर्गुणा निराक्रियन्ते येन सद्गुणानां विकासो भूत्वा मानवस्य विकासो भवति।

संस्काराणां सङ्ख्या विषये गृह्यसूत्रेषु, धर्मसूत्रेषु, स्मृतिग्रन्थेषु च प्रायशो मतवैभिन्नं प्राप्यते, अस्य मतवैभिन्न्यस्य निश्चितसङ्ख्यास्थापनमस्ति कठिनकार्यम्। अतोऽत्रास्माभिः स्वामिदयानन्दवर्येण प्रोक्ता वैदिकसंस्कारास्तेषां स्वरूपञ्च विवेचितम्। स्वामिदयानन्दमहाभागेन षोडश संस्कारैव स्वीकृता, येषां निरूपणं निजरचनायां “संस्कार विधौ” एवाक्रियत। पण्डितभीमसेनशर्मणा अपि स्वरचितायां षोडशसंस्कारविधौ आगर्भाधानात् मृत्युपर्यन्तं षोडश संस्कारा एव स्वीकृता^२।

ते च षोडशसंस्कारा इमे सन्ति-१. गर्भाधानम्, २. पुंसवनम्, ३. सीमन्तोन्नयनम्, ४. जातकर्मः, ५. नामकरणम्, ६. निष्क्रमणम्, ७. अन्नप्राशनम्, ८. कर्णवेधः, १०. उपनयनम्, ११. वेदारम्भः, १२. समावर्तनम्, १३. विवाहः, १४. वानप्रस्थः, १५. संन्यासः, १६. अन्त्येष्टि कर्म^३।

केषाञ्चिद् विदुषां मतमिदं यत् स्वामिदयानन्देनोरीकृतोऽन्त्येष्टिः संस्कारः परं मतभिद त्रुटिपूर्णं तेषां विदुषाम्, यतः स्वामिमहाभागेनान्येष्टि-कर्म-लिखितम्। अनेन सहैवाव्यविधौ लिखितं यदन्त्येष्टिकर्म तदभिधीयते यत् शरीरस्यान्तिमः संस्कारो भवति। एषां संस्काराणां समासतोवर्णनमन्त्रक्रियते।

गर्भाधानसंस्कारः-

गर्भाधानं तत् कथ्यते यदा गर्भास्याऽऽधनं वीर्यस्थापनं स्थिरीकरणं यस्मिन् येन वा कर्मणा, तद्गर्भाधानम्^४।

अर्थात् वीर्यस्थापनं गर्भाशये येन कर्मणा स्थिरं भवति तद् गर्भाधानम् भवति भावोऽयं एकः पुरुषो यया क्रियया स्त्रियां निजवीर्यं स्थापयति, सा क्रिया गर्भाधानसंस्कार उच्यते।

यथा बीजः क्षेत्रे चोत्तमे सति तदानादयः पदार्था अपि उत्तमा भवन्ति, तथैवोत्तमाभ्यां बलवद्भ्यां स्त्रीपुंभ्यां सन्ताना अत्युत्तमा भवन्ति।

स्वामिनो दयानन्दस्य मतानुसारेण पूर्णयुवावस्थापर्यन्तं ब्रह्मचर्यस्य पालनं विद्याभ्यासश्चावश्यमस्ति। न्यूनातिन्यूनं षोडशवर्षीयायाः कन्यया विवाहः पञ्चविंशतिवर्षीयेण पुरुषेण सह भवितव्यम्। अस्मादप्यधिकायुष्मनो भवेयुश्चेदुत्तमता सन्तानो भवति, यतः षोडशवर्षं बिना गर्भस्य धारणपोषणयोश्च सामर्थ्यं कदापि न भवति।

१ एसोशियेट प्रोफेसर, संस्कृत-विभाग, महर्षि दयानन्द वि०वि० रोहतक

२ संस्कारविधिः-वैदिक यन्त्रालय अजमेरात् प्रकाशिता।

३ संस्कारविधिः पृ०-३

४ संस्कारविधिः पृ०-३१,

पञ्चविंशति वर्षं विना च पुरुषस्य वीर्यं नोत्तमं भवति। अस्मिन् विषये प्रमाणरूपेण सुश्रुतस्य श्लोका उपस्थिताः स्वामिमहाभागेन-

ऊनषोडशवर्षायामप्राप्तः पञ्चविंशतिम्।

यद्यायत्ने पुमान् गर्भकुक्षिस्थः सविपद्यते॥^५

स्वामिमहोदयः कथयति यत् परमोवैद्यः सुश्रुतकारो गर्भाधानस्य कालोऽयमेव मन्यते। यावत् सामर्थ्यं पुरुषस्य पञ्चविंशतितमे भवति तावदेव सामर्थ्यं कन्यायाः षोडशतमे वर्षे भवति। एवं सति पुरुषे मेधा विकसति, या व्यक्तित्व विकासस्य प्रमुखावयवा वर्तते।

पुंसवन संस्कारः-

पुंसवनसंस्कारस्य कालो गर्भस्थितौ जातायां सत्यां तत्समयात् द्वितीये तृतीये वा मासेऽस्ति। तस्मिन् समयैव पुंसवनसंस्कारः कर्तव्यो येन पुरुषत्वस्य यद्वा वीर्यस्य लाभो भवेत्। यावद् बालकस्योत्पत्तिर्न भवेत् तावत् कालपर्यन्तं ब्रह्मचर्यस्य पालनमावश्यकं येन व्यर्थं वीर्यस्य नाशो न भवेत्। भोजनच्छादनं शयन-जागरणादिकं व्यवहारसत्तैव प्रकारेण कुर्यात् येन वीर्यं स्थिरं भवेद् यतोहि अन्या सन्ततिरप्युत्तमा भवेत्।

ब्रह्मचर्येण मनुष्ये शक्तिरूर्जा च विकसति। शक्तिरियं व्यक्तित्वस्य विकासे अतिशयेन सहायिका वर्तते।

पुंसवनशब्दस्य व्याख्यां कुर्वता वीरमित्रोदयेन संस्कारप्रकाशे एवं लिखितम्- पुमान् प्रसूयते येन कर्मणा

पुंसवनमीरितम्।

अर्थात् येन पुरुषो जायते गर्भधारणस्य च निश्चये सति क्रियमाणः संस्कारः पुंसवनं कथ्यते^६।

सीमन्तोन्नयन संस्कारः-

येन गर्भिण्याः स्त्रिया मनः सन्तुष्टं, आरोग्यं, गर्भश्च स्थिरं, उत्कृष्टश्च भवेत् प्रतिदिनञ्च वर्धेत, तेन एष सीमन्तोन्नयनसंस्कारोऽभिधीयते।

अस्य संस्कारस्य कालविषये स्वामिना संस्कारविधौ लिखितं यत् गर्भमासाद्यतुर्थे मासे शुक्लपक्षे यस्मिन् दिवसे मूलादिभिः पुरुषनक्षत्रैर्युक्तश्चन्द्रमा भवेत् तस्मिन् दिने सीमन्तोन्नयनसंस्कारो विधातव्यः।

अस्य संस्कारस्याधारभूतसिद्धान्तोऽयमस्ति यत् गर्भिण्याः स्त्रिया विचाराः, मानसिकीशक्तयः, भोजनाच्छादनानि, स्वभावकर्मादीनि सर्वाणि गर्भस्थे शिशौ निजप्रभावं कुर्वन्ति। अतः शिशौ मानसिकीं दृढतामानेतुं गर्भिण्याः स्त्रिया मनो दृढं शान्तञ्च कर्तुमयं संस्कारः कर्तव्यः। संस्कारोऽयं मनो द्रढयितुं शान्तव्यक्तित्वञ्च विकसितुं सहायकोऽस्ति।

जातकर्म संस्कारः

संस्कृत व्याकरणानुसारं जातकर्म शब्दो जनी प्रादुर्भावे इति धातुना क्त प्रत्यये कृते सति निष्पद्यते। षष्ठी समासोऽयं जातस्य कर्म जातकर्म इति।

अर्थात् सन्ताने उत्पन्ने सति यत् कार्यं क्रियते तत् जातकर्म कथ्यते।

स्वामिदयानन्दस्य मतेन स्त्रियाः सुखपूर्वके प्रसवे सति यो रक्षकः संस्कारः सः जातकर्मसंस्कारो भवति।

स्वामिदयानन्देन संस्कारविधौ लिखितमस्ति यत् प्रसवकाले जलं गृहीत्वा मन्त्रैः सह गर्भिण्याः शरीरे जलस्य मार्जनं कुर्यात्। तदनु ओ३म् अवैतु पृश्निशैवल... मन्त्रं जपेत्।^१ पुनः जलस्य मार्जनं कुर्यात्, सन्ताने उत्पन्ने सति धात्री-आदयः शिशुं जरायुतः पृथक् कृत्वा वस्त्रेण परिमार्ज्य पित्रे दद्यात्। पित्राऽपि तस्य शिशोः नालं छित्त्वा स्नानादिना च तं पवित्रं कृत्वा यज्ञमण्डपे नीत्वा सामान्यं यजेत्। तदनु घृतमधुनीं प्राशयेत्। तत्पश्चात् व्रीहियवान् जले शोधयित्वा संपिष्य एभिर्मन्त्रैः सह शिशोः मुखे एवं बिन्दु पातयेत् तत्पश्चात् पिता शिशोः कर्णद्वये इमान् नवसंख्याकान् मन्त्रान् उच्चरयेत्।^२ तत्पश्चात् पिता बालकस्य स्कन्धे हस्तं निधायेमान् त्रीन् मन्त्रान् पठेत्।^३ पुनः शिशुं जन्मस्थाने नीत्वा विशेषमन्त्रान् पठित्वा जलेन मार्जनं कुर्यात्। पुनः विशेषमन्त्रैराशीर्वचनो दत्त्वा पिता शिशोः शिरः आघ्रायोष्णेन जलेन स्त्रियाः स्तेन एकेन मन्त्रेण^४ परिमार्ज्य विशेषान् मन्त्रान् पठित्वा शिशुं दुग्धं पाययेत्।

अस्य संस्कारस्य उद्देश्य एकतस्तु स्त्रियाः सुखपूर्वकं प्रसवक्रियया सह वर्तते। अपरः शिशोः शारीरिकरक्षार्थं तस्मिन् शिशौ चास्तिकतायाः बीजवपनार्थमस्ति।^५ शिशोः शारीरिकरक्षा आदित एव करणीया, आदितो यदि शिशोः रक्षा न क्रियते चेत् तदा तस्य शारीरिकविकासो न संभवेत्। अस्ति शारीरिकविकासो व्यक्तित्वं विकासस्य प्रमुखमङ्गम्।

नामकरण संस्कारः-

नाम्नः करणम् इति नामकरणम् अर्थात् नामरक्षणं नामकरणमभिधीयते। स्वामिदयानन्देन “संस्कार विधौ” निर्दिश्यते यत् जन्मनि जाते शिशोर्नाम सार्थकं कुर्यात् इदमेव नामकरणं कथ्यते।^६

यस्मिन् दिने बालको जायेत् ततः प्रभृति दशदिनानि विहायैकादशे, एकाधिकशततमे वा द्वितीयवर्षस्यादौ वा यस्मिन् दिने बालकस्य जन्माभवत् शिशोर्नाम कुर्यात्। नामरक्षणाय यद् दिनं निश्चितं भवेत् तस्मिन् दिनेऽतिप्रसन्नतयेष्टमित्राणान् हितैषिणो जनांश्चाहूय यथाविधिं सत्कृत्य क्रियायारम्भो यजमानो बालकस्य पिता ऋत्विक् कुर्यात्।

उत्तमं सार्थकं नाम सदैव मनसि शुभसंस्कारान् प्रेरयति, शिशुञ्च उत्तमानि कर्माणि कर्तुञ्च प्रेरयति। अनेन संस्कारेण व्यक्तिर्निज नाम्नोऽर्थानुसारं निजगुणान् वर्धयति।^७ यो व्यक्तित्व विकासे सहायको वर्तते।

निष्क्रमण संस्कारः-

अस्मिन् संस्कारे बालको गृहात् बहिर्नीत्वा तत्र भ्राम्यते, यत्रस्थो वायुः स्थानञ्च शुद्धं भवति।^८ शास्त्रानुसारं चतुर्थे मासे तु भ्रमणमवश्यं कारयितव्यम्। शास्त्रेण शिशोः निष्क्रमणसंस्कारस्य कालद्वयं निश्चितम्-एकः

७ संस्कारविधिः-जातकर्मप्रकरणम्।

८ ओ३म् इदमाज्यमिक्षमन्त्र, संस्कारविधिः, जातकर्मप्रकरणम्।

९ ओ३म् मेघा ते-संस्कारविधिः, जातकर्मप्रकरणम्।

१० ओ३म् इन्द्र श्रेष्ठानि-संस्कारविधिः, जातकर्मप्रकरणम्।

११ ओ३म् इडासिमैत्रावरुणी-संस्कारविधिः, जातकर्मप्रकरणम्।

१२ संस्कार चन्द्रिका, पृ०-३४०

१३ संस्कारविधिः, नामकरण प्रकरणम्।

१४ संस्कार चन्द्रिका, पृ०-३७५

१५ संस्कारविधिः, निष्क्रमण प्रकरणम्।

शिशोः जन्मपश्चात् तृतीयमासस्य शुक्लपक्षे द्वितीयश्च चतुर्थे मासे (यस्मिन्) तिथौ बालकस्य जन्माभवत् तस्यां अयं संस्कारो विधातव्यः।

यदा संस्कारः कर्तव्यस्तदा प्रातःकाले सर्वे पारिवारिकजनाः शुद्ध जलेन स्नात्वा नवीनानि वस्त्राणि परिधाय दम्पती शिशुं गृहीत्वा यज्ञशालायामागच्छताम्। पत्नी पत्युः दक्षिणत आगत्य शिशोर्मस्तकमुत्तरदिशाभिमुखं कृत्वा शिशुं पतये दद्यात्, स्वयं च वामत आगत्योपविशेत्। ईश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासनाया अष्टौ मन्त्रान् स्वस्तिकवाचनशान्ति प्रकरणयोश्च मन्त्रान् सामान्यं यजेत्।^{१६} तदनन्तरं पतिस्त्रीन् मन्त्रान् पठित्वा शिरः स्पर्शेत्।^{१७} बालिका चेत् पिता मौनी भूत्वा शिरः स्पर्शेत्। अन्ते च पिता एकं मन्त्रमुच्चार्योत्थाय^{१८} च सूर्यं दर्शयेत्।

निष्क्रमणसंस्कारेण बालकाय निर्भयताया एकाकीविचरणस्य चोपदेशोऽस्ति। बालको यशस्वी भवेदिति हेतोः सूर्यदर्शनं कार्यते। बालको यदीमानी कर्माणि करिष्यति तर्हि भविष्यति जीवने पापकर्मभ्योरहितः।^{१९} सूर्यचन्द्रमसोर्दर्शनेन नेत्रज्योतिर्वर्धते, या नेत्रज्योतिर्व्यक्तित्वविकासे सहायकतया वर्तते।

अन्नप्राशन संस्कारः-

अन्नप्राशनस्याभिप्रायोऽस्ति-जीवने सर्वप्रथममन्नभक्षणम्। तदैवान्नप्राशनसंस्कारः कर्तव्यो यदा बालकशक्तिरत्र पाचनयोग्या भवेत्- षष्ठे मासेऽन्न प्राशनम्।^{२०}

षष्ठे मासि बालकमन्नं प्राशयेत्। यस्मिन् दिने बालकस्य जन्म भवेत् षष्ठे मासि तस्मिन् दिने (तिथौ) घृतमिश्रितं भातं दधिं च मेलयित्वा बालकं खादयेत्।

दधिघृतमिश्रितमन्नं प्राशयेत्।^{२१}

यदा तण्डुलानि सुष्ठु पक्वानि भवेयुस्तदा तानि शीतलानि कृत्वा पश्चात् होमस्थाल्यां निधाय इमान् पञ्चमन्त्रानुच्चार्येत्।^{२२}

चूडाकर्म संस्कारः-

चूडाकर्म संस्कारः केशच्छेदनसंस्कारोऽपि कथ्यते। अयं संस्कारो बालकस्य जन्मनस्तृतीये वर्षे प्रथमे वर्षे वा कर्तव्यः। उत्तरायणकाले शुक्लपक्षे यस्मिन् दिने आनन्दमङ्गलं भवेत् तस्मिन् दिने विधातव्योऽयं संस्कारः।

चत्वारि मृगमयानि भाण्डानि (शरावे इति हिन्दीभाषायां) गृहीत्वा, एकस्मिन् तण्डुलानि द्वितीयस्मिन् यवाः, तृतीयस्मिन् माषाश्चतुर्थे च शरावे तिलानि पूरयित्वा वेद्या उत्तरदिशायां रक्षेत्। तत्पश्चात् विनियोगान् मन्त्रानुच्चार्य घृतस्य पञ्चाहुतीर्दद्यात्।

१६ सामान्य प्रकरण, यक्ष, संस्कार विधिः

१७ ओ३म् अङ्गादङ्गात्-संस्कारविधि, निष्क्रमण प्रकरणम्।

१८ ओ३म् अस्मे-संस्कारविधिः, निष्क्रमण प्रकरणम्।

१९ संस्कार चन्द्रिका, पृ०-४०२

२० आश्वलायन गृह्यसूत्रम्-१/१६/१

२१ आश्वलायन गृह्यसूत्रम्-१/१६/५

२२ ओ३म् प्राणाय त्वया-संस्कारविधिः अन्नप्राशन-प्रकरणम्।

एतावतीं क्रियां कृत्वा कर्मकर्ता परमात्मानं ध्यात्वा नापितं प्रति प्रथमं विलोक्य-ओ३म् आयमग्नं सविता^{२३} इमं मन्त्रं उच्चार्य पिता बालकस्य पृष्ठभागे उपविश्य किञ्चिदुष्णं किञ्चित् शीतञ्च जलं पात्रद्वये गृहीत्वा ओ३म् उष्णेन वाय।^{२४}

इमं मन्त्रं उदित्वा पात्रद्वयस्य जलमेकस्मिन् पात्रे मेलयेत्। तत्पश्चात् किञ्चिज्जलं किञ्चिन् नवनीतं दधिमालईं गृहीत्वा शिशोः शिरसः केशेषु वारत्रयं हस्तं भ्रामयित्वा केशान् आर्द्रान् कृत्वा केशप्रसाधनिकां गृहीत्वा केशान् प्रसाध्य एकत्रितान् कुर्यात्। पुनः ओ३म् ओषधेः...।^{२५}

मन्त्रमिममुच्चार्य त्रीणि दर्भाणि गृहीत्वा दक्षिणहस्तस्य केशसमूहं स्पृशेत्, तानि दर्भाणि च समीपे नीत्वा सकुशान् (सदर्भान्) तान् केशान् कृन्तेत। तत्पश्चात् कृन्ततस्तान् केशान्, दर्भाणि, सर्वाणि च वृक्षपत्राणि शिशुपितरौ एकस्मिन् शरावे रक्षेताम् स्थापयेताम् वा कश्चित् केशश्छेदनक्रियायामितस्ततः पतितो भवेत् तं गोमयेनोत्थाप्य शरावे रक्षेत्।

आयुर्वेदविचारेणापि शिरसः केशच्छेदनं स्वास्थ्योत्तममस्ति।

पापोशमनं केशनखरोमापमार्जनं हर्षं लाघवं सौभाग्यकरं उत्साहवर्धनम्॥^{२६}

अर्थात् केशनखरोमाणि दूरीकरणेन मनुष्यो हृष्यति, सो लाघवमनुभवति, सौभाग्यमनुभवति, उत्साहश्च तस्य वर्धते। उत्साहादीनि व्यक्तित्व विकासस्य प्रमुखानि अङ्गानि सन्ति।

कर्णवेध संस्कारः-

तृतीये पञ्चमे वा वर्षे कर्णवेधसंस्कारो विधातव्यः। अस्मिन् संस्कारे शिशोर्नासिका कर्णौ च विध्यन्ते। यदिनं बालकस्य कर्णयोः नासिकायाश्च वेधनं यद्वा छेदनं निश्चितं भवेत्, तस्मिन् दिने प्रातः बालकं शुद्धजलेन स्नानं कारयित्वा वस्त्रालङ्काराणि च धारयित्वा शिशुमाता शिशुं यज्ञशालायामानयेत्। यज्ञविधिमानु बालकं पुरवः कानिचिद् भक्ष्यपदार्थानि क्रीडनकानि वा रक्षेत्। तदनु ओ३म् भद्रं कर्णेभिः शृणुयामः।^{२७}

मन्त्रमिमं पठित्वा चरक सुश्रुतवैद्यग्रन्थानां ज्ञाता सद्वैद्येन कर्णं नासिकां च छेदयेत्। अनेन मन्त्रेण सदैवो नाडी-आदीः सम्यग् ज्ञात्वा दक्षिणं कर्णम् ओ३म् वक्ष्यन्त्यती वेदा गनीगन्ति०^{२८} अनेन मन्त्रेण वामं कर्णं छेदयेत्। तदनु स एव सद्वैद्यस्तेषु छिद्रेषु शलाकां निक्षिपेत् येन छिद्राणि पुनः पूर्णानि न भवेयुः ईदृशीं चौषधिं तेषु छिद्रेषु लिप्मेत् येन कर्णौ व्रणपूर्णौ न भवेताम् शीघ्रं च स्वस्थ्यौ सुष्ठु वा भवेताम्।

रक्षामूषणीमितं बालस्य कर्णौ विध्यते।^{२९}

भावोऽयं यद्बालकस्य कर्णौ उद्देश्य-द्वयेन विध्येते-एको बालकस्य रक्षार्थं कर्णवेधनेनाण्डवृद्धिर्न भवति।^{३०} अण्डस्य वृद्धौ सत्यां व्यक्तेः शरीरं कुरूपं जायते। कुरूपत्वं व्यक्तित्वविकासेऽवरोधकमस्मि। इत्थं कर्णवेध संस्कारोऽपि व्यक्तित्वविकासे सहायकोऽस्ति।

२३ संस्कारविधिः, चूडाकर्म प्रकरणम्।

२४ संस्कारविधिः, चूडाकर्म प्रकरणम्।

२५ संस्कारविधिः, चूडाकर्म प्रकरणम्।

२६ सूत्रस्थानम्, चरक-५.९३

२७ संस्कारविधिः, कर्णवेध प्रकरणम्।

२८ संस्कारविधिः, कर्णवेध प्रकरणम्। Hit Academy, Jammu. Digitized by S3 Foundation USA

२९ चिकित्सास्थानं सुश्रुत-१९

उपनयन संस्कारः-

उपनयनसंस्कारे मुख्यकर्म यज्ञोपवीतधारणमस्ति। पृथक्-पृथक् जातीनां बालकेभ्यो यज्ञोपवीतसंस्कारस्यायुः पृथक्निर्धारितमस्ति। यस्मिन् दिने बालको जातस्तस्मादष्टमे वर्षे, ब्राह्मणस्य बालकस्यैकादशे वर्षे, क्षत्रियस्य बालकस्य द्वादशतमे वर्षे वैश्यबालकस्य यज्ञोपवीतं विदध्यात्। ब्राह्मणस्य वसन्तर्तौ, क्षत्रियस्य ग्रीष्मर्तौ, वैश्यस्य च शरदर्तौ यज्ञोपवीतं कुर्यात्। यदा बालकस्य यज्ञोपवीतकरणं निश्चितं भवेत्, तस्मात् दिनत्रयं पूर्वं एकदिनपूर्वं वा बालकेनोपवासः करणीयः। उपवासात् पूर्वं सर्वाः सामग्रयः एकत्रीकरणीयाः। उपनयनस्य दिवसे सर्वाः सामग्रयः उपकुण्डं निधाय बालकस्य शिरसः केशानां क्षौरकर्म कारयित्वा शुद्धजलेन स्नानं कारणीयम्। उत्तमानि वस्त्राणि परिधाप्य पिताऽऽचार्योवा बालकं मिष्टान्नादीनि भोजयित्वा यज्ञमण्डपे यज्ञवेद्याः पश्चिमे भागे शोभने आसने पूर्वाभिमुखमुवेशयेत्। तत्पश्चात् कार्यकर्ता बालकस्य मुखेन-

ब्रह्मचर्यमागां ब्रह्मचार्यसानि।^{३१}

एषां वचसामुच्चारणं कारयित्वा इमं मन्त्रं वाचयेत्- ओम् येनेन्द्राय...।^{३२}

इमं मन्त्रमुच्चार्य तत्पश्चात् बालक आचार्यस्य सम्मुखमुपविशते, यज्ञोपवीतञ्च हस्ते गृहीत्वाऽऽचार्यो वामस्कन्धस्योपरि, कण्ठस्य समीपे शिरसा मध्ये निष्कास्य, दक्षिणहस्तस्य नीचैः कुक्षौ निस्सार्याकटि धारयेत्, संस्कारविधौ चोद्दिष्टानि विशेषमन्यानुद्धार्येत।

अस्ति यज्ञोपवीतमेकमधिकारपट्टम्, यथा एको विद्याथी यावदवधिं गाउन इति वस्तुविशेषं न परिदधाति, स पदवीमुपाधिं वा न लभते। एको विधिवक्ता यावत् गाउन इति वस्त्रविशेषं न परिधत्ते तावत् न प्राप्नोति सो प्राङ्निववाकस्य विधिवक्त्वस्य वाधिकारः। एवमेव यावदवधिं बालको यज्ञोपवीतं न धारयति तावत्पर्यन्तं न सः सन्ध्योपासनायाः, अग्निहोत्रस्य, विद्याध्ययनस्य, पित्रोराचार्यस्य च सेवायाः, अतिथिपूजायाः, दानादिकस्य चाधिकारं लभते। कृत्यानीमानि सर्वाणि व्यक्तित्वविकासे सहायकानि सन्ति। अतो विद्यते उपनयनसंस्कारस्य विशेषमहत्त्वम्।

वेदारम्भ संस्कारः

वेदस्य यद्वा ज्ञानस्य आरम्भः इति वेदारम्भः। एवं सः संस्कारो वेदारम्भसंस्कारोऽभिधीयते यस्मिन् गायत्रीमन्त्रस्य (तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो योनः प्रचोदयात्।) उपदेशादानन्तरं साङ्गोपाङ्गानां चतुर्णां वेदानां वेदेषु वर्णितानां विविध वैज्ञानिकविषयाणां अध्ययनाय नियमो धार्यते। सामान्यतः यद् दिनमुपनयनसंस्कारस्यास्ति तद् दिनमेव वेदारम्भसंस्कारस्यास्ति। परं यदि तस्मिन् दिने केनापि कारणेन वेदारम्भसंस्कारो न भवेत् अथवा उपनयनसंस्कारस्य दिवसे वेदारम्भसंस्कारस्य करणायच्छा भवेच्चेत् अग्रिमे दिवसे वेदारम्भसंस्कारं कुर्यात्। अथ च द्वितीयं दिनमप्यानुकूलं न भवेच्चेत् वर्षे कस्मिंश्चिदपि दिवसे वेदारम्भसंस्कारं कुर्यात्।

ब्रह्मचारी यदा चतुरो वेदान् शब्दार्थसम्बन्धपूर्वकं ज्ञात्वाधीते तदैव ज्ञानवान् भवति। तस्मिन् ब्रह्मचारिणि दिव्यानि गुणानि निवसन्ति। सर्वे विद्वांसस्तं, स्निहन्ति। सः ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्येण प्राणान्, दीर्घजीवनं धारयित्वा दुःखानि क्लेशांच नाशयित्वा सम्पूर्णविद्यासु व्यापकतां, उत्तमां वाणीं, पवित्रात्मानं, शुद्धं हृदयं, परमात्मानं, श्रेष्ठप्रजां च धारयित्वा सर्वमनुष्येभ्यो हिताय सर्वाः विद्याः प्रकाशते।

३० संस्कारविधिः, सत्यव्रत, पृ०-२४४

३१ संस्कारविधिः, उपनयन प्रकरणम्।

३२ संस्कारविधिः, उपनयन प्रकरणम्।

समावर्तन संस्कारः-

समावर्तनस्याभिधेयोऽस्ति परावर्तनम्। सः संस्कारः समावर्तन संस्कारोऽभिधीयते यदा ब्रह्मचर्यव्रतं, साङ्गोपाङ्गवेदविद्यायां, उत्तमां शिक्षां पदार्थविज्ञानञ्च पूर्णरीत्या प्राप्य गृहाश्रमं ग्रहीतुं विधानानुपूर्वकं विवाहं कर्तुं विद्यालयं त्यक्त्वा गृहं प्रत्यागमनं भवति।

यदा वेदारम्भस्य समाप्तिर्भवेत् तदा समावर्तनसंस्कारं कुर्यात्। सदैव पुण्यात्मभिः पुरुषैः सह व्यवहरेत्। यदा राजाचार्यश्चसुर पितृव्यमातुलादीनामपूर्वागमनं भवेत् तदा विद्या अधीत्य ब्रह्मचर्यं च परिपाल्य ब्रह्मचारी गृहमागच्छेत्। ब्रह्मचारिणि गृहे आगते पादप्रक्षालनाय, मुखप्रक्षालनाय, आचमितुञ्च त्रिविधं जलं दत्त्वा शुभासने उपवेश्य दधिमधुघृतं च संमेत्य तत् शोभने पात्रे रक्षित्वा तस्मै ब्रह्मचारिणे मधुपर्कं दद्यात्।

शिक्षा समाप्य यदा शिष्यो गृहं प्रत्यागन्तुमिच्छति तदाऽऽचार्यस्तमुपदिशति-

सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातनुं मा व्यवहेत्सीः^{३३}

एवंविधोपदेशपालनेन व्यक्तित्वं पूर्णरूपेण विकसितं, वर्धते च।

यो विद्वान् मातृमान् पितृमान् पुत्रो ब्रह्मचारी शिष्यः स्यात् सः स्वधर्मयुक्तं पितृस्थानिनं तमाचार्यमुत्तमे आसने उपवेश्य पुष्पमालां परिधाप्य प्रथमं गा दद्यात् पुनः वस्त्रधनादिकं दत्त्वा तमर्चयेत्। विशेष मन्त्रानुष्ठानं ब्रह्मचारी आचार्येण समं निजपितृगृहमागच्छेत्। तत्र गृहे पितरौ बान्धवाश्च शोभने आसने उपवेश्य तं सत्कुर्यात्।

विवाह संस्कारः-

विवाहः सः कथ्यते सदा पूर्णब्रह्मचर्यव्रतेन विद्या बलं च प्राप्य पूर्णरूपेण गुणकर्मस्वभावैस्तुल्ये परस्परं प्रीतियुक्तेभूत्वा सन्तानोत्पत्तये स्व-स्व वर्णाश्रमानुकूलोत्तमकर्माणि कर्तुं स्त्रीपुंसोः सम्बन्धो भवति।^{३४}

उत्तरायणे शुक्लपक्षे यस्मिन् दिने प्रसन्नता भवेत् तस्मिन् दिने विवाहः करणीयः। वधूवरयोः, कुलं, वास्तव्यस्थानं, शरीरं स्वभावश्च परीक्षणीयाः, द्वावेव च संज्ञानविवाहयोरिच्छुकौ भवेताम्। स्त्रियायुषो वरस्यायुर्नूनातिन्यूनं सार्धं अधिकाधिकञ्च द्विगुणं भवेत्। परस्परं कुलमपि परीक्षणीयम्।

उत्तमरीत्या ब्रह्मचर्याश्रमे सर्वा विद्या पठित्वा गुरोराज्ञया स्नात्वा ब्राह्मणक्षत्रियवैश्य निजवर्णस्योत्तमलक्षणया स्त्रिया सह विवाहं कुर्यात्, परं ध्यातव्यं यत् यया स्त्रिया सह विवाहः करणीयोऽस्ति सा स्त्री मातु षट् वंशपरम्परासु पितुश्च गोत्रस्य न भवेत्। इदमपि विचारणीयं यत् अधस्तनेषु दशकुलेषु कन्यया सह न कदापि विवाहं कुर्यात् कामं तानि कुलानि गोत्रादिपशुयुक्तानि धनधान्येन च सम्पन्नानि वा भवेयुः पुनरपि विवाहविधौ वर्जनीयानि।

१. यस्मिन् कुले उत्तमक्रिया नास्ति। २. यत्रोत्तमपुरुषा न सन्ति। ३. यत्र कोऽपि विद्वान् न विद्यते। ४. यस्मिन् कुले शरीराणि लोमशानि सन्ति। ५. यस्मिन् कुले अर्शरोगोऽस्ति। ६. यत्र क्षयरोगोऽस्ति। ७. यत्रामाशयरोगो विद्यते। ८. यत्र मूर्च्छारोगो वर्तते। ९. यस्मिन् कुले श्वेतकुष्ठं वर्तते। १०. सत्र च गलित कुष्ठं भवति।^{३५}

अपि च पीतवर्णा, अधिकाङ्गी, रुग्णां लोमरहितां, लोमशां, वाचालां, पीतनेत्रां न कदापि विवाहं न कुर्यात्। या कन्या नक्षत्रनामवती स्यात् न तामपि उपयच्छेत्। अष्टविधा विवाहा भवन्ति। यथाह मनुस्मृतौ- ब्रह्मो दैव आर्षः

३३ तैत्तिरीयोपनिषद्, शिक्षावल्ली, अनुवाक्-११

३४ संस्कारविधिः, विवाह प्रकरणम्।

३५ संस्कारविधिः, विवाह प्रकरणम्।

प्राजापत्यस्तथासुरः। गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः।^{३६} ब्राह्मदैवार्षप्राजापत्येषु चतुर्षु विवाहेषु पाणिग्रहणे कृते सति स्त्रीपुंभ्यां या सन्ततय उत्पाद्यन्ते, ताः वेदादिविद्यया तेजस्विन्य आसपुरुषसमा भवन्ति। अतो मनुष्यैरुचितमस्ति यत् निन्दितविवाहैर्नीचप्रजा जायन्ते तेषां निन्दितविवाहानां त्यागं कुर्यात् यैश्चोत्तमप्रजाः जायन्ते तानोत्तमविवाहान् कुर्युः। इदमपि ध्यातव्यं शास्त्रेषु यद् विधिविधानं निर्दिष्टं तं पालयन् पाणिग्रहणं कुर्यात्।

सन्ति विवाह संस्कारेऽनेकविधयस्तेषां नैजं महत्त्वमस्ति यथा मधुपर्कविधौ पतिः कथयति, मदीयो व्यवहारो मधुमान् भवेत्, मदीय आश्रयो मधुमान् भवेत्, अहं वाचा मधुमद् वदामि, संसारे च मधुमान् भूत्वा वसेयम्।^{३७}

विवाहेन जनः स्थिरः, शान्तः, शीलवान्, नियमपालकश्च भवति, इमे गुणाः व्यक्तित्वविकासे सहायका सन्ति।

गृहाश्रम संस्कारः-

गृहाश्रमसंस्कारोऽस्ति यत्र ऐहिकपारलौकिकसुखस्य प्राप्तये उपगम्य निजसामर्थानुसारं परोपकारकरणं नियतकाले च यथाविधीश्वरोपासनाकरणं गृहकृत्यकरणञ्च। सत्यधर्मे एव तन-मन-धनानां यापनं धर्मानुसारं च सन्तानोत्पादनम्।

वानप्रस्थसंस्कारः-

“सः संस्कारो” वानप्रस्थः संस्कारः कथ्यते यदोपगम्य सन्तानानि चोत्पाद्य पूर्णं ब्रह्मचर्येण पुत्रमपि विवहेत्, पुत्रस्यापि पुत्रे जाते तथा पुरुषो वानप्रस्थाधिकारी वर्तते अर्थात् पुत्रस्य पुत्रे जाते पुरुषो वनं गत्वा तपःस्वाध्याययोजीवनं यापयेत्। वानप्रस्थाश्रमस्य समयः पञ्चाशत्तमे वर्षस्योपरान्तो भवति। स्त्री इच्छेच्चेत् पुरुषस्तां सहैव नयेत् नेच्छेच्चेत् तां स्त्रीं ज्येष्ठपुत्रस्य समीपे रक्षेत् पुत्रञ्चैवमुपदिशेत् यत् इमां स्त्रियां जननीं यथावत् सेवेत, निजपत्नीञ्चापि शिक्षेत् यत् त्वं सदैव पुत्रपौत्रादीन् न्याये पथि अवलम्बनाय प्रेरयेः अधर्मात् पृथक्भवनाय शिक्षेः। अस्मिन् संस्कारे कृते व्यक्तिर्वनं गत्वा तपः स्वाध्याये करोति, ये व्यक्तित्वविकासाय आवश्यकतमे वर्तते।

संन्यासाश्रमसंस्कारः-

“संन्यासाश्रमसंस्कारः” सो भवति यदा मनुष्यो मोहादिं, त्यक्त्वा विरक्तो भूत्वा सम्पूर्णपृथिव्यां विचरति। अतैव संन्यासी परिव्राजकोऽपि कथ्यते परितः सर्वतो व्रजति स परिव्राजकः इति निर्वचनात्। स्वामिदयानन्देन संस्कार विधौ संन्यासः, संन्यासी शब्दश्च ब्राह्मण श्रुत्यनुसारेणैवं परिभाषितम्-
सम्यङ्मनस्यन्तर्धर्माचरणानि येन वा सम्यङ्
नित्यसत्कर्मस्वास्त उपविशति स्थिरी भवति
येन सः संन्यासः, संन्यासो विद्यते यस्य सः संन्यासी॥^{३८}

३६ मनुस्मृति-३.९

३७ संस्कार चन्द्रिका, पृ०-१८१

३८ संस्कारविधिः, संन्यासाश्रम प्रकरणम्।

संन्यासग्रहणाय तिस्रो व्यवस्था स्वामिना संस्कारविधौ शास्त्रप्रमाणेन दत्ताः। प्रथमा-ब्रह्मचर्याश्रमं पूर्णं कृत्वा, गृहस्थी भवेत्। गृहस्थात् वानप्रस्थी भवेत्, वानप्रस्थात् संन्यासी भवेत् इयं व्यवस्था क्रमसंन्यास व्यवस्था कथ्यते।

द्वितीय व्यवस्था- यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेद् वनाद् वा (गृहाद् वा)।

अर्थात् यदा दृढवैराग्यं प्राप्नुयात् तदैव संनस्येत, वानप्रस्थाश्रमं अनुष्ठायापि संनस्येत्। यतः संन्यासे दृढ संन्यासे दृढ वैराग्यस्य यज्ञार्थज्ञानस्य च मुख्यप्रयोजनमस्ति। इयं व्यवस्था दृढवैराग्यव्यवस्था कथ्यते।

तृतीय व्यवस्था- ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्।

पूर्णमखण्डितं ब्रह्मचर्यं चरित्वा सत्यवैराग्यवान्, ज्ञानी, विज्ञानी च भूत्वा विषयासक्तिभावनां त्यक्त्वा पक्षपातरहितो भूत्वोपकारं चिकीर्षुर्ब्रह्मचर्याश्रममेव पूर्णं कृत्वा संनस्येत, नास्मै वैराग्यवते गृहाश्रमवानप्रस्थाश्रमौ आवश्यकौ स्तः।

संन्यासी सदैव सम्यग्दृष्ट्वा गच्छेद्, वस्त्रेण पूत्वा जलं पिबेत्, सदैव सत्यां वाक् ब्रूयात्, निष्कपटतया च व्यवहरेत्।^{३९}

संन्यासी सदैव दण्डकमण्डलान् धारयेत्, केशान् नखान्, श्मश्रूणि च क्लृप्तान् कृत्वा सर्वान् प्राणिनोऽपीडयन् नित्यं सर्वत्र विचरेत्।^{४०}

संन्यासी सदैव अहिंसां, सत्यं, अस्तेयं, ब्रह्मचर्यं, अपरिग्रहं इमान् पञ्चयमान्, शौचं, सन्तोषं, तपः, स्वाध्यायं, ईश्वरप्रणिधानञ्च इमान् पञ्च नियमान् च पालयेत् परमानन्दे परमेश्वरे सुखं जीवने सर्वत्र परोपकाराय विहरेत् संन्यासिनो मुख्यानि कर्माणि सन्ति। मोक्षप्राप्तये व्यक्तित्व विकासाय च संन्यासाश्रमो महत्त्वपूर्णो वर्तते। यतोहि संन्यासी नकारात्मिकां विचारसरणिं विहाय आत्मविकासमार्गे सुखेन एधते सदा च निरोगी भवति। रोगाणामुत्पत्तिकारणेषु नकारात्मका विचाराः प्रमुखत्वेन निमित्तकारणा भवन्ति।

अन्त्येष्टि कर्म (अन्त्येष्टि संस्कारः)-

जीवने समाप्ते सति क्रियमाण संस्कारो मनुष्यजीवनस्यान्तिमः संस्कारो भवति। अनेन संस्कारेण सहैव मनुष्यस्य निजैहिकजीवनस्यान्तिमोध्यायः समाप्यते। अयं परलोकस्य सुखाय कल्याणाय वा महत्त्वपूर्णो मन्यते।

मृत्युजाते तस्य बान्धुबान्धवाः, परिचिताः मित्रादयश्च तत्कालं सूचनीयाः भवेयुः। एवं यतनीयं यत् शवो यथाशीघ्रमुत्थापनीयः, यतः प्राणेषु निर्गच्छत्सु एव देहो विक्रियते स च दुर्गन्धियुक्तो भवति। यदि केनचिदपि कारणेन शवोऽधिककालं यावत् रक्षणीयः स्यात् तदा तस्य सुरक्षार्थं प्रयत्नीयम्।

इमं संस्कारमनुसृत्य प्राणेषु निर्गच्छत्सु पश्चात् शवस्तत्कालमेव संस्काराय नेतव्योयतः शरीरात् यद् दुर्गन्धमागच्छति तेन वातावरणं प्रदूष्यते। येन केनापि कारणेन शवः संस्काराय न नयेद्येत् तदा तस्मिञ्छेव चन्दनादीनि सुगन्धीनि पदार्थानि लेपनीयानि। अनेन सुगन्धितपदार्थलेपनेन वातावरणं सुगन्धियुतं भवेत् यतः सुगन्धितवातावरणेन सुविकसित व्यक्तित्वं विकसेत।

यदि मृता स्त्री चेत् तदा स्त्रीभिः, अथः मृतः पुरुषश्चेत् पुरुषैर्मृतदेहस्य स्नानं कारयित्वा चन्दनादीनि सुगन्धीनि पदार्थानि लेपयित्वा नवीन वस्त्राणि च धारयित्वा शरीरस्य भारमनुसारं घृतं सामग्रीं च गृहीत्वा श्मशाने च नीत्वा प्राचीन वेदी न भवेद्येत् वेदी, भूमौ विदध्यात्।

वेद्यां मृतकस्य पादौ दक्षिणदिशायां शिरश्च उत्तरदिशायां भवितव्यम्। वेदी मृतकशरीरात् एकं हस्तं महती भवेत्। वेदीं इष्टिकाभ्यां चित्वा गोमयेन जलेन च मार्जयित्वा तन्मध्ये मृतकशरीरं स्थापयेत् परितश्च काष्ठानि चिनुयात्। तत्पश्चात् घृतस्य दीपकेन कपूरण वा आशिरः पादौ यावत् अग्निं प्रवेशयेत्। पुनः पञ्चघृताहूतीः दत्त्वा^{४१} षोडशाधिकशतममन्त्रैर्घृतस्य सामग्रया चाहुतीः यच्छेत्।^{४२}

पूर्णतः भस्मिन् शरीरे (भस्मिभूते शरीरे) सर्ववस्त्रप्रक्षालनं कृत्वा स्नानं च कृत्वा मृतकस्य गृहे मार्जनलेपनादि पवित्रतां विधाय यजेत्। रात्रिरधिका अवेच्छेत् अल्पैवाहूतीर्दत्त्वान्यस्मिन् अग्रिमे दिने बान्धवो वा श्मशानभूमेरस्थोऽपि चित्तैकत्र स्थाने स्थापयेत्। सम्भवेच्छेत् इच्छानुसारं सामर्थ्यनुसारं पारिवारिकजनाः दानं कुर्युः। अनेन संस्कारेण पर्यावरणं शुद्धं भवति। तच्च स्वास्थ्यकरं भवति। स्वास्थ्यञ्च व्यक्तित्वस्य सर्वाधिकं महत्त्वपूर्णमङ्गमस्ति।

४१ ओ३म् अग्नये स्वाहा-आदि संस्कारविधिः, अन्त्येष्टि प्रकरणम्।

४२ ओ३म् सूर्यो-आदि संस्कारविधिः, अन्त्येष्टि प्रकरणम्।

मनोविज्ञान : भारतीय संदर्भ

डॉ० ब्रजेश कुमार पाण्डेय^१

मनोविज्ञान न केवल दर्शन एवं विज्ञान में सामंजस्य स्थापित करता है, वरन् मनुष्य की मनोगत अनुभूतियों के विश्लेषण की क्षमता प्रदान कर उसके नियमन के उपाय भी सुझाता है। भारत में स्वतन्त्र रूप से मनोवैज्ञानिक विचारों पर आधारित ग्रंथ नहीं लिखे गए हैं, किन्तु मन का विवेचन दर्शन एवं आयुर्वेद दोनों में व्यवस्थित ढंग से हुआ है। विशेषकर योग-दर्शन का प्रमुख प्रतिपाद्य मन ही है क्योंकि वह शरीराधिष्ठित है तो दूसरी ओर आत्मा से भी सम्बद्ध है, क्योंकि वह आत्मा से नियंत्रित होता है। अतः भारतीय परम्परा में शरीर तथा आत्मा से पृथक् करके उसका अध्ययन नहीं हुआ है। मन की एकाग्रता एवं इन्द्रिय-निग्रह रूपी साधनों द्वारा चित्त प्रशान्ति की बात आधुनिक मनोविज्ञान भी स्वीकार करने लगा है। पाश्चात्य विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान में मन के चेतन एवं अचेतन स्तरों का ही अध्ययन किया जाता है, किन्तु भारतीय मनोविज्ञान उससे सूक्ष्म स्तर तक जाकर ऊर्ध्व-चेतन की बात करता है। दार्शनिक एवं मनोवैज्ञानिक दृष्टि से चेतना के ऊर्ध्वगामी होने की भारतीय विवेचना पाश्चात्य मनोविज्ञान की व्याख्या को भी अग्रदृष्टि प्रदान करती है।

मनुष्य का मन उसके समस्त अनुभवों विशिष्ट व्यवहारों, विचारों, क्रियाकलापों, प्रवृत्तियों एवं संवेगों का नियन्त्रक है। मनोविज्ञान उन्हीं मानसिक वृत्तियों, दशाओं एवं क्रियाओं का सुव्यवस्थित एवं क्रमबद्ध अध्ययन है।

विषय के रूप में मनोविज्ञान आधुनिक युग की देन है। इसका अंग्रेजी पर्याय साइकोलाजी लैटिन के दो शब्दों Psyche (साइके) तथा लोगस (Logus) से बना है। प्रथम का अर्थ है आत्मा और दूसरे का अर्थ है ज्ञान या शास्त्र। इस अर्थ में मनोविज्ञान का तादात्म्य अध्यात्मशास्त्र से हो जाता है। इसलिए पाश्चात्य मनोविज्ञान को बहुत समय तक दर्शन का अंग माना जाता रहा तथा इसे मानसिक दर्शन कहा गया।^२ टिचनर, गेस्टाल्ट, पिल्सवरी आदि पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों ने मनोविज्ञान को संवेदना, प्रतिभा, भावना तथा चेतना आदि से जोड़ा और उसे मानव व्यवहार का विज्ञान बताया। वुडवर्थ ने मनोविज्ञान को व्यक्ति की क्रियाओं का विज्ञान कहा है।^३

व्यक्ति की क्रियाओं से वुडवर्थ का तात्पर्य केवल शारीरिक क्रियाओं से नहीं प्रत्युत ज्ञानात्मक एवं भावात्मक क्रियाओं से हैं। मानसिक क्रियाओं को उसने तीन भागों में विभाजित किया - ज्ञान, भावना एवं क्रिया। व्यक्ति के परिवेश से सम्बन्धित क्रियाओं के अध्ययन के कारण मनोविज्ञान के विभिन्न विभाग बन गए, यथा- समाज मनोविज्ञान, व्यक्ति मनोविज्ञान तथा शिशु मनोविज्ञान आदि।

मनोविज्ञान न केवल दर्शन एवं विज्ञान में सामंजस्य स्थापित करता है वरन् मनुष्य की मनोगत अनुभूतियों के विश्लेषण की क्षमता प्रदान कर उसके नियमन के उपाय भी सुझाता है। भौतिक उपभोगवादी

^१ उपाचार्य, संस्कृत विभाग, राजकीय महिला महाविद्यालय, हल्द्वानी नैनीताल, उत्तराखण्ड।

^२ We have Already pointed out that Psychology originated from philosophy. As problems of philosophy, Psychological concepts were defined, described and developed by philosophers. Prof J.C. Benergee, Fundamentals of modern Psychology P.27.

^३ Psychology can be defined as the science of the activities of the Individuals. Woodworth & Marluise's Psychology P.2

संस्कृति से उत्पन्न सामाजिक, सांस्कृतिक एवं पारिवारिक जटिलताओं ने जिस प्रकार मनुष्य के मन पर प्रभाव डाला है तथा अनेक जटिल मनोग्रंथियों को जन्म दिया है। उस परिप्रेक्ष्य में मनोविज्ञान का अध्ययन और भी प्रासंगिक हो उठता है।

यद्यपि मनोविज्ञान का पृथक् अध्ययन पाश्चात्य परम्परा की देन है तथा भारत में स्वतन्त्र रूप से मनोवैज्ञानिक विचारों पर आधारित ग्रंथ नहीं लिखे गए हैं, किन्तु मन का विवेचन दर्शन एवं आयुर्वेद दोनों में व्यवस्थित ढंग से हुआ है। विशेषकर योग-दर्शन का प्रमुख प्रतिपाद्य मन ही है क्योंकि वह शरीराधिष्ठित है तो दूसरी ओर आत्मा से भी सम्बद्ध है, क्योंकि वह आत्मा से नियंत्रित होता है। अतः भारतीय परम्परा में शरीर तथा आत्मा से पृथक् करके उसका अध्ययन नहीं हुआ है। अतः अनुभूति या अन्तःकरण को वास्तविक ज्ञान का आधार मानने के कारण भारतीय मनोविज्ञान को आधुनिक मनोविज्ञान धर्मविज्ञान या दर्शन मान लेता है, किन्तु दूसरी ओर यह भी सत्य है कि पश्चिम के मनोवैज्ञानिक भी आत्मा (Self) के संबन्ध में विचार करने लगे हैं।

सांख्य एवं योग दर्शन तथा आयुर्वेद में मन या चित्त के सूक्ष्म स्तरों का विवेचन हुआ है। योग मनुष्य में निहित असीम क्षमता के संवर्द्धन एवं उन्नयन का मार्ग बताता है जिसका तात्त्विक लक्ष्य समस्त दुःख संतापों से शरीर एवं मन को रहित कर आनन्दमय प्रज्ञा का प्राप्त करना है। वैराग्य संयम एवं समाधि द्वारा अपने स्वरूप की उपलब्धि ही परम प्राप्त्य है।^४ मन की एकाग्रता एवं इन्द्रिय-निग्रह रूपी साधनों द्वारा चित्त प्रशान्ति की बात आधुनिक मनोविज्ञान भी स्वीकार करने लगा है। पाश्चात्य विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान में मन के चेतन एवं अचेतन स्तरों का ही अध्ययन किया जाता है, किन्तु भारतीय मनोविज्ञान उससे सूक्ष्म स्तर तक जाकर ऊर्ध्व-चेतन की बात करता है।

मन का ज्ञानेन्द्रियों से बहुत घनिष्ठ संपर्क है। मन से निर्दिष्ट होकर ही इन्द्रियाँ अपने विषयों को ग्रहण करती हैं।^५ इसलिए मन सुख दुःखादि के साक्षात्कार का साधनभूत है।^६ आचार्य चरक के अनुसार चिन्तन करना, विचार करना, ऊहापोह करना, संकल्प करना तथा अन्य सुख दुःखादि का मनन करना मन के विषय हैं।^७

योगवाशिष्ठ में कहा गया है कि मन सर्वशक्तिमान् विराट् चेतन की इच्छा का एक स्वरूप है - एक स्पन्दन है। महर्षि पतंजलि ने तो चित्तवृत्तियों के निरोध को ही योग कहा है।^८ चित्तवृत्तियाँ पाँच हैं प्रमाण, विपर्यय, विकल्प निद्रा, स्मृति।^९ मन की अवस्थाओं के विचलन तथा उनके संयमन का अध्ययन ही तो मनोविज्ञान है। समस्त योगदर्शन चित्तवृत्तियों का सूक्ष्म एवं वैज्ञानिक विश्लेषण करता है।

योग में जिन पाँच चित्तभूमियों^{१०} की चर्चा है वे किसी न किसी रूप में मन की अवस्थाओं के संदर्भ में आधुनिक मनोविज्ञान में भी स्वीकार्य हैं। मन चूँकि सभी इन्द्रियों का नियन्त्रक है अतः इन्द्रियों को विषयों में प्रवृत्त करने के साथ ही उनके हिताहित का विचार करना भी उसी के कार्य हैं। महर्षि चरक कहते हैं कि संभावनाओं के

४ अभ्यासवैराग्यां तन्निरोधः। - योगसूत्र, समधिपाद १२

५ तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्। - योगसूत्र १.३

६ मनःपुरःसराणि इन्द्रियाणि अर्थग्रहणसमर्थानि भवन्ति।

७ सुखाद्युपलब्धिसाधनमिन्द्रियं मनः। - तर्कसंग्रह

८ चिन्त्यं विचारमूलं च ध्येयं संकल्पमेव च। यत्किंचित्त्वनसो ज्ञेयं तत्सर्वं ह्यर्थसंज्ञकम्॥ चरक सं० १.२०

९ योगश्चित्तवृत्तिः निरोधः। - योगसूत्र १.२

१० प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः।

११ क्षिप्तं मूढं विक्षिप्तमेकाग्रं निरुद्धमिति चित्तभूमयः॥ योगसूत्र व्यास भाष्य १.१

प्रति तर्क वितर्क करना मन के अधिकार क्षेत्र में आता है।^{१२} मुख्य रूप से मनोवृत्तियाँ दो हैं - इच्छा और द्वेष। जिन विषयों के प्रति मन की विशिष्ट अभिलाषा होती है वे इच्छा के अंतर्गत हैं तो द्वेष में विषयों से अप्रीति होती है। आचार्य सुश्रुत ने क्रोध, शोक, भय, हर्ष, विषाद, ईर्ष्या, दैन्य, काम आदि को इच्छा एवं द्वेष का भेद बताया है।^{१३} इच्छा एवं द्वेष के निर्दिष्ट भेद से प्रभावित होकर ही मनुष्य का स्वभाव निर्धारित होता है - उसके प्रवृत्ति भेद का आकलन होता है तथा उसमें उत्पन्न मनोविकारों एवं उनके नैदानिक उपायों का अन्वेषण होता है।

सांख्य दर्शन की सृष्टि प्रक्रिया पर विचार करने से यह प्रतीत होता है कि यह समस्त विवेचन वस्तुतः मानसिक स्तरों का ही विश्लेषण है। सांख्य के अनुसार सृष्टि की उत्पत्ति का क्रम है - प्रकृति से महत् (बुद्धि), महत् से अहंकार एवं अहंकार से सोलह गण (जिनमें मन की भी गणना है)।^{१४} प्रकृति से आशय यदि स्वभाव से लेते हैं अथवा इसे चतुर्दिक् परिवेश से जोड़ते हैं, तब भी यह पूरी प्रक्रिया मानसिक स्तर पर ही घटित होती प्रतीत होती है। मन ज्ञान का एक कर्ण है जो उभयात्मक है^{१५} जिसके बिना ज्ञानात्मक अवबोध संभव ही नहीं। ज्ञान की प्रक्रिया में इन्द्रियाँ अपने अनुभूत प्रत्यय को मन तक पहुँचाकर निवृत्त हो जाती हैं। मन संकल्प कर अहंकार को प्रत्यय प्रेषित करता है और तब अहंकार बुद्धि को निश्चय करने के लिए भेज देता है। मन सावधान हो तभी ज्ञान संभव हो पाता है। अन्यथा इन्द्रियों का विषयों से संपर्क होने पर भी कई बार अन्यमनस्कता के कारण ज्ञान उत्पन्न ही नहीं होता।

भारतीय दार्शनिकों में मन, अन्तःकरण एवं चित्त के पारिभाषिक विनिश्चय में मतभेद पाया जाता है। कहीं तो तीनों का समानार्थक प्रयोग है तो कहीं भिन्नार्थक। सांख्य योग में मन को इन्द्रियमात्र बताया गया है, किन्तु पतंजलि^{१६} एवं भाष्यकार व्यास^{१७} दोनों ने ही चित्त के अर्थ में मन का प्रयोग किया है। यह प्रयोग इनकी पारस्परिक अनुस्यूति के कारण हो सकता है।

आयुर्वेद ने मन और शरीर में घनिष्ठ सम्बन्ध बताया है। दोनों में किसी एक के रुग्ण होने पर दूसरे पर भी उसका प्रभाव पड़ता है और वह भी स्वस्थ नहीं रह पाता।^{१८} अतः शरीर पोषण के लिए जिन आहार द्रव्यों को आवश्यक एवं श्रेष्ठ बताया गया है वे मन, बुद्धि के भी पोषक हैं। मन के तीनों गुण सत्त्व, रजस, तमस् आहार से भी प्रभावित होते हैं।^{१९} इसलिए तो गीता में आहार के भी सात्त्विक, राजस एवं तामस तीन भेद किए गए हैं तथा मनुष्यों की मनोवृत्ति का विश्लेषण इसी आधार पर हुआ है।^{२०} छान्दोग्य उपनिषद् में बताया गया है कि खाए गए

१२ इन्द्रियाभिग्रहः कर्म मनसः स्वस्य निग्रहः। ऊहो विचारश्च परं ततः बुद्धिः प्रवर्तते॥ चरक सं० १.२

१३ मानसास्तु कामशोकभयहर्षविषादेष्ट्याभ्यसूयादैन्यमात्सर्यकामलोभप्रभृतय इच्छाद्वेषभेदैर्भवन्ति। सुश्रुत सूत्र १.२५.३

१४ प्रकृतेर्महास्ततोऽहंकारस्तमाद्रणश्च षोडशकः॥ सांख्य का० २२

१५ उभयात्मकमत्र मनः। सां० का० २७, सुश्रुत सं० १.६

१६ धारणासु च योग्यता मनसः। योगसूत्र २.५३

१७ विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिः निबन्धिनी। व्यास भाष्य ९.३५

१८ शरीरमनुविधीयते सत्त्वं, सत्त्वं च शरीरम्।

१९ चरक सं० २७.३

२० श्रीमद्भगवद्गीता १७.८-१०

अन्न के अणु (सूक्ष्म) अंश से मन का पोषण होता है।^{११} चरक ज्ञान, विज्ञान, धैर्य, स्मृति तथा समाधि का मन को पोषक मानते हैं।^{१२}

मन की तीन अवस्थाओं का उल्लेख मिलता है - जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति। चित्त रूपी संस्कारभूमि में व्यस्त स्मृति विशेष के कारण स्वप्न की निर्मिति होती है। सुषुप्ति में स्वप्न दृश्य का भी अभाव हो जाता है। सुषुप्ति वस्तुतः शरीर एवं मन की प्रगाढ़ विश्रान्ति की स्थिति है।^{१३}

पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक फ्रायड ने स्वप्न को मनुष्य के अवचेतन में निहित दमित इच्छाओं की अभिव्यक्ति माना है, किन्तु प्रत्येक स्वप्न की व्याख्या इस आधार पर करना न तो उचित है और न संभव। स्वयं पाश्चात्य विद्वान मैकडॉनल ने इसका खण्डन किया है। भारत में आयुर्वेद के विद्वानों ने भी स्वप्न के संदर्भ में विचार किया है।

मनोविज्ञान मन की सुखात्मक एवं दुःखात्मक प्रतीति के आधार पर अनुभूति का विश्लेषण करता है।^{१४} वाचस्पति मिश्र भी प्रतीति की अनुकूलता एवं प्रतिकूलता को क्रमशः सुख एवं दुःख के रूप में परिभाषित करते हैं।^{१५}

संस्कार एवं वासना

मनोवैज्ञानिक अर्थ में संस्कार का तात्पर्य है चित्त पर अंकित अनुभवजन्य प्रत्यय। ग्रामोफोन या सीडी पर अंकित बातों की तरह संस्कार भी चित्त में सन्निविष्ट रहते हैं तथा देश काल परिस्थिति के अनुरूप उद्बुद्ध हो जाते हैं। सादृश्य, अदृष्ट, चिन्ता आदि स्मृति के बीज संस्कार के उद्बोधक होते हैं।^{१६}

कार्यों, अनुभूतियों के संस्कार अनेक रूपों में हमारे मानस में एकत्र रहते हैं, किन्तु जब उनकी परिणति होती है तो वे वासना का रूप ले लेते हैं। मनोशारीरिक अवस्थाएँ जब मन की विभिन्न वृत्तियों के रूप में जन्म लेती हैं तो वे वासना कहलाती हैं।

संस्कार एवं वासनाएँ ही विभिन्न मनःस्थितियों, मनोभूमियों को जन्म देती हैं। हमारे अवचेतन में अनेक संस्कार एवं वासनाएँ सुप्तावस्था में रहती हैं। मन पर इन सबका प्रभाव पड़ता है। अतः मन की स्थितियों पर नियन्त्रण या मानसिक दुरवस्थाओं का नियमन ही चित्त में प्रशान्ति उत्पन्न कर सकता है। जब तक मन है तभी तक संसार है।^{१७} इसलिए मन को बन्धन एवं मोक्ष दोनों का कारण माना गया है।^{१८} किन्तु मन अत्यन्त चंचल एवं अस्थिर है।^{१९} अतः भारतीय मनीषा मनोजय की कल्पना करती है तथा एतदर्थ उपाय सुझाती है। अभ्यास एवं

२१ अन्नमशितं त्रेधा विधीयते, तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तस्य पुरीषं भवति, यो मध्यमस्तन्मांसं योऽणिष्ठस्तन्मन इति। छान्दोग्य

६.५.१

२२ मानसो ज्ञानविज्ञानधैर्यस्मृतिसमाधिभिः। चरक सं० १.५८

२३ बृहदारण्यकोपनिषद् २.१.१९, ४.३.२१

२४ 'Under feelings we include all pleasurable and painful conditions of Mind - Sully, outlines of

Psychology P20

२५ अनुकूलवेदनीयं सुखं। प्रतिकूलवेदनीयं दुःखम्। सां तत्त्वकौमुदी

२६ सादृश्यादृष्टचिन्ताद्याः स्मृतिबीजस्य बोधकाः।

२७ मनोमात्रं जगत्, मनःकल्पितं जगत्। छान्दोग्य

२८ मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः। विष्णु पुराण ६.७

२९ चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम्। गीता ६.३४

वैराग्य से ही मनोजय संभव है।^{३०} आकर्षण, विकर्षण, विचलन, अवसाद, अहंकार, वासनाएँ, इच्छाएँ - सब मन की स्थितियाँ हैं और इसी को वश में करना मनुष्य का लक्ष्य है। व्यक्तिगत एवं सामाजिक उन्नयन भी इसी से संभव है। गीता में संयत मन से युक्त हो सभी कामनाओं के प्रति निस्पृहता की चर्चा है।^{३१} भारतीय दार्शनिक एवं मनोवैज्ञानिक दृष्टि से चेतना के ऊर्ध्वगामी होने की विवेचना पाश्चात्य मनोविज्ञान की व्याख्या को भी अग्रदृष्टि प्रदान करती है।

आधुनिक मनोविज्ञान की एक शाखा असामान्य मनोविज्ञान (Abnormal Psychology) तथा उससे उत्पन्न नैदानिक मनोविज्ञान (Clinical Psychology) के अध्ययन के प्रसंग में भी भारतीय मनोवैज्ञानिक चिन्तन पर ध्यान देना जरूरी है। मनुष्य की व्यवहारगत मनोदैहिक समस्याओं के मूल में परिवारजन्य, सामाजिक, शैक्षणिक, भावनात्मक एवं स्थायिक कारण हो सकते हैं। इसलिए आधुनिक मनोविज्ञान जनन विज्ञान (Genetics), जैव रसायन विज्ञान (Bio-Chemistry), समाजविज्ञान (Sociology), मानव विज्ञान (Anthropology) एवं पारिस्थितिकी (Ecology) सबसे स्वयं को सम्बद्ध करने का प्रयास कर रहा है।^{३२} शरीर में होने वाले हार्मोनल परिवर्तन मनुष्य के दैहिक एवं मानसिक स्तर को परिवर्तित कर देते हैं। सेरोटोनिन की कमी तनाव, चिन्ता एवं अंततः अवसाद की ओर ले जाती है। योग मनोविज्ञान एकाग्रता एवं प्राणायाम, प्रत्याहार तथा ध्यान- धारणा के द्वारा न केवल शरीर एवं मनोगत आधि-व्याधियों के कारणों के मूल को न्यूनतम करता है, वरन् जीवन को आदर्श से अनुप्राणित कर एक 'स्वस्थ' अर्थात् ऊर्जस्वित चेतना के निर्माण में सहायता प्रदान करता है।

योग के अष्ट अंगों में यम^{३३} नियम^{३४} के परिपालन से सामाजिक आचार एवं व्यक्तिगत आचरण को संयमित एवं नियमित किया जा सकता है। आसन एवं प्राणायाम स्नायु एवं मन दोनों को सबल एवं कार्यक्षम बनाते हैं - यह स्थापित सत्य है। राग, द्वेष, क्रोध आदि संवेगों से मन को आहरित करने का अभ्यास ही तो प्रत्याहार है। वैचारिक संतुलन स्थापित होते ही ध्यान एवं एकाग्रता का अभ्यास सुदीर्घ होने लगता है। भारतीय मनोविज्ञान न केवल व्यक्तिगत संवेगों, संवेदनाओं एवं समाज से उनके तारतम्य पर विचार करता है वरन् उनके नियमन का मार्ग बता कर मनोदैहिक एवं सामाजिक विकृतियों की चिकित्सा का क्रियात्मक पक्ष प्रस्तुत करता है। वस्तुतः मनोविज्ञान का भारतीय परिप्रेक्ष्य मन के अध्ययन द्वारा 'उन्मन' बनाने की प्रक्रिया है।

३० अभ्यासवैराग्यम तन्निरोधः। योगसूत्र १.१२

३१ गीता ६.१८

३२ असामान्य मनोविज्ञान, तिवारी एवं वशिष्ठ, पृष्ठ ११५

३३ अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः यमाः। योगसूत्र २.३०

३४ शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः॥ योगसूत्र २.३२

अभ्यंगः उत्कृष्ट वात शमनोपाय

डॉ० सुनील कुमार जोशी^१

परिभाषा- अभितः अञ्ज्यते अनेन इति अभ्यंजनाद्ध स एव अभ्यंगः जिससे सब ओर आक्त या स्निग्ध किया जाता है। अभ्यंग स्नेहों के द्वारा किया जाता है। स्नेह के लेपन का नाम है- अभ्यंग अर्थात् स्नेह को उस स्थान पर लगा देना। अभ्यंग का अर्थ शरीर पर तैलादि लगाना है। वस्तुतः अन्य सभी लेपों द्वारा उद्धर्तन, मर्दन आदि विधि से भी कुछ अन्तर से अभ्यंग ही किया जाता है। 'अंज्' धातु गति के अर्थ में प्रयुक्त है। 'अभि' उपसर्ग से अभ्यंग बनता है। इसका शब्दशः अर्थ है- कुछ गतियाँ कराना। तैल-वसादि स्नेहों को शरीर पर रगड़कर हाथ से उन स्नेहों को अच्छी तरह शोषणार्थ गतियाँ ही की जाती हैं। हाथ द्वारा शरीर पर स्नेह को लगाकर विभिन्न दिशाओं में मलने-लगाने की क्रिया को अभ्यंग कहते हैं।

निरुक्ति- अभि + अंज् - घञ् कुत्वम्। तैलादिमर्दनं।^२ 'अंज्' धातु में 'अभि' उपसर्ग तथा 'घञ्' प्रत्यय लगकर अभ्यंग शब्द बनता है। तेल की मालिश, तैल-मर्दन, स्नेहन

१. किसी तेल या चिकने पदार्थ को शरीर पर मलना, तेल की मालिश २. मालिश लेप ३. उबटन। संस्कृत-शब्दार्थ-कौस्तुभ के अनुसार- अभ्यंग (पु.) शरीर में तेल मलना। तैल मर्दन। अभ्यंग (वि.) हाल ही में चिह्न किया हुआ। नवीन चिह्नित।

अभ्यंग की विधि

केवलं सामदोषेषु न कथंचन योजयेत्।

सन्तर्पणसमुत्थानां रोगाणां नैव कारयेत्।^३

सुखोष्ण, सुगन्धि, वातघ्न, ऋतु दोषादि के अनुकूल तेल लेकर सुखपूर्वक धीरे-धीरे अनुलोम गति से शरीर पर मलना अभ्यंग है।

अथ जातान्नपानेच्छो मारुतघ्नैः सुगन्धिभिः।

यथर्तुसंस्पर्शसुखैस्तैलैरभ्यंगमाचरेत्।^४

जब शरीर स्वस्थ हो एवं अन्नपान की इच्छा उत्पन्न हो गई हो तो सुगन्धित एवं वातनाशक तैलों द्वारा शरीर पर अभ्यंग करना चाहिए।

शिरःश्रवणपादेषु तं विशेषेण शीलयेत्।^५

अभ्यंग सिर में, पाँव में और कान वर (कर्णपूरण) विशेषतः करना चाहिए। सिर में अभ्यंग के लिए शीत स्नेह या सुखोष्ण स्नेह का प्रयोग करना चाहिए। सिर इन्द्रियायतन है और प्रधान मर्म है। अतः उसे उष्णता से

१ अपर चिकित्साअधीक्षक, राजकीय आयुर्वेदिक कॉलेज एवं चिकित्सालय, गुरुकुल काँगड़ी हरिद्वार

२ वाचस्पत्यम्, प्रथम भाग, पृष्ठ ३०९

३ सु.चि. २४:३५-३७.

४ अ.स.सू. ३:५५

५ अ.ह.सू. २:८

बचाना चाहिए। हाथ-पाँव इत्यादि भागों पर उष्ण स्नेहों से अभ्यंग करना चाहिए। इसी तरह शीत ऋतु में उष्ण तेलों से एवं उष्ण ऋतु में शीत तेलों से अभ्यंग करना उचित है। दीर्घाकार वाले अवयवों; यथा- हाथ-पाँव पर अनुलोमतः ऊपर से नीचे की ओर; संधिस्थान, जैसे- कूर्पर, अंस, जानु, गुल्फ एवं कटि में वर्तुलाकार अभ्यंग करना चाहिए। अभ्यंग का मुख्य उद्देश्य भीतर के अवयवों की गतियों को उत्तेजित करना है। प्रत्येक अवयव का अभ्यंग अच्छी तरह हो, इसके लिए निम्न अवस्थाओं में रोगी का अभ्यंग करना चाहिए- १. पाँव सीधा रखकर बैठाकर, २. पीठ के बल लिटाकर, ३. वाम पार्श्व में लिटाकर, ४. वक्ष एवं उदर के बल लिटाकर, ५. दक्षिण पार्श्व पर लिटाकर, ६. पुनः पीठ के बल लिटाकर।

अभ्यंग काल एवं भेद

अभ्यंग इत्यादि। अभ्यंगोऽत्र सकलदेहस्य स्नेहाभ्यंगः। भृजा शुद्धप्रभा, वर्णो गौरादिः। स्नेहस्य सिरामुखादिभिः शरीरसन्तर्पणकालं केचिदत्र पठन्ति- 'रोमान्तेष्वनुदेहस्य स्थित्वा मात्राशतत्रयम्। ततः प्रविशति स्नेहश्चतुर्भिर्गच्छति त्वचम्॥ रक्तं गच्छति मात्राणां शतैः पंचभिरेव तु। षड्भिर्मांसं प्रपद्यते भेदः सप्तभिरेव च॥ शतैरष्टाभिरस्थीनि मज्जानं नवभिर्ब्रजेत्। तत्रस्थांछमयेद्रोगान् वातपित्तकफात्मकान्' इति।^६

तीन सौ मात्रा (लगभग ९५ से.) तक अभ्यंग करने से स्नेह त्वचा के रोमान्त में पहुँचता है। ४०० मात्रा (लगभग २४० सें.) तक करने से अस्थि में स्नेह पहुँचता है। इस तरह अभ्यंग में ५ मिनट लगते हैं। अतः सर्वशरीर अभ्यंग अच्छी तरह हो; इसलिए उपर्युक्त प्रत्येक अवस्था में २ मि. से ५ मि. तक अभ्यंग करना चाहिए। इस तरह कुल १५ मिनट तक अभ्यंग करना हितकर है। यदि एकांग पर, हाथ, पाँव, सिर इत्यादि पर ही अभ्यंग करना हो तो कम-से-कम १५ मिनट तक अवश्य करना चाहिए। एक स्वस्थ व्यक्ति के लिए पाँच मिनट का यह क्रम प्रतिदिन स्नानादि पूर्व अभ्यंग के लिए अनुकूल है। रोगावस्था में इससे अधिक अपेक्षित है। अभ्यंग के बाद १५ मिनट तक विश्राम करना चाहिए। फिर गरम पानी में कपड़ा डुबोकर पानी निचोड़कर अभ्यक्त भाग पर धीरे-धीरे रख कर स्वेद लेना चाहिए। तत्पश्चात् उष्णोदक से स्नान करना चाहिए।

पादाभ्यंग-

खरत्वं स्तब्धता रौक्ष्यं श्रमः सुमिश्र पादयोः। सद्य एवोपशाम्यन्ति पादाभ्यंगनिषेवणात्॥

जयते सौकुमार्यं च बलं स्थैर्यं च पादयोः। दृष्टि प्रसादं लभते मारुतश्चोपशाम्यति॥

न च स्याद् गृध्रसीवातः पादयोः स्फुटनं न चा न शिरास्त्रायुसंकोचः पादाभ्यंगेन पादयोः॥^७

पाँव पर अभ्यंग करने से पाँव की खरता, तल पाँव में दरारे पड़ना, स्तब्धता, रूक्षता दूर होती है। पाँव की थकावट दूर होती है और पाँव स्थिर एवं मजबूत होते हैं। पाँव कोमल रहते हैं। दृष्टि प्रसादयुक्त रहती है। पादाभ्यंग करने वाले को कभी गृध्रसी नहीं होती। इससे पाँव कभी नहीं फटते तथा शिरा एवं स्नायु का कभी संकोच नहीं होता।

शिरोऽभ्यंग- सिर पर तेल का मालिश करना शिरोऽभ्यंग है, इसमें शीत या मन्द सुखोष्ण तेल का प्रयोग करना चाहिए। प्रायः सर्वाभ्यंग में भी सिर का ही अभ्यंग प्रारम्भ किया जाता है। सिर इन्द्रियों का मूल है और प्रधान मर्म है। सिर पर अभ्यंग करने से शिरो रोग दूर होते हैं। सिर का पोषण होता है। मुख की त्वचा कोमल

६ सु.चि. २४:३०, डल्हण टीका

होती है। इन्द्रियों का तर्पण होता है। सुश्रुत ने सिर के अभ्यंग के लिए चक्र तेल को श्रेष्ठ बताया है। वाग्भट ने सिर की रूक्षता, सिर में खुश्की और मल के जमा होने पर सिर का अभ्यंग करने का निर्देश किया है।

अभ्यंग के गुण

अभ्यङ्गो मार्दवकरः कफवातनिरोधनः।

धातूनां पुष्टिजननो मृजावर्णबलप्रदः॥^८

सम्पूर्ण शरीर पर स्नेह का अभ्यंग त्वचा को कोमल करता है, कफ, वायु का नाश करता है। रसादि धातुओं को पुष्ट करता है। त्वचा को शुद्धि एवं बल और वर्णदायक होता है।

अभ्यङ्गमाचरेन्नित्यं स जराश्रमवातहा।

दृष्टिप्रसादपुष्टयायुःस्वप्नसुत्वक्त्वदार्ढ्यकृत्॥^९

१. जराहर- नित्य अभ्यंग करने से धातुओं को बल प्राप्त होता है।
२. श्रमहर- मांसपेशियों में होने वाली थकावट अभ्यंग से दूर होती है।
३. वातहर- स्नेह गुणों से यह वात को नष्ट करता है।
४. दृष्टिप्रसादकर- आँखों की रोशनी बढ़ाता है।
५. पुष्टिकर- सभी धातुओं को बढ़ाकर शरीर को पुष्ट करता है।
६. आयुष्यकर- धातुदाढ्यकर होने से आयु बढ़ाता है।
७. स्वप्नकर- अभ्यंग से अच्छी नींद आती है।
८. त्वक्दार्ढ्यकर- त्वचा को कोमल तथा दृढ़ बनाता है।
९. क्लेश-सहत्व- अभ्यंग से दृढ़ शरीर अनेक कष्टों को सहन करने में समर्थ होता है।
१०. अभिघात-सहत्व- अभ्यंग करने वाले को चोट लगने पर विशेष कष्ट नहीं होता है।
११. कफ-वातनिरोधक- सुश्रुत ने अभ्यंग को कफ, वात दोनों का निरोधक बताया है।
१२. मृजावर्ण-बलप्रद- अभ्यंग से त्वचा की शुद्धि होती है एवं बल बढ़ता है।

अभ्यंग में प्रयोग होने वाले स्नेह

तत्र प्रकृतिसाम्यर्तुदेशदोषविकारवित्।

तैलं घृतं वा मतिमान् युंयादभ्यङ्गसेकयोः॥^{१०}

सुश्रुत ने तेल, घी या अन्य किसी स्नेह द्रव्य से प्रकृति, ऋतु, साम्य, दोष, देश, रोग के आधार पर अभ्यंग का निर्देश किया है। सामान्यतः तेल, घी और वसा का प्रयोग किया जाता है।

अभ्यंग की कार्मुकता

१. पर्शुकाओं के भग्न में- सुश्रुत ने पर्शुकाओं के भग्न में रोगी को सीधा खड़ा करके घी का अभ्यंग करने के लिए बताया है। दक्षिण या वाम पार्श्व की पर्शुकाओं में मांस रज्जुओं पर घी का अभ्यंग

करके ऊपर से कवलिका (बाँस के खप्पच पर रुई की गद्दी रखकर) वस्त्रपट्ट से अच्छी तरह से बाँध देते हैं। रोगी को तेल भरे टब में लिटाते हैं।

२. भग्नकर्ण में- सुश्रुत ने भग्नकर्ण में अभ्यंग का प्रयोग बताया है। भग्न कर्ण को ठीक से बाँध कर प्रचुर घृतयुक्त मधु से अभ्यंग परिषेक आदि करते हैं।
३. अश्मरी की शल्य चिकित्सा में- सुश्रुत में अश्मरी की शल्य-चिकित्सा के अन्तर्गत भी अभ्यंग का प्रयोग बताया है।
४. अश्मरी व्रण में-अश्मरी व्रण में लोध्र, मंजीठ, कमल- इनके कल्क को व्रण पर लेप करते हैं, इन्हीं में हल्दी मिलाकर इनसे तैल या घृत सिद्ध करके व्रण पर अभ्यंग करते हैं।
५. मूढगर्भ के शल्यकर्म के अन्तर्गत- सुश्रुतसंहिता में मूढ गर्भ के शल्यकर्म के अन्तर्गत अभ्यंग का उपयोग बताया है। इसमें अपरा के निकलने के बाद गरम पानी से स्नान कराने के बाद शरीर पर तैलाभ्यंग करने के लिए बताया गया है।
६. बालकों में कर्णपाली को बढ़ाने के लिए- बालकों में कर्णपानी के छोटे और कठोर होने पर कुछ विशेष प्रकार के स्नेहों का प्रयोग बताया गया है।
७. बद्धगुदोदर तथा परिस्त्रावी उदर के रोगियों में अभ्यंग का प्रयोग बताया गया है। इसमें रोगी को स्नेहन, स्वेदन देकर नाभि के नीचे अभ्यंग करके, नाभि के वाम पार्श्व में रोमराजी से चार अंगुल बचाकर, चार अंगुल उदर को चीरकर, आँतो को निकालकर बद्धगुदा में आँत को रोकनेवाले मल आदि को देखकर, उसको दूर करके घी और मधु से आँतों का अभ्यंग करके आँतों को ठीक स्थान पर बिठा देते हैं।
८. जो अंग संकुचित हो गया हो, जिसमें पीड़ा हो या जो अंग स्थिर (जड़) बन गया हो, उस अंग पर क्षौम (रेशमी), कपास के वस्त्र अथवा ऊन की पट्टियाँ कसकर बाँध देते हैं या अच्छी प्रकार स्नेह अभ्यंग करके साल्वण से उपनाह देकर अंग को बिल्ली, नेवला, चूहा या हरिण की खाल से बनी थैली में रख देते हैं।
९. वातरोगियों के लिए स्नेह, स्वेद, अभ्यंग आदि का सेवन करने के लिए बताया गया है।
१०. वातरक्त के रोगियों में भी अभ्यंग, उपनाह, परिषेक, प्रदेह आदि को हितकर बताया गया है।
११. खीरा, बहेड़ा, चिरौंजी- इनके तेलों को काकोल्यादि गण के साथ दस गुने दूध में सिद्ध करते हैं। यह स्नेह भगनों को शीघ्र ही स्वस्थ करता है। यह अभ्यंग, पान, नस्य, परिषेचन आदि कर्म में उत्तम है।
१२. पक्षाघात के रोगी में अणु तैल का प्रयोग बताया गया है।
१३. कफ, प्रबल-वातरक्त में मस्तु, गोमूत्र, सुरा, शुक्त, मुलहठी, सारिवा और पद्माख से सिद्ध घी से अभ्यंग करते हैं। पित्तप्रबल वातरक्त में जीवनीय गण से सिद्ध घृत से अभ्यंग करना चाहिए।
१४. त्वक् रोगवाले व्यक्तियों में वज्र तेल का अभ्यंग करना चाहिए।
१५. वातकुष्ठ रोगियों में दशमूल से सिद्ध घृत या तेल का प्रयोग करना चाहिए।
१६. श्वित्र तथा मुण्डरीक कुष्ठ में भी अभ्यंग बताया गया है। बड़ी कठगूलर एवं छोटी कठगूलर- इन दोनों के मूल एक पल देकर सोलह पल पानी में क्वाथ करते हैं एवं चौथाई शेष रहने पर इस

क्वाथ को ग्रीष्मकाल में या (दोपहर में) गरम क्वाथ पीकर धूप में बैठते हैं और सरसों के तेल का अभ्यंग करते हैं। ऐसा करने से छाले उत्पन्न होते हैं; फिर चीते या हाथी की खाल को जलाकर इस राख का आवर्तकी मूल से सिद्ध तेल में मिलाकर छाले फूटने पर लेप करते हैं।

१७. सुश्रुतसंहिता में एक विशेष प्रकार के तेल का वर्णन है। काले तिलों को सात दिन तक रात्रि में नदी के बहते जल में रखते हैं और दिन धूप में सुखाते हैं, फिर सात दिन तक गाय के दूध में इसे भावित करते हैं, तीसरे सप्ताह में मुलहठी के क्वाथ से भावना देते हैं, फिर चौथे सप्ताह पुनः गाय के दूध से भावित कर सुखाकर चूर्ण कर लेते हैं। इसमें काकोल्यादि गण के द्रव्य मुलहठी, मंजीठ, सारिवा, कूठ, राल, जटामांसी, देवदारु, चन्दन, सौंफ- इनके समभाग चूर्ण को तिल के चूर्ण में (समान भाग) मिलाते हैं। फिर एलादि गण से सिद्ध दूध से इस चूर्ण को गिला बनाकर इन तिलों से तेल निकालते हैं। इस तेल को चार गुने दूध के साथ इलायची, शालपर्णी, तेजपत्र, जीवक, झिण्टी, क्षीरविदारी, सारिवा, मधूलिका, सिंघाड़ा, पूर्वोक्त औषधियाँ (काकोल्यादि से लेकर सौंफ तक) इनके कल्क के साथ मृदु अग्नि पर तैल सिद्ध करते हैं। यह तैल भग्न व्यक्तियों के सभी कार्यों में पथ्य है। जो व्यक्ति आक्षेपक, पक्षाघात, तालुशोष, अर्दित, मन्यास्ताम्भ, शिरोरोग, तिमिररोग, कर्णशूल अनुग्रह से पीड़ित है, उनमें पान, अभ्यंग, नस्य और बस्ति के रूप में पथ्य है।

१८. सुश्रुत संहिता में नील घृत का वर्णन है। इसके पीने से दोष, धातुओं में स्थित तथा अभ्यंग से त्वचा में स्थित एवं असाध्य कुष्ठ भी अच्छा होता है।

१९. वज्रक तेल के मलने से पाड़ीव्रण, दुष्टव्रण नष्ट होते हैं।

२०. वृकोदर रोगी में वातहर तेल का अभ्यंग निर्दिष्ट है।

२१. योनि के सन्तर्पण में अभ्यंग पीने में, वस्ति में, भोजन में, बला तेल का प्रयोग बताया गया है।

२२. सुश्रुतसंहिता में इन्द्रलुप्त में चमेली, कनेर, चित्रक, करंज से सिद्ध किया तैल अभ्यंग के लिए बताया गया है।

२३. अरुणिका तथा दारुण रोग में अभ्यंग का प्रयोग बताया गया है।

२४. परिकर्तिका में भी अभ्यंग का प्रयोग बताया गया है।

२५. वातजन्य ओष्ठप्रकोप में मोममिश्रित घी, तेल, वसा और मज्जा- इन चार प्रकार के स्नेह का अभ्यंग बताया गया है।

२६. सुश्रुतसंहिता में सिर के रोगों के लिए शिरोऽभ्यंग का प्रयोग बताया गया है।

२७. कानों में तेल डालने पर कर्णशूल नष्ट होता है।

२८. वमन के अतियोग में उपद्रवस्वरूप आँख के पलट जाने पर आँखों पर घी का अभ्यंग लगाकर दबाने के लिये बताया गया है।

२९. विरेचन के अतियोग के कारण गुदा के बाहर निकल आने पर गुदा पर अभ्यंग कर तथा स्वेदन कर गुदा अन्दर दबाने के लिए बताया गया है।

३०. कर्णशूल, कर्णप्रणाद, बाधिर्य और कर्णक्षेद- इन चारों रोगों में रोगी को स्नेह, पान एवं अभ्यंग से स्निग्ध करके वातहर द्रव्यों से स्वेद देकर एरण्ड तेल, बादाम रोगन आदि स्नेह द्रव्यों से विरेचन देते हैं।
३१. सुश्रुतसंहिता में कर्णशूलनाशक कुछ स्नेह तथा सिद्ध तेल कान में डालने के लिए बताया है, यथा- चौलाई की जड़, अंकोठ का फल, झिण्टी, केन्द्रकमूल, चीड़, देवदारु, लहसुन, सोंठ, बाँस के छिलके- इनके कल्क से घी, तेल, वसा, मज्जा; इन चार प्रकार के स्नेह को दही, तक्र, सुरा, चक्र तथा मातुलुंग रस में पकाकर इसे वेदना की शांति के लिए कर्णपूरण में प्रयुक्त किया जाता है। बकरी और भेड़ के मूत्र में बाँस का छिलका कल्क रूप में डालकर घी को पकाते हैं, यह घृत कर्णशूल वाले रोगी के कान में डालते हैं।
३२. बाधिर्य रोग के लिए- गाय के मूत्र में बिल्व को पीसकर तैल पकाते हैं। इस तेल को कान में डालते हैं।
३३. नासानाह में बला तेल का पान, अभ्यंग, शिरोविरेचन आदि बताया गया है।
३४. बरगद आदि कषाय वृक्षों के क्वाथ में काकोल्यादि मधुर द्रव्यों का कल्क मिलाकर तेल सिद्ध करते हैं। यह तेल बालकों में अभ्यंग के लिए प्रयुक्त करते हैं।
३५. कूठ, राल, गुग्गुलु, जटामांसी और गिरि कदम्ब (अपराजिता)- इनके कल्क से अभ्यंग के लिए तैल सिद्ध करते हैं।

चरकसंहिता में वर्णित अभ्यंग का प्रयोग-

- १- अपस्मार रोगी में अभ्यंग- सरसों का तेल एक भाग एवं बकरे का मूत्र चार भाग दोनों को मिलाकर तैल पाक करते हैं। इस तेल से अपस्मार रोगी को अभ्यंग कराते हैं।
- २- पुनरावर्तक ज्वर में भी अभ्यंग का प्रयोग बताया गया है।
- ३- अर्शों में अभ्यंग प्रयोग-काले साँप की वसा या बिल्ली की चर्बी-इनमें से किसी एक को लेकर रोगी के अर्शिकुरों में मसल देते हैं, उसके बाद मनुष्य के सिर के बालों, साँप की केचुल, बिल्ली की त्वचा, मदार की जड़ से मस्सों के ऊपर धुआँ देते हैं।
- ४- ज्वर में अभ्यंग- यदि रोगी को दाह हो रहा हो, तो उसको शान्त करने के लिए हजार बार धोये हुए गाय के घी अथवा चन्दनादि तैल का अभ्यंग करना चाहिए।
- ५- दाह-ज्वर में अभ्यंग-यदि रोगी को दाह हो रहा हो तो, तो उसको शान्त करने के लिए हजार बार धोये हुए गाय के घी अथवा चन्दनादि तैल का अभ्यंग करना चाहिए।
- ६- पित्तज गुल्म में अभ्यंग-पित्तप्रधान गुल्म में पित्तजनित दाह की शांति के लिए वासाघृत से, चन्दनादि तेल से अथवा मुलेठी के योग से तैयार किये गये तेल से अभ्यंग कराना चाहिए।
- ७- रक्तपित्त में-रक्तपित्त में भी अभ्यंग का विधान बताया गया है।

वाग्भट के अनुसार- अभ्यंग करने से दग्ध, भग्न तथा क्षत से उत्पन्न पीड़ा नष्ट हो जाती है। शस्त्रादि से चोट लगने पर अभ्यंग आदि का प्रयोग करने के लिए बताया है। पैरों में अभ्यंग करने से पैरों की मजबूती, अच्छी निद्रा एवं ज्योति बढ़ती है। इससे शरीर सुखी, बिनाई फटना आदि दूर होते हैं।

शैषज्यरावली में वर्णित अभ्यंग में प्रयोग आने वाले तेल तथा घृत

१. अंगारक तैल- जीर्ण ज्वर या पुरातन विषम ज्वर में जब विशेषतः शीत कम्प वेदना, जीर्ण ज्वर में शीत आदि वातिक लक्षणों के साथ शोथ या रक्तहीनता आदि होने पर अभ्यंग कराया जाता है।
२. लाक्षादि तैल- इसके अभ्यंग से ज्वर तथा उसमें उत्पन्न होने वाला दाह एवं शीत नष्ट हो जाता है।
३. बृहत् लाक्षादि तैल- इस तैल का अभ्यंग वातव्याधि को नष्ट करता है। सब विषम ज्वरों को शीघ्र शान्त कर देता है। कास, श्वास, प्रतिश्याय, कण्डू (खुजली), शरीरदौर्गन्ध्य, शरीर का भारीपन, त्रिक, सन्धिशूल, पृष्ठशूल (पीठ का दर्द), गात्रदाह आदि रोगों को नष्ट करता है।
४. कट्वर तैल- ज्वर में इस तेल से मर्दन करने से शीत तथा दाह दोनों नष्ट होते हैं। पुराने वातिक, वातपैत्तिक, वात-कफज, निराम ज्वर में जब हल्का बुखार रहता हो, देह रूक्ष हो, पसीना न आता हो, रोगी को शीतानुभव हो, कफ कष्ट से निकलता हो, तब इसका मर्दन करना चाहिए।
५. बृहत् कट्वर तैल- इसके प्रयोग से भी विषम ज्वर नष्ट होते हैं।
६. बृहत् पिप्पल्यादि तैल- इसका मर्दन करने से जीर्ण ज्वर नष्ट होता है।
७. भूनिम्बाद्य तैल- इस तेल से अभ्यंग करने से सन्तत एवं सतत, धातुगत, मज्जागत, अस्थिगत, आठों प्रकार का ज्वर तथा ग्रहणी, अतिसार, कामला, हलीमक, प्लीहावृद्धि, यकृद्रोग, पाण्डु, शोथ तथा जीर्ण ज्वर नष्ट होता है।
८. चन्दनबलालाक्षादि तैल- इस तेल का अभ्यंग करने से रस-रक्तादि धातुओं की वृद्धि होती है तथा कास, श्वास, छर्दि, प्रदर, रक्तपित्त, पित्तविकार, कफविकार, दाह, कण्डू, विस्फोट, शिरोरोग, नेत्ररोग, दाह, पक्षाघात, नपुंसकता, शोथ, कामला, पाण्डुरोग तथा सब प्रकार के ज्वर नष्ट हो जाते हैं।
९. बिल्व तैल- इस तेल के मर्दन से मन्दाग्नि, विविध प्रकार की ग्रहणी, अतीसार, अरुचि, अर्श, श्लोपद, अन्त्रवृद्धि, कफ-वातजन्य शोथ, गुल्म, पाण्डु, मक्कलशूल आदिरोग नष्ट होते हैं। इस तेल का वातिक, श्लैष्मिक, वात-श्लैष्मिक ग्रहणी में पेट पर हलके हाथ से मालिश करना चाहिए।
१०. ग्रहणीमिहित तैल- इस तेल के अभ्यंग से वलि, पलित, अतिसार, समस्त ग्रहणी, ज्वर, पिपासा, हिक्का, उपद्रवयुक्त कोष्ठपीड़ा, अर्श, कामला, प्रमेह, शोथ, प्रवृद्ध शूल आदि नष्ट होते हैं।
११. दाडिमाद्य तैल- यह तेल अभ्यंग के द्वारा ग्रहणी, प्रमेह, अर्श आदि को नष्ट करता है। किसी भी ग्रहणी के पुराना होने पर जब वायु की प्रबलता होती है तो पेट और सारे देह पर इसका अभ्यंग कराया जाता है।
१२. महामाष तैल- इस तेल का पान, वस्ति, अभ्यंग, नस्य, कर्णपूरण (कान में डालना), अक्षिपूरण (आँख में डालना) आदि में प्रयोग किया जाता है।
१३. सप्तशक्तिक प्रसारणी तैल- एकांगशोषी, वातरक्त से पीड़ित तथा जिस पुरुष का अस्थिभंग या सन्धिभंग हो गया हो उनमें इसका प्रयोग करना चाहिए। इस तैल का वस्ति पंगुता, अभ्यंग तथा नस्य द्वारा प्रयोग करने से विभिन्न प्रकार के वातज रोग शान्त होते हैं।

१४. एकादश शतिक प्रसारणी तैल- पान, अभ्यंग, नस्य द्वारा इसका प्रयोग करने से विभिन्न प्रकार के वातज रोग शान्त होते हैं।
१५. अष्टादशशतिक प्रसारणी तैल- इसके अभ्यंग से त्वचागत वातरोग नष्ट होता है।
१६. त्रिंशती प्रसारणी तैल- इस अभ्यंग, वस्ति, पान, नस्य द्वारा प्रयोग करते हैं। इसके प्रयोग से गृध्रसी, अस्थिभंग आदि में लाभ होता है।
१७. पुष्परज प्रसारणी तैल- इसका प्रयोग पान, अभ्यंग एवं नस्य के रूप में करते हैं। इसके प्रयोग से हनुग्रह, शिरोरोग, भग्न एवं खंजता, पंगुता एवं विविध प्रकार की वात वेदनाएँ एवं वात रोग नष्ट होते हैं।
१८. महाविषगर्भ तैल- इस तेल के लेपन से छाती, ऊरु, कमर तथा जंघा आदि के सन्धिभंग में संधान होता है।
१९. बृहत् गुडूची तैल- इसका वातरक्त में पान, अभ्यंग और नस्य द्वारा प्रयोग करते हैं। इसके प्रयोग से वातरक्त, उदावर्त, विसर्प, नाडीव्रण, भगन्दर, कण्डू आदि नष्ट होते हैं।
२०. पिण्ड तैल- इस तेल के मर्दन से वातरक्त नष्ट होता है।
२१. महापिण्ड तैल- इस तेल के मर्दन से वातरक्त, आमवात, भगन्दर आदि नष्ट होते हैं।
२२. विषतिन्दुक तैल- वातव्याधि, वातरक्त, विवर्णता एवं अन्य त्वचा के दोष शान्त होते हैं।
२३. रुद्र तैल- इसका मर्दन करने से वातरक्त, पामा, विचर्चिका, कण्डू, छाया, मर्महीन नाडीव्रण आदि नष्ट होते हैं।
२४. सैन्धवाद्य तैल- इस तेल का पान, अभ्यंग एवं नस्य द्वारा प्रयोग करते हैं। इसके प्रयोग से आमवात, कृमि, गुल्म, प्लीहा, उदररोग, पक्षाघात, सन्धिवात आदि नष्ट होते हैं।
२५. बृहत सैन्धवाद्य तैल- पान, अभ्यंग तथा वस्ति द्वारा इसका प्रयोग करते हैं। मूत्रकृच्छ्र, अश्मरी, अन्त्रवृद्धि आदि नष्ट होते हैं।
२६. द्वितीय सैन्धवाद्य तैल- इसका अभ्यंग अन्त्रवृद्धि, भगन्दर, नाडीव्रण में लाभदायक है।
२७. शूलगजेन्द्र तैल- इसका मर्दन करने से शूल की शान्ति होती है।
२८. बिन्दुघृत- इसका नाभि पर अभ्यंग करने से विरेचन हो जाता है।
२९. शुष्कमूलाद्य तैल- इसके मर्दन से शूलयुक्त शोथ नष्ट होता है।
३०. बृहच्छुष्कमूलकाद्य तैल- इसके अभ्यंग करने से भी शोथ शान्त होता है।
३१. सिद्धार्थक तैल- जिनके अंग संकुचित हो गये हैं। उनके लिए इस तेल का प्रयोग किया जाता है। इसका मर्दन करने से सन्धिगत वात, एकांगशोष तथा सकम्प गति आदि वातरोग नष्ट होते हैं।
३२. हिमसागर तैल- ऊँचे स्थान से गिरने पर पत्थर आदि से चोट लगने पर तथा प्रकुपित वातजन्य वेदना को यह तैल दूर करता है।
३३. वायुच्छाया सुरेन्द्र तैल- वात रोगों में इसका मर्दन करना लाभकारी होता है।
३४. महाबला तैल- वात से क्षीण, मर्महत (मर्म पर चोट लगी हो), अभिहत (जिसे चोट लगी हो), भग्न आदि के रोगियों में इसका प्रयोग उत्तम है। अन्त्रवृद्धि में ख

ठीक हो जाता है। सुश्रुतोक्त यह योग सूतिका के वायुनाशार्थ, योनितर्पण, अभ्यंग, वस्ति आदि कर्मों में प्रयुक्त होता है।

३५. माष तैल-खल्ली, खंज आदि अंगसंकोच में इसका अभ्यंग बताया गया है।
३६. माषतैल प्रथम-पक्षाघात में इसका अभ्यंग बताया गया है।
३७. महाकुक्कुटमांस तैल-इस तैल के मर्दन से सब पक्षाघात, अर्दित, हनुग्रह, अण्डवृद्धि, आन्त्रवृद्धि, वातरक्त आदि रोग नष्ट होते हैं।
३८. बृहत् कासीसाद्य तैल-इस तैल को अर्श पर लगाने से मांसांकुर गिर जाते हैं।
३९. कासीसाद्य तैल- इस तैल में मदार का दूध मिलाकर अर्श पर लगाने से अर्श नष्ट हो जाता है।
४०. धूस्तूर तैल-इस तैल को सिर पर अभ्यंग करने से जुएँ नष्ट होते हैं।
४१. पुनर्नवा तैल-इस तैल के अभ्यंग से पाण्डु, कामला, हलीमक, प्रमेह, कास, श्वास, भगन्दर, प्लीहा, उदर, जीर्ण ज्वर नष्ट होते हैं।
४२. दूर्वाद्य घृत- रोमकूपों में यदि रक्त, पित्त प्रवृत्त हो तो इस तैल का अभ्यंग करते हैं।
४३. स्वल्पचन्दनादि तैल- इसका प्रयोग राजयक्ष्मा, कास, गर(संयोगविष) आदि में अभ्यंग करने के लिये बताया गया है।
४४. वासाचन्दनाद्य तैल- इसका मर्दन करने से कास, ज्वर, रक्तपित्त, पाण्डु, हलीमक, कामला, क्षतक्षीण, राजयक्ष्मा, पाँचों प्रकार के श्वास आदि में लाभ करता है।
४५. पलंकषाद्य तैल-इस तैल के अभ्यंग से अपस्मार दूर होता है।
४६. विष्णु तैल-अश्मरी, आन्त्रवृद्धि, गलगण्ड, वातरक्त आदि में इसका मर्दन करने से लाभ होता है।
४७. बृहद् विष्णु तैल-इस तैल का मर्दन करने से ऊर्ध्व वात, अंगुलिग्रह(अंगुलि का वात के कारण स्तब्ध एवं वेदनायुक्त होना), शिरोगत वात, मन्यास्तम्भ, गलग्रह तथा सन्धि एवं मज्जागत वातरोग नष्ट होते हैं।
४८. शैलेवाद्य तैल- इस तैल के लगाने से भी शोथ में लाभ होता है।
४९. समुद्रशोष तैल-इसके मर्दन से भी शोथ की शान्ति होती है।
५०. छुच्छुन्दरी तैल-गण्डमाला रोग में लाभकारी होता है।
५१. सिन्दुरादि तैल- गण्डमाला नाशक है।
५२. गुंजाद्य तैल- इसके अभ्यंग से नाड़ीव्रण, अर्श तथा अर्बुद नष्ट होते हैं।
५३. जात्यादि घृत/तैल-व्रण का शोधन एवं रोपण करता है।
५४. गोराद्य घृत/तैल-व्रण नाशक है।
५५. बृहत् जातिकाद्य तैल-यह शोधन तथा रोपण करता है।
५६. करंजाद्य घृत-इसके बाह्य प्रयोग से दुष्टव्रण, नाड़ीव्रण आदि नष्ट होते हैं।
५७. पाटली तैल-इसको लगाने से दग्ध व्रण की वेदना, स्राव, दाह, विस्फोट नष्ट होते हैं।
५८. मंजिष्ठाद्य तैल-इसको लगाने से अग्निदग्ध व्रणों का रोपण होता है।
५९. चक्र तैल-भग्न पर इसका मर्दन किया जाता है।
६०. गन्ध तैल- भग्न रींगी के लिए इसका अभ्यंग बताया गया है।

६१. स्वर्जिकाद्य तैल- इस तैल का प्रयोग नाड़ीव्रण में किया जाता है।
 ६२. कुम्भीकाद्य तैल- इसके पान, अभ्यंग से नाड़ीव्रण नष्ट होता है।
 ६३. निशाद्य तैल- इसके बाह्य प्रयोग से भगन्दर शान्त होता है।

अभ्यंग का निषेध-

केवलं सामदोषेषु न कथंचन योजयेत्। तरुणज्वर्यजीर्णौ च नाभ्यक्तव्यौ कथंचन॥

तथा पिरक्तो वान्तश्च निरूढो यश्च मानवः। पूर्वयोः कृच्छ्रता व्याधेरसाध्यत्वमथापि वा॥

शेषाणां तदहः प्रोक्ता अग्निमान्द्यादयो गदाः। सन्तर्पणसमुत्थानां रोगाणां नैव कारयेत्^{११}

आमयुक्त दोषों में अकेला स्नेह (असंस्कृत स्नेह) का किसी भी अवस्था में प्रयोग नहीं करना चाहिए। नव-ज्वर रोगी और अजीर्ण रोगी को कभी अभ्यंग नहीं कराना चाहिए। इसी प्रकार वमन, विरेचन और निरूह वस्ति के पश्चात् भी अभ्यंग नहीं कराना चाहिए। इसमें अभ्यंग कराने से रोग कष्टसाध्य सा असाध्य हो जाते हैं। अन्य रागियों में अग्निमान्द्य हो जाता है। सन्तर्पणजन्य रोगों में भी अभ्यंग नहीं कराना चाहिए।

भैषज्यरावली में अतिसार से पीड़ित रोगी को स्नान, अभ्यंग, जलावगाहन, गुरु तथा स्निग्ध भोजन, व्यायाम आदि छोड़ देने के लिए बताया गया है।

वर्ज्योऽभ्यंगकफग्रस्तकृतसंशुद्धयजीर्णभिः॥^{१२}

अष्टांगहृदयकार ने भी कफप्रधान रोगों में, जिसके शरीर का शोधन किया गया हो, एवं अजीर्ण रोगी में अभ्यंग का निषेध किया है।

११ सु.चि. २४:३५-३७

१२ अ.ह.सू. २:९

आधुनिक शिक्षाव्यवस्था और वाल्मीकि रामायण

डॉ. ब्रह्मदेव^१

आर्यावर्त में शिक्षा की उन्नतावस्था और उसका प्रयोजन

आर्यावर्त^२ की शिक्षा दीक्षा सर्वदा उच्च परम्पराओं से सम्बलित और पृथिवी के सभी चिन्तकों को दिव्यदृष्टि देने वाली रही है। इसीलिए यहाँ का समाज उन्नत और सुसमृद्ध रहा।^३ यही नहीं विश्व का प्रबुद्धवर्ग भी चुम्बक की तरह आकृष्ट हुआ यहाँ दौड़ा चला आता था।^४ यहाँ के ऋषि, मुनियों ने सर्वजन हितार्थ वेदों की मान्यताओं, शिक्षाओं के अनुरूप^५ समाज को सुव्यवस्थित करने के लिए श्रेष्ठ मर्यादाओं का बीजारोपण किया, जिन्हें वर्णाश्रम व्यवस्था कहा गया। इस व्यवस्था में कर्तव्यकर्म ही मुख्यता रखता है, वही मानवीय मूल्यों को शिक्षा की दृढ़ भित्ति पर उत्कृष्ट से उत्कृष्टतर और उत्कृष्टतम बनाता हुआ मानवों में आदर्शों के आधार पर गुण, कर्मानुसार भिन्नता को प्रदर्शित करता है।^६ मानव-जीवन के चतुर्विध प्रयोजन धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की अवधारणा की पूर्ति करना शिक्षा का मूल उद्देश्य रहा, इनमें भी अन्तिम पुरुषार्थ मोक्ष के लिए प्रयत्न मुख्यरूपेण किए जाते थे,^७ अन्य पुरुषार्थ जीविका के साधन मात्र थे। अतः आचारधर्म पर विशेष ध्यान दिया जाता था।^८ इसीलिए भारतीय चिन्तन के अनुसार शिक्षा का स्वरूप दयानन्द के शब्दों में कहें तो इसप्रकार हो सकता है - जिस से विद्या, सभ्यता, धर्मात्मा, जितेन्द्रियतादि की बढ़ती होवे और अविद्यादि दोष छूटें उस को शिक्षा कहते हैं।^९ शिक्षा के ऐसे आदर्शोन्मुखी उद्देश्य जहाँ होंगे वहाँ की समाजव्यवस्था चरमोत्कर्ष को प्राप्त होगी ही, जिसका मूर्तरूप संस्कृतवाङ्मय में पद-पद पर दृग्गोचर होता है।

ब्राह्मणों की स्वार्थबुद्धि और आलस्य के कारण समाज व शिक्षा की अधोगति

उक्तानुरूप चातुर्वर्ण्य स्व-स्व कर्तव्यों में निरत रहता हुआ जीवन के परम लक्ष्यभूत आनन्दतत्त्व को प्राप्त करने के लिए यथासामर्थ्य जब तक प्रयत्न करता रहा तब तक समाज में सौहार्द, कृतज्ञता, निरभिमानिता, आचरण

१ उपाचार्य, संस्कृत-विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

२. मनुस्मृति २.२२, आसमुद्रां तु वै पूर्वादासमुद्रां तु पश्चिमात्। तयोरेवान्तरं गिर्योरायावर्तं विदुर्बुधाः॥

३. वाल्मीकिरामायण (गीताप्रेस सं०) १.६.६, तस्मिन् पुरवरे हृष्टा धर्मात्मानो बहुश्रुताः। नरास्तुष्टा धनैः स्वैः स्वैरलुब्धाः सत्यवादिनः॥ इसप्रकार के उद्धरण वाल्मीकिरामायण और महाभारत जैसे ऐतिह्य ग्रन्थों में भरे पड़े हैं, जो आर्यावर्त की सुसमृद्धि की कहानी पदे-पदे कहते हैं।

४. मनु० २.२०, एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः। स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

५. ऋग्वेद १०.९०१२, यजुर्वेद ३१.११, ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः। ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥

६. गीता ४.१३, चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।

७. यजुर्वेद ३१.१८, तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।

८. मनुस्मृति १.१०८, आचारः परमो धर्मः।

९. सत्यार्थप्रकाश के अन्त में दत्त स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश में शिक्षा की परिभाषा।

में उद्यता आदि गुण और सभी मानवों में दीर्घायुष्य के साथ सुख वैभव की समृद्धि रही,^{१०} परन्तु महाभारत का काल आते-आते सत्यनिष्ठ, त्यागी, तपस्वी, अपरिग्रही ब्राह्मण में उत्कृष्टता का बीजारोपण करने वाले ज्ञान, कर्म, श्रेष्ठ विद्वानों और ईश्वर की उपासना, शम, दम, दया आदि गुण^{११} आलस्य, प्रमाद और स्वार्थों के वशीभूत होकर कर्तव्यकर्मों से विरत होने से आई न्यूनताओं के कारण पलायन करने लगे, जिससे वेदाध्ययन की परम्परा क्षीण हो गई और इसका स्थान भोजनभट्टता ने ले लिया।^{१२} जाति से ब्राह्मण कहलाने वालों में ही यह कर्तव्यहीनता आज अनवरतरूप में प्रायः देखी जाती है, ऐसे में अन्य जनों का तो क्या कहना? जब कि वही कर्तव्यकार्यो हेतु दिशानिर्देश देने वाले वेदादिशास्त्र हैं, वही ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडंगो वेदोध्येयो ज्ञेयश्च^{१३} जैसी मान्यताएँ हैं। इनके होते हुए भी स्वाध्याय से विमुख होने के कारण मानव की अद्यतनीया दुर्गति हुई। तभी तो आज का जात्यभिमानी ब्राह्मण वेदाध्ययन के बिना शूद्र कर्म करता हुआ भी चतुर्वेदी, त्रिवेदी, द्विवेदी आदि शब्दजालों से अपने आप को अभिषिक्त करता हुआ किंचिन्मात्र भी नहीं संकुचाता। जहाँ वैदिक परम्परा में ब्राह्मण की गुणगरिमा और महिमा के समक्ष समस्त समाज नत होता था^{१४}, वहीं गुणों से रहित होने पर भी ब्राह्मणों ने अपने आप को मक्कारी और फरेब से पूज्य और देवता कहलवाने का षड्यन्त्र मनुस्मृति आदि ग्रन्थों में प्राप्त अविद्वांश्चैव विद्वांश्च ब्राह्मणो दैवतं महत्, सर्वथा ब्राह्मणाः पूज्याः परमं हि दैवतं हि तत्^{१५} जैसे प्रक्षिप्त श्लोकों के माध्यम से कर दिया, जिससे दुराचारी और मूर्ख भी जन्मना ब्राह्मण होने के कारण ब्राह्मण कहला रहा है, जबकि शास्त्रों में स्पष्टतः गुण, कर्म, स्वाभावादि ब्राह्मणत्व आदि के निर्धारक कहे गये हैं।^{१६}

ऐसी परिस्थितियों में जब समाजरूपी शरीर के शीर्षस्थानीय ब्राह्मणों, शिक्षकों, आचार्यों में वे चिरपरिचित शम, दम, तितिक्षा, कर्तव्यनिष्ठता आदि गुणधर्म नहीं रहे तो समाज के अन्य अंगभूत मानवों में, जिन्हें आज विभिन्न जन्मना जातियों से जाना जाता है, विकृतियाँ आना अस्वाभाविक न था। उसे कौन रोक सकता था? उसीप्रकार से जिसप्रकार शरीर के प्रमुख ज्ञानतन्तुओं के केन्द्रबिन्दु सिर, मस्तिष्क में खराबी आ जाए तो शरीर के अन्य अंगों को कहाँ तक दूषित होने से बचाया जा सकता है। यदि कहा जाए कि यह सर्वथा असम्भव है, तो अत्युक्ति नहीं होगी। परिणामतः समाज विभिन्न जातियों में बाँट दिया गया और कुछ अस्पृश्य तक करार दिए गए, लेकिन क्या पाँवों के बिना शरीर की सुस्थिति की परिकल्पना की जा सकती है? कदाचित् नहीं।

१०. वा० रा० १.६.१७-१८, वर्णेष्वग्रचतुर्थेषु देवतातिथिपूजकाः। कृतज्ञाश्च वदन्त्याश्च शूरा विक्रमसंयुताः ॥ दीर्घायुषो नराः सर्वे धर्मं सत्यं च संश्रिताः। सहिताः पुत्रपौत्रैश्च नित्यं स्त्रीभिः पुरोत्तमे ॥

११. शुक्रनीतिसार १.४०, (व्याख्याकार- स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती, प्रका०- ऋषिदेवी रूपलाल कपूर धर्मार्थ ट्रस्ट, बहालगढ, सोनीपत), ज्ञानकर्मोपासनाभिर्देवताराधने रतः। शान्तो दान्तो दयालुश्च ब्राह्मणश्च गुणैः कृतः॥

१२. (क) भारतीयसमाजशास्त्र (पं० धर्मदेव सिद्धान्तालंकार, आर्यसाहित्यमण्डल लि०, अजमेर, सं० १९८९ वि०) पृ० ४३ व ७४ (ख) मनुस्मृति ५.४, अनभ्यासेन वेदानामाचारस्य च वर्जनात्। आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्रांजिघांसति॥

१३. महाभाष्य पस्पशाह्निक, व्याकरणाध्ययन के मुख्य प्रयोजनों में उल्लिखित।

१४. द्र० वाल्मीकिरामायण, महाभारत, शाकुन्तल आदि के आश्रमों के प्रसंग, जहाँ राजा भी सर्वथा विनीतभाव से आश्रमस्थ गुरुजनों के समक्ष नत हुआ देखा जाता है।

१५. मनुस्मृति ९.३१७, ३१९

१६. शुक्रनीतिसार १.३८, न जात्या ब्राह्मणश्चात्र क्षत्रियो वैश्य एव न। न शूद्रो न च वै म्लेच्छो भेदिता गुणकर्मभिः।

भविष्यपुराण, ब्राह्मपर्व ४४.३१, शूद्रोऽपि शीलसम्पन्नो ब्राह्मणादधिको भवेत्। ब्राह्मणो विगताचारः शूद्राद्धीनतरो भवेत्। मनुस्मृति १०.६५, शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्। क्षत्रियाच्चात्मेति तं सिद्धाद्वैश्यात्तमेति च॥

साम्प्रतिक शिक्षा के उद्देश्य, पद्धति और दोष

वर्तमानयुगीन शिक्षा के उद्देश्य केवल अर्थप्राप्ति और तद्द्वारा विषयोपभोगों को प्राप्त करना या कहिए भौतिकसंसाधनों को अपनी मौजमस्ती के लिए जुटाना मात्र है और उसी से समस्त लोगों को सुख शान्ति प्राप्त करवाने के उपाय किये जाते हैं। भौतिक संसाधनों को जुटाने के लिए नित नये कारखाने खोले जा रहे हैं। अर्थ का अधिक से अधिक आगम कैसे हो उसी की चिन्तनायें देश और विश्व स्तर पर की जाती हैं। शिक्षा का उद्देश्य केवल मानव को साक्षर करना और तद्द्वारा भोजन, वस्त्र तथा मकान किंचित् सुविधा से प्राप्त हो जायें - इस चिन्तन धारा को कुछ गति देना है। अत एव प्रत्येक गाँव तक में विद्यालय की सुविधा सरकारी व निजी स्तर पर विद्यमान है।

साम्प्रतिक शिक्षाप्रणाली में बाह्य चमक दमक को विशेष महत्त्व प्राप्त है। विशेषकर निजी विद्यालयों में लोगों को आकृष्ट करने के लिए साजसज्जा पर विशिष्ट ध्यान दिया जाता है। बच्चों के स्वास्थ्य, भोजन, वस्त्रों और पाठशाला की सफाई सुचारु हो इसकी चिन्ता की जाती है। बच्चे अधिक से अधिक अंक परीक्षा में कैसे अर्जित करें वे उपाय अभिभावकों और अध्यापकों द्वारा किये जाते हैं तथा उसी के माध्यम से आजीविका प्राप्ति के उपायों की खोज भी होती है। अच्छी से अच्छी सर्विस कैसे प्राप्त की जा सकती है, इसके लिए मन मस्तिष्क के घोड़े दौड़ाये जाते हैं। अतः पढ़ने हेतु मुख्य विषय विज्ञान और गणित को ही सीखने के लिए बल दिया जाता है। अन्य विषयों को भी स्पर्श किया जाता है लेकिन सब को एक साथ। भाषाओं को महत्त्व किंचित् ही दिया जाता है। इस शिक्षाप्रणाली में क्या दोष हैं, यदि इनका परिगणन किया जाये तो वे सामाजिक और वैयक्तिक रूप से बहुसंख्य होंगे। यथा-

- इस शिक्षा प्रणाली में सामाजिक दृष्टि से देखा जाए तो सबसे बड़ा दोष यह है कि इसमें राष्ट्र के अर्थ और समय का अपव्यय, वातावरण की प्रदूषण से हानि सबसे अधिक होती है, जिससे बचा नहीं जा सकता। अर्थहानि और समयहानि इस दृष्टि से कि प्रत्येक प्रातः शहरों में बच्चों को माता पिता विद्यालय में भेजने के लिए तैयार करते हैं। फिर विद्यालय में आवागमन के लिए ऑटो, बस या निजी वाहन विशेष की इन्तजार में न्यून से न्यून पन्द्रह मिनट से आधा घण्टा या अधिक दोनों समय अभिभावक ही प्रतिदिन नष्ट करते हैं। बच्चों के समय की हानि भी आवागमन में कई घण्टों में प्रत्येक दिन होती है। इसप्रकार प्रतिदिन के समय की हानि एक राष्ट्र के लिए कितनी महंगी पड़ती है वह वर्णनातीत है। विद्यालय की फीस का खर्च, वाहनों का खर्च और उनसे होने वाला वायु और ध्वनि प्रदूषण प्रतिदिन की दृष्टि से एक ही छोटे से शहर में ही लाखों का पड़ता है, मास और वर्षों की गणना अरबों खरबों में होगी जिसका सही अनुमान लगाना भी कष्टसाध्य है, लेकिन प्राचीन भारतीय आश्रम व्यवस्था में इस प्रकार का कोई रोग नहीं। श्रेष्ठ, आचान्, अध्यात्मनिष्ठ गुरुओं, जिनकी परिकल्पना संस्कृत साहित्य में उपलब्ध है, के पास भेजे जाने पर निश्चिन्तता आती है और पारिवारिक जन स्वकर्तव्यकर्म

सम्यक् कर पाते हैं। ऐसा होने पर देश का समय, सम्पत्ति और वातावरण की शुद्धता बनी रह सकती है। विद्यार्थी भी निश्चिन्त हो विद्याध्ययन कर सकता है।

- अपने वाहनों तथा सार्वजनिक वाहनों से विद्यालय में आने जाने वाले छात्रों की अनेक बार दुर्घटनाएँ भी होती हैं, जिसमें हर वर्ष न जाने कितनी जानें जाती हैं और कितने अपंग होते हैं। किसी कारण से विद्यालय से आने में विलम्ब हुआ तो माता पिता के चिन्ता के कारण प्राण सूख जाते हैं।
- गलत संगत के कारण बच्चे विद्यालयों में न जाकर आवारागर्दी करते रहते हैं और माता पिता सोचते हैं वह विद्यालय पढ़ने गया है। पॉकेट मनी भी गलत आदतों को पालने में एक कारण बनती है।
- इस प्रणाली में एक यह दोष है कि छात्र की किसी प्रकार की कोई दिनचर्या नहीं बन पाती। कभी वह प्रातः पाँच बजे बिस्तर छोड़ता है तो कभी सात और आठ बजे। रविवार को तो वह उठना ही नहीं चाहता और जहाँ शरीर को बलिष्ठ होना चाहिए था, वह रोगग्रस्त होता चला जाता है। न शारीरिक व्यायाम में कोई रुचि हो पाती, न प्राणायाम या आत्मचिन्तन। परिणामस्वरूप मानसिक बीमारियों को भी नित्य निमन्त्रण।
- प्रतिस्पर्धा के इस दौर में ट्यूशन की बीमारी भी बहुत भयंकर है। ऐसे में बच्चे विद्यालय और ट्यूशन के बीच में कितना समय और रुपया बर्बाद करते हैं, वह किसी से छुपा नहीं। ऐसे बच्चों का बचपन भी नष्टप्रायः हो जाता है, उनका ठीक से शारीरिक और मानसिक विकास भी नहीं हो पाता, युवा होते होते बूढ़े हो जाते हैं।
- यह सब जानते हैं कि सभी के घर विलासिता के भी आगार होते हैं। घरों में कुछ झगड़ा भी होता है। इन सब का साथ में रहने वाले बच्चों के कोमल मन पर गलत गहरा प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता। वे विलासिता के रंग में भी रंगते हैं, जिसकी अभी उन्हें कोई आवश्यकता नहीं, जिससे कुण्ठाग्रस्त होते जाते हैं।
- जो माता पिता अपने बच्चों पर ध्यान नहीं दे पाते उनके बच्चे घर पर टी० वी०, वीडियो आदि के रोग से ग्रस्त हो जाते हैं। जो नहीं देखा सुना जाना चाहिए वह सब उसके माध्यम से अबोध बालक जानने लगते हैं। जिससे पढ़ाई में विशेष ध्यान नहीं दे पाते और मानसिक प्रदूषण के शिकार हो जाते हैं।

- विद्यालयों की मोटी फीस, जिसे सभी नहीं दे सकते उससे समाज में समरसता नहीं होती। कोई बड़ी गाड़ी में आ रहा है तो कोई साईकिल द्वारा ऐसे में ऊँच नीच का भाव समाज में पनपता है। उच्च शिक्षा भी मोटी फीस के द्वारा खरीदी गई होती है, अतः पैसे का ही मूल्य है यह कोमल मनों पर आज की शिक्षा पद्धति के कारण छाया रहता है और वे बड़े होकर स्वयं वैसा ही व्यवहार करते हैं।
- प्रकृति के प्रति किसी प्रकार का कोई प्रेम आज की इस पद्धति के कारण नहीं बन पाता, क्योंकि वैसे वातावरण में वे रहते ही नहीं। ईट, पत्थरों के जंगलों में रहते-रहते वे भी वैसे ही पत्थर दिल बन जाते हैं।
- स्वावलम्बन का अभाव इस शिक्षाप्रणाली में बच्चों में इतना अधिक देखने को मिलता है कि वे स्वयं कुछ कार्य करना नहीं चाहते। यहाँ तक कि बनियान आदि छोटे वृक्ष भी खानागार में दूसरों के लिए प्रक्षालित करने हेतु छोड़ देते हैं। कालान्तर में पूर्णतः पराश्रित हो जाते हैं।
- त्याग, तपस्या, ब्रह्मचर्य, अध्यात्म का स्पर्श भी जीवन में नहीं किया होता, अतः सामान्य से कष्टों के आने मात्र से ही आत्महत्या की भावना आती है। सहिष्णुता का अभाव वहाँ मुख्य होता है। इसीलिए आई० आई० टी०, आई० आई० एम० जैसे संस्थानों में भी बच्चे आत्महत्या करते हुए समाचार पत्रों की प्रायः सुर्खियाँ बनते हैं। कहीं परस्पर ईर्ष्या द्वेष के कारण अपने साथियों का संहार करने तक का जघन्य कार्य भी कर डालते हैं।
- भाषा का अध्ययन अध्यापन मानसिक भावों को जागृत करता है, विचारों की नई स्फूर्ति जीवन में लाता है, लेकिन आज कल की शिक्षा प्रणाली में भाषा की मुख्यता न होने से इसका भी अभाव देखा जा रहा है, अतः नई पीढ़ी भावशून्य हो रही है। दया, परोपकार, सत्यवादिता भाव गुजरे जमाने की बात होती जा रही है।
- हजारों की संख्या में शिक्षार्थी विद्यालयों, महाविद्यालयों, विश्वविद्यालयों से निकलते हैं, परन्तु सभी अपने तक ही सीमित होते जा रहे हैं। किसी में माता, पिता, परिवार, समाज, देश, राष्ट्र के प्रति कोई भक्तिभाव नहीं, उदारता नहीं। कारण भावना का अभाव। विद्यालयों में केवल गणित, विज्ञान, इतिहास अथवा कला-सम्बन्धी विचारों को बच्चों में सम्प्रेषित करने का आग्रह है, भावों का विकास नहीं, न कि बच्चों का अधिक

समय तो पाठशालाओं से बाहर आराम की जिन्दगी के सान्निध्य या खेलकूद में व्यतीत होता है। जीवन जीने की कला की शिक्षा इस मध्य में लुप्त हो जाती है। इन नकारात्मक भावों से विपरीत श्रेष्ठ भावों का बीजारोपण करने के लिए आन्तरिकभावों को जागृत करना होता है, जो आध्यात्मिकता में निहित हैं, वे आचार व्यवहार से सिखाए जा सकते हैं और उनके लिए आज की शिक्षाव्यवस्था में किसी के पास समय नहीं। इसकी कुंजी प्राचीन आश्रमव्यवस्था के पास है।

- कामवासना ऐसा रोग है, जो प्रत्येक को पीड़ित करता है, लेकिन आजकल की शिक्षाव्यवस्था में उस पर काबू पाने का कोई उपाय ब्रह्मचर्य आदि के रूप में निर्दिष्ट नहीं किया जाता। अतः युवावस्था आने पर सहशिक्षा के कारण थोड़े से भी अनुकूल वातावरण के मिलते ही बच्चों को बहकने का खुला आमन्त्रण मिलता है। भारतीय समाज में संस्कारों के कारण कुछ उस कुकर्म से बच जाते हैं तो कुछ नीचे ही नीचे संलित हो जाते हैं। अब पाश्चात्य संस्कृति, जहाँ के देशों में सोलह वर्ष के होते होते बच्चे काम के ऐसे शिकार होते सुने जाते हैं कि शायद ही कोई लड़की गर्भपात करवाने से बचती हो, का प्रभाव भारतीय समाज के बड़े-बड़े शहरों में देखने को मिल रहा है। पुरातन आश्रम पद्धति के अनुसार लड़के लड़कियों के पृथक्-पृथक् विद्याकेन्द्र होने से इस रोग से बचा जा सकता है। लड़कियों को तंग करने, छेड़ने से बचाया जा सकता है।
- आज की परिस्थितियों में ऐसा कौन सा घर है जहाँ काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, द्वेष जैसे कीटाणुओं का प्रवेश न हो। जन्म जन्मान्तर की वासनाओं से ये दोष बच्चों में भी अनुकूल अवसर पाकर घेर करते जाते हैं। गुरुकुलीय व्यवस्था में अनुकूलता न होने से इनसे बचा जा सकता है।
- आज का विद्यार्थी पाँच, छः घण्टे विद्यालय में रहकर शेष पूरा दिन अपने घर में रहता है। गृहस्थ अपने कार्यों में व्यापृत रहते हैं। ऐसे में बच्चों का संरक्षण करने वाला कोई नहीं। घर में अब वे स्वतन्त्र हैं, चाहे तो कुछ भी करें। मन का स्वभाव चंचल है। एक स्थान पर बन्ध कर कदाचित् पढ़ा नहीं जा सकता। पढ़ना भी चाहेगा तो महापुरुषों की जीवनी या सही दिशा देने वाली अच्छी पुस्तकें नहीं, अपितु मन को अच्छी लगने वाली

किस्से कहानियों की पुस्तकें। आश्रमव्यवस्था में २४ घण्टे विशेष व्यक्तियों के संरक्षण में रहेगा, अतः स्वतन्त्र हो कुछ गलत नहीं कर सकता।

दूसरी बात यह कि घर के सदस्यों के रहते भी उसके घर में जो कुछ भी अच्छा या बुरा हो रहा है उसका प्रभाव उसके जीवन पर पड़ेगा ही। ग्रामीण क्षेत्रों में तो प्रायः चाय, बीड़ी, सिगरेट, तम्बाकू, शराब आदि मादक पदार्थों का सेवन प्रत्येक घर में होता है। बच्चे में भी बड़ों को देखते हुए वे गलत आदतें शनैः शनैः घर कर जाती हैं और वह भी वैसा ही बन जाता है। बाद में स्वभाव में आने से रोकने से नहीं रुकतीं। ऐसे ही अन्य बुराइयों के नित्य प्रत्यक्ष होने से मन की अनुकूलता के आते ही बढ़ा बढ़ा होते-होते उसे स्वीकार कर लेता है। अतः निरन्तर पीढ़ी दर पीढ़ी ये बुराईयाँ समाज में आती रहती हैं। लेकिन प्राचीन आश्रम व्यवस्था में अच्छे प्राकृतिक वातावरण और श्रेष्ठ आचार्यों, गुरुओं के सान्निध्य में रहता हुआ बालक इन बुराइयों से बचा रह सकता है और कालान्तर में अच्छा नागरिक बन सकता है।

- आज की शिक्षाव्यवस्था में समानता का अधिकार न होने से सैंकड़ों वर्षों से दबे कुचले सामाजिकजन वहीं के वहीं उसी दुरवस्था में जी रहे हैं। पाँच छः वर्ष की आयु के पश्चात् गाँव के या मलिन बस्तियों के बच्चों को प्राचीन शिक्षापद्धति के अनुरूप शिक्षणालयों में भेजा जाता तो उनका स्वरूप ही कुछ ओर होता। इस व्यवस्था में सम्पत्तिशाली तो आगे निकल जाते हैं और निर्धन साधनों के अभाव में वहीं के वहीं, गली सड़ी जिन्दगी गुजारने को मजबूर रह जाते हैं। परम्परया उनके बच्चों को भी उन्हीं के साथ रहने से वैसा ही वातावरण मिला होता है, अतः पूर्ववत् बने रहने के अतिरिक्त कुछ परिवर्तन नहीं आ पाता।

अन्य यम-नियम प्रभृति की पालना का अभाव आदि से होने वाले अनेक दोष भी विचार करने पर इस शिक्षा पद्धति में संकेतित किये जा सकते हैं, जिनके चलते आज स्थिति यह हो गई है कि साधन साध्य हो गया है। विश्व के समस्त शैक्षणिक संस्थानों में आज प्रायः इसी की अन्धी दौड़ है और उसी का परिणाम है कि मानव अर्थलिप्सु हुआ येन केन प्रकारेण शिक्षित कहलाता हुआ भी भ्रष्टाचार, अनैतिक आचरणों के दलदल में आकण्ठ डूबा जा रहा है। यह जानता हुआ कि जितना कुछ एकत्रित किया जा रहा है वह यहीं रह जाना है, अन्य ही कुछ है जो साथ में जाना है। सुख शान्ति यदि धन ऐश्वर्य में होती तो विश्व के चोटी के धनाढ्यों में अशान्ति देखने को न मिलती, अम्बानीबन्धुओं में लड़ाई झगड़ा न होता। लेकिन, आज की शिक्षा व्यवस्था इसी धुरी पर चक्कर लगा रही है, जो मानव की ऐकान्तिक और आत्यन्तिक सुख की अवाप्ति का साधन नहीं। अतः भारतीय उच्च आदर्श और कर्तव्यभावना को शिक्षाव्यवस्था के माध्यम से पुनः समाज को रास्ता दिखाने के लिए लाना होगा, जो वेदादिशास्त्रों

के आविर्भाव से लेकर रामायणकाल तक समृद्धि को प्राप्त हुई दिखाई देती है तथा वही महाभारत काल के आते-आते क्षीण हो गई और आज प्रायः लुप्त है। अत एव शिक्षा के उक्त उद्देश्य हो गए और अनधिकारियों के हाथों में शैक्षणिक व्यवस्थाएँ चली गईं। परिणामतः राजसत्ता, न्यायालय, धार्मिककेन्द्र, शिक्षणालय सब के उद्देश्य परिवर्तित हो स्वार्थपूर्ति में निहित हुए जान पड़ते हैं। आज पुनः आवश्यकता है कि वर्तमानकालिक नीतिनिर्धारक प्राचीन शिक्षाव्यवस्था के महत्त्व को समझें और वे पुनः वर्णधर्म के अनुसार वेदादिशास्त्रों और वाल्मीकिरामायणादिकाव्यों में प्रतिबिम्बित होने वाली शिक्षाव्यवस्था की सुस्थापना करवाने का प्रयत्न करें, जिससे भारतवर्ष पुनः अपने खोए हुए गौरव को प्राप्त कर सके।

वाल्मीकिरामायण में प्रतिबिम्बित शिक्षा

वाल्मीकिरामायण में साक्षाद्रूपेण कैसी शिक्षाव्यवस्था रही होगी यह वहाँ स्पष्टतः उल्लिखित नहीं है, परन्तु चित्रित सामाजिक व्यवस्था के व्यवहारिक स्वरूप से वह अनुमानगम्य अवश्य है। रामायण के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उस समय वैदिकी शिक्षाव्यवस्था का पूर्ण प्रभाव था। उस समय शिक्षा के उद्देश्य समाज के प्रत्येक वर्ग की शारीरिक, बौद्धिक, आत्मिक, सामाजिक उन्नति करना थे। शिक्षणालय सुदूर प्रकृति की गोद में थे, जो पूर्णतः वैदिकी परम्परा^{१७} का अनुसरण करते थे। महर्षि भारद्वाज^{१८}, अगस्त्य,^{१९} अत्रि,^{२०} वाल्मीकि^{२१} आदि ऋषि मुनियों के आश्रम स्थलों का वर्णन इसी कोटि का है। ऐसे आश्रम स्थलों में सत्यनिष्ठ, तेजस्वी, निःस्पृह, स्वार्थहीन, स्व आचरण से ही जीवन की सार्थकता को सिद्ध करने वाले आचार्यों, ब्राह्मणों, गुरुओं के सान्निध्य में अन्तेवासी के रूप में उपनीत होकर छात्र निवास करता हुआ विद्याध्ययन करता था। अथर्ववेद की ऋचा के अनुसार उपनीत विद्यार्थी को आचार्य मातृतुल्य गोद की ममता प्रदान करता हुआ अपने सामीप्य से तब तक दूर न करे, जब तक विद्यार्थी की बुद्धि का समस्त अज्ञानान्धकार नष्ट नहीं हो जाये।^{२२} यही स्वरूप वाल्मीकिरामायण में दिखाई देता है। अन्यथा समाज की जैसी चित्रित उत्कृष्ट स्थिति है, वैसी कदाचित् न होती। बालकाण्ड के षष्ठ सर्ग में दशरथ के शासनकाल में अयोध्या और वहाँ के पुरवासियों का वाल्मीकि ने जो चित्र प्रस्तुत किया है, वह अद्वितीय है। वहाँ की उज्ज्वल संस्कृति और समृद्धि का परिचायक है, जो तपोनिष्ठ आचार्यों के कुलों के द्वार से होकर ही सृष्ट हुआ जान पड़ता है। वहाँ का राजा दशरथ स्वयं वेदवित्, दूरदर्शी, उपयोगी वस्तुओं का संग्रहकर्ता, जनप्रिय, यजनशील, धर्मपरायण, जितेन्द्रिय चित्रित है।^{२३} उनके चारों पुत्र समस्त संस्कारों से संस्कारित,^{२४} वैसे ही शूरवीर, वेदवित्, लोकहित में रत रहने वाले, ज्ञानवान्, समस्त सद्गुणों से सम्पन्न, नित्य वेदों का स्वाध्याय करने वाले और

१७. ऋग्वेद ८.६.२८, उपरे गिरीणां संगमे च नदीनाम्। धिया विप्रो अजायत॥

१८. द्रष्टव्य वाल्मीकिरामायण २.५४

१९. द्र० वही ३.१२,

२० द्र० वही २.११७

२१. द्र० वही ७.४५.१७, १८ गंगायास्तु परे पारे वाल्मीकेस्तु महात्मनः ॥ आश्रमो दिव्यसंकाशस्तमसातीरमाश्रितः ॥

२२ अथर्ववेद ११.५.३, आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः। तं रात्रीस्तिस्र उदरे विभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः॥

२३ वाल्मीकिरामायण १.६.१,२, तस्यां पुर्यामयोध्यायां वेदवित् सर्वसंग्रहः। दीर्घदर्शी महातेजाः पौरजानपदप्रियः। इक्ष्वाकूणामतिरथो यज्वा धर्मपरो वशी। महर्षिकल्पो राजर्षिस्त्रिषु लोकेषु विश्रुतः॥

२४ वही १.१८.२४, तेषां जन्मक्रियादीनि सर्वकर्माण्यकारयत्॥

पिता की सेवा में दत्तचित्त रहने वाले, धनुर्वेद में पारंगत थे।^{१०} तो यथा राजा तथा प्रजा की सृक्ति को चरितार्थ करते हुए अयोध्यावासी भी तादृश क्यों न होंगे। वे भी प्रसन्न, धर्मात्मा, बहुश्रुत, प्राप्तधन से ही सन्तुष्ट रहने वाले, निर्लोभी, सत्यवादी थे। कोई उनमें कामी, कृपण, नृशंस, मुख्य और नास्तिक, अग्निहोत्र और पंचयज्ञ न करने वाला, न क्षुद्र और तस्कर था, न कोई सदाचारशून्य व वर्णसंकर था।^{११} ब्राह्मण भी स्वकर्म में निरत, विजितेन्द्रिय, दान, अध्ययनशील और असंग्रही थे। उन में नास्तिक, असत्यवादी, विविधशास्त्रों को न जानने वाला, ईर्ष्या करने वाला, अशक्त और विद्याहीन कोई न था। न ही वेदों के छः अंगों को न जानने वाला, अव्रती, सहस्रप्रकार से दान न देने वाला, दीन, विक्षिप्तचित्त अथवा व्यथित न था।^{१२} क्षत्रिय ब्राह्मणों के अनुगामी थे, वैश्य क्षत्रियों को आज्ञा का पालन करते थे और शूद्र वर्ण भी तीनों वर्णों की सेवा में तत्पर रहता था।^{१३} ये सब स्वस्थपरम्परायें शिक्षा व्यवस्था के उच्च मानदण्डों के कारण ही थीं और उसके कारक थे तात्कालिक आश्रमस्थल, जहाँ निरन्तर जीवन कैसे जीना है की व्यवहारिक शिक्षा स्वयं अपने चरित्र और आचरण से ऋषि मुनियों की संसद् दिया करती थी। कोई ऐसा आश्रमस्थल न था जहाँ अग्निहोत्र आदि त्यागभावना को देने वाली क्रियाएँ न होती हों। श्रीराम जब महर्षि भारद्वाज के आश्रम में प्रवेश करते हैं तब वे शिष्यगणों से परिवृत्त यज्ञकार्य ही कर रहे होते हैं।^{१४} वहाँ हर प्रकार के ज्ञान, विज्ञान, आयुर्वेद, धनुर्वेद, संगीत आदि कलाओं की शिक्षायें विधिवत् दी जाती थीं। जब राम अगस्त्य ऋषि के आश्रम में जाते हैं तब वे उन्हें दिव्यास्त्रों की भेंट देते हैं।^{१५} महर्षि विश्वामित्र द्वारा भी भगवान् राम को शस्त्रास्त्रों की दिव्यपरम्परा संहारविधि सहित प्राप्त करवाने का उल्लेख है।^{१६} यही नहीं कि अयोध्यावासी ही स्वाध्याय आदि में निरत रहते थे, अपितु लंकावासी भी हनुमान् के द्वारा ऐसा ही करते हुए देखे गये थे।^{१७} ऐसे ही एक अन्य श्लोक में राक्षसों का षडंगसहित वेदों में पारंगत होने का उल्लेख^{१८} उस समय की शिक्षा व्यवस्था की उत्कृष्टता को कहता है।

समस्त विद्याओं की प्राप्ति विद्यालयों के छात्रावासों में नियमित रहकर शैशव काल में ब्रह्मचर्य अवस्था में ही की जाती थी, घर आना जाना नहीं होता था। कालिदास के रघुवंश के शैशवेभ्यस्तविद्यानां वाङ्मयके मुनिवृत्तीनां

२५ वही १.१८.२५, २६, ३४, ३६, ३७, सर्वे वेदविदः शूराः सर्वे लोकहिते रताः, सर्वे ज्ञानोपसम्पन्नाः सर्वे समुदिता गुणैः, ते यदा ज्ञानसम्पन्नाः सर्वे समुदिता गुणैः, ते चापि मनुजव्याघ्रा वैदिकाध्ययने रताः, पितृशुश्रूषणरता धनुर्वेदं च निष्ठिताः।

२६ वही १.६.६, ८, १२ तस्मिन् पुरवरे ह्यष्ट धर्मात्मानो बहुश्रुताः। नरास्तुष्ट धनैः स्वैः स्वैरनुश्रुताः सत्यवादिनः। कामो वा न कदर्यो वा नृशंसः पुरुषः क्वचित्। द्रष्टुं शक्यमयोध्यायां नाविद्वान् न च नास्तिकः॥ नानाहिताग्निर्नायज्वा न क्षुद्रो वा न तस्करः। कश्चिदासीदयोध्यायां न चावृत्तो न संकरः॥

२७ वही १.६.१३-१५, स्वकर्मनिरता नित्यं ब्राह्मणा विजितेन्द्रियाः। दानाध्ययनशीलाश्च संयताश्च प्रतिग्रहे॥ नास्तिको नानृत्नो वापि न कञ्चिदबहुश्रुतः। नासूयको न चाशक्तो नाविद्वान् विद्यते क्वचित्॥ नाषडंगविदत्रास्ति नाव्रतो नामहवदः। न दीनः क्षिप्तचित्तो वा व्यथितो वापि कश्चन॥

२८ वही १.६.१९, क्षत्रं ब्रह्ममुखं चामोद् वैश्याः क्षत्रमनुव्रताः। शूद्राः स्वकर्मनिरतास्त्रीन् वर्णानुपचारिणः॥

२९ वही २.५४.११, १२, स प्रविश्य महात्मानमृषिं शिष्यगणैर्वृतम्। संशितव्रतमेकाग्रं तपसा लब्धचक्षुषम्। हुताग्निहोत्रं दृष्ट्वैव महाभागः कृताञ्जलिः। रामः सौमित्रिणा सार्धं सीतया चाभ्यवादयत्॥

३० वही ३.१२.३२-३७

३१ द्र० वही १.२७, २८,

३२ वही ५.४.१३, शुश्राव जपतां तत्र मन्त्रान् रक्षोगृहेषु वै। स्वाध्यायनिरतांश्चैव यातुभानान् ददर्श सः॥

३३ वही ५.१८.२, षडंगवेदविदुषां क्रतुप्रवरयाजिनाम्। शुश्राव ब्रह्मयोषान् स विरात्रे ब्रह्मरक्षसाम्॥

योगेनाने तनुत्यजाम्^{३४} श्लोक निश्चितरूप से इसका संकेत करता है। वाल्मीकि के आश्रम में लव कुश की शिक्षा ग्रहण का प्रकरण भी आश्रमों में ही स्थित होकर सम्पूर्ण वेदवेदांग आदि की विद्यार्जन की गाथा कहता है।^{३५} शिक्षाशास्त्र के अनुसार शुद्ध उच्चारण करना बाल्यावस्था में ही सम्भव होता है। जिसे हनुमान्,^{३६} भारद्वाज^{३७} जैसे महानुभावों के मुखारविन्द से निःसृत शब्दों से प्रमाणित कहा जा सकता है। अन्य अनेक उद्धरण आचार्य, गुरु, उपाध्याय से सम्बद्ध शिक्षाव्यवस्था की उज्ज्वल परम्परा के दिग्दर्शक रामायण से प्रस्तुत किये जा सकते हैं, परन्तु लेख के विस्तरभय से यहीं विराम देता हूँ।

निष्कर्ष

उपर्युक्त विवरण से दो प्रकार की सामाजिक स्थिति स्पष्टतः परिलक्षित हो रही है, प्रथम- आधुनिक काल से सम्बद्ध है, जिसे सभ्य होने का उत्कृष्ट प्रमाण-पत्र आधुनिक समाज ने दे रखा है, जिसमें नित्य बच्चों तक के साथ बलात्कार कर गन्दे नाले में फेंक देने की वहसी निठारी नोयडा की और किडनी बेचने की गुड़गाँव जैसी घृणित अनैतिक आचरणों की घटनाएँ हैं। सरे आम बलात्कार हैं। लूटपाट और डकैतियाँ हैं। आतंकवाद है। दूसरों की सम्पत्तियों पर अधिकार जमाने की कोशिशें हैं। असहिष्णुता है। आत्महत्याएँ हैं। भोगवादिता है। विलासिता है। असमानता है। अनपढ़ता है। आलस्य प्रमाद है। स्वार्थी राक्षसी वृत्ति है। अर्थासक्ति ऐसी कि उसके सामने कोई पिता, भाई, बहन आदि का सम्बन्ध कुछ नहीं। प्राणीमात्र के लिए दया का अभाव है। प्रकृति का दोहन इतना कि पर्यावरण कितना ही अशुद्ध हो उससे कुछ लेना देना नहीं। न देशप्रेम है। न दयाधर्म है। सत्यवादिता, परोपकार आदि गुण कोसों दूर हैं। राष्ट्र की सम्पत्ति को कूड़े के ढेर के समान अग्निसात् कर दिया जाता है। केवल अधिकारों की बात होती है, कर्तव्यभावना की नहीं। परिवार और समाज टूट रहे हैं। इत्यादि अनेक दोष नित्य समाचार पत्रों की मुख्य पंक्तियाँ बनते हैं। दूसरी ओर वाल्मीकिरामायण में प्रतिबिम्बित समाज है, जिसमें मनुष्य प्राणीमात्र और प्रकृति से प्रेम कर रहा है। सभी विद्वान् हैं। वेदादिशास्त्रों का नित्य स्वाध्याय करते हैं। निज कर्तव्यकर्मों को करने वाले हैं। निर्लोभी, निरालस्य हैं। दयालु हैं। स्वार्थहीन हैं। अकूतसम्पत्तिशाली हैं तथा साथ ही दान देने की प्रवृत्ति वाले भी हैं। अग्निहोत्री हैं, जिससे प्रकृति को बदले में बहुत कुछ देते हैं। सर्वदा सत्याचरण और परोपकार करने वाले हैं। इत्यादि अनेक गुण तात्कालिक समाज की उत्कृष्ट स्थिति का डिण्डिमघोष कर रहे हैं। दोनों प्रकार की सामाजिक स्थितियों के मूल में झांकने की कोशिश करें तो हमें विचार करने पर एक ही कारण दोनों के पीछे दिखाई देता है और वह है- शिक्षाव्यवस्था। आज की शिक्षापद्धति केवल मनुष्य की बाह्य साजसज्जा और स्वरूप को सुधाने पर विचार करती है तो रामायणकालिकी शिक्षा आन्तरिक और बाह्य दोनों स्वरूपों पर समान ध्यान देती है। इसे वेदों में विद्या अर्थात् अध्यात्म और अविद्या अर्थात् भौतिकविद्या कहा गया है तथा दोनों को समानरूपेण अधिगम करने का उल्लेख है^{३८}, जिसे उपनिषदों में परा और अपरा विद्या के नाम से कहा गया है। इन दोनों स्वरूपों

३४ रघुवंश १.८

३५ उत्तररामचरित २.४ से पूर्व का गद्य भाग- तौ च भगवता वाल्मीकिना धात्रीकर्मतः परिगृह्य पोषितौ रक्षितौ च, निर्वृत्तचौलकर्मणोस्तयोस्त्रयीवर्जमितरास्तिस्र विद्याः सावधानेन परिनिष्ठापिताः तदनन्तरं भगवतैकादशे वर्षे क्षात्रेण कल्पेनोपनीय त्रयीविद्यामध्यापितौ। न त्वेताभ्यामतिदीप्तप्रज्ञाभ्यामस्मदादेः सहाध्ययनयोगोऽस्ति।

३६ वाल्मीकिरामायण ५.३०.१७, १८, अहं ह्यतितनुश्चैव वानरश्च विशेषतः। वाचं चोदाहरिष्यामि मानुषीमिह संस्कृताम्। यदि वाचं प्रदास्यामि द्विजातिरिव संस्कृताम्। रावणं मन्यमाना मां सीता भीता भविष्यति॥

३७ वही २.११.२२, एवं समाधिना युक्तस्तेजसाप्रतिमेन च। शिक्षास्वरसमायुक्तं सुखं भवतीति ॥

३८ यजुर्वेद ४०.१४, विद्यां चाविद्यां च यस्तद्विदाभय सह। अविद्याया मृत्युं तीर्त्वा विद्यायाऽमृतमश्नुते॥

के अनुरूप चलने से तात्कालिक समाज का मानसिक और शारीरिक उभयविध स्वास्थ्य उत्तमकोटी का है। क्योंकि प्रथम मानसिकता स्वच्छ जो जाये, सुधर जाये तो अन्यप्रकार के पर्यावरण प्रदूषण को तो अनायास ही रोका जा सकता है। जिसका आज के समाज में तादृश शिक्षा के न होने से नितान्त अभाव है। उस काल की शिक्षाव्यवस्था वर्णाश्रमधर्म को अपनाये थी और आज न कोई वर्ण है और न आश्रम। आज कल के नवोदय विद्यालयों में उस व्यवस्था के किंचित् स्वरूप को देखा जा सकता है, परन्तु सम्पूर्णता में नहीं। उसमें ओर सुधार की अपेक्षा है। अद्यतनीय गुरुकुलों में वह स्वरूप है, परन्तु वहाँ अर्थाभाव का संकट सर्वदा रहता है, अतः कार्य नहीं हो पाता। इसलिए यदि समाज में मानवता लानी है, प्रकृति के प्रदूषण को बचाना है, बच्चों के आवागमन में लगने वाले समय को बचाना है तो प्राच्य और अर्वाच्य दोनों के मेल से एक नई शिक्षापद्धति लागू करनी होगी जो सम्पूर्ण समाज को चाहे वह निर्धन से निर्धन हो या मध्यम या बहुत धनाढ्य सब को अध्ययन का समान अवसर देवे। जिससे समाज में स्वाभाविक साम्यवाद आयेगा, जातिवाद निर्मूल होगा, कर्तव्यकर्म को महत्त्व दिया जायेगा, आरक्षण की आवश्यकता न होगी। गुरुकुलीय शिक्षापद्धति में प्रकृति की गोद में पढ़ने से भौतिक संसाधनों के प्रति अधिक अनुराग न होगा, आसक्ति न होगी, दिखावा न होगा। विनयभाव आयेगा और व्यक्ति वित्त, बन्धु, वय, कर्म और विद्या को क्रमशः महत्त्वशाली समझेगा,^{३९} जबकि अब केवल वित्त को ही महत्त्व दिया जा रहा है। ऐसे संस्थानों में प्रातः चार बजे से सायं दस बजे तक बच्चों की एक नियमित दिनचर्या होगी जिससे शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य बढ़ेगा और आलस्य, प्रमाद, विलासिता जैसे रोग दूर होंगे। किसी सम्प्रदाय विशेष से सम्बद्ध न होने से केवल मनुर्भव का पाठ पढ़ाया जायेगा। प्रातः सायं सन्ध्याकाल में शरीर को पूर्ण मानसिक और शारीरिकरूप से स्वस्थ रखने के लिए अग्निहोत्र और कुछ प्राणायामों के साथ अन्तर्ध्यान करवाना अपेक्षित होगा जिससे स्वदुर्गुण यदि हैं तो उन्हें दूर करने के लिए दृढसंकल्प शक्ति तैयार की जा सकती है। कहा भी है- प्रत्यहं प्रत्यवेक्षेत नरश्चरितमात्मनः। किन्तु मे पशुभिस्तुल्यं किन्तु सत्पुरुषैरिति॥ इसप्रकार करने से जीवन स्वयमेव धार्मिक बन जायेगा, क्योंकि धर्म पूजा पाठ का नाम नहीं है। न वह मन्दिरों में है, न गुरुद्वारों में, न मस्जिदों वा चर्चों में। वस्तुतः सही से कर्तव्य कर्मों को करना ही धर्म है। या जिससे समाज, प्रकृति की सम्यक् संस्थिति और मोक्ष परम आनन्द की प्राप्ति हो, वह धर्म है। इस व्यवस्था में बच्चों के एक ही स्थान पर रहने से नियम बना देने पर कुछ ही समय में भाषाओं पर अधिकार भी बहुत शीघ्र हो सकता है। देश में क्रीड़ाओं का उन्नयन भी हो सकता है। इसप्रकार के दूरगामी बहुत से लाभ इसप्रकार की व्यवस्था में विद्यमान हैं। बस, सरकारों के संकल्प की आवश्यकता है, जो यह निश्चित करवाये कि छः वर्ष का बच्चा और साठ वर्ष का बूढ़ा घर छोड़ देवे, यह प्रयत्नपूर्वक लागू करवायें, जिससे अनायास ही अनेकों समाज की विसंगतियाँ दूर हो जायेंगी। यदि सम्पूर्ण देश में छात्रावासों में रहकर ही पढ़ाई करवाना निश्चित कर दिया जाये तो भी प्रतिदिन करोड़ों रूपये के पर्यावरण प्रदूषण, समयहानि, जनहानि, धनहानि से बचा जा सकता है और उक्तव्यवस्था मूर्तरूप धारण कर लेवे तो देश पुनः प्राचीन गौरव को प्राप्त करने में देर नहीं लगायेगा।

३९ मनुस्मृति २.१३६, वित्तं बन्धुर्वयः कर्म विद्या भवति पंचमी। एतानि मान्यस्थानानि गरीयो यद्यदुत्तरम्।

The Basic Doctrines of Humanism in the Vedas & Upanisads

Mahopadhyaya Dr. Roop Kishor Shastri¹

Dārā śikoha was so enamoured of the Upanisads that he continued listening to their exposition by experts for six months on end. He translated them into Persian in 1656 A.D. This translation the French scholar Enquital Dupéron read and after reading it he had his interest aroused in oriental works. Based on Dārā śikoha's Persian translation of the Upanisads, he translated them into Latin in 1801 A.D. Thus through Dārā śikoha in the Muslim world and Enquital Dupéron in the Christian world the Upanisads made such deep inroads that they came to be studied both in the east and the west with utmost reverence. The thought that was occupying the minds of Dārā śikoha, Saupenhaur and Enquital Dupéron has its source in the Vedas. The Vedic thought has not only influenced India but also the entire world. It is this Vedic thought and knowledge that has given something everybody and has shown him the true path. It is that thought in whose intrinsic light even other texts taught mankind the divine qualities, spirituality, good conduct and character.

Indian tradition regards the Vedas as revealed text, the words of God revealed to sages and ,Sis at the beginning of the creation. They are four in number- *Rgveda*, *Yajurveda*, *Sāmaveda* and *Atharvaveda*. The hymns in thus total up to over twenty thousand. The sage Manu and other sages have proclaimed the Veda to be the source of all kinds of dharma. *Vedo'khilo dharmamūlam* (वेदोऽखिलो धर्ममूलम्). The Veda is the repository of all kinds of knowledge. The Vedas are considered to be the first works of mankind. They have an important and unique role in the development of later literature. They are a compendium of mantras in Vedic Sanskrit revealed to countless sages through the grace of God.

The Vedic literature is the foundation of all knowledge and wisdom and the repository of world culture proclaimed as *yā samskṛtiḥ sū prathamā viśvavārā* (या संस्कृतिः सा प्रथमा विश्ववारा). The great empire of dharma and civilization has grown on Vedic foundation. In reality the Veda is an eternal constitution, the manual for the code of conduct for the entire humanity. According to Vedic commentator *Ācārya Sayāṇa* the innate message of the Veda is to seek to obtain what is desirable and to avoid what is not so. In other words it can be said that the Veda tells us the path of progress and prosperity and urges us to keep away for all times from the bad effects of the bad actions. These supernatural mysteries of the Veda and the super knowledge the later literature such as the *Brāhmaṇas*, the *Āraṇyakas*, the *Upanisads*, the *vedāṅgas*, the *Dharmasūtras* have claimed. There is emphasis in the Vedic tradition on the four-fold aim of the human life. The ultimate aim of the teaching of the Vedas is to seek and truth foregoing the worldly allurements summed up in the sentence-*sū vidyā yā vimuktaye* (सा विद्या या विमुक्तये), "that is true knowledge which leads to salvation." In the tradition of Vedic thinking and the seers, the ,Sis, the aim of knowledge has been the final beatitude. The emphasis has been on moving from darkness to light, from untruth to truth and from mortality to immortality.

1 Asst. Professor-Dept. of Veda, Gurukul Kangri University
Haridwar- (Uttarakhand)

2 इष्टज्ञान्यनिष्ठपरिहारयोस्तौकिकमुपायं यो ग्रन्थो वेदवति सः वेदः। तैत्ति०सं०सा०भा०

3 असतो मा सद्गमय तमसो मा ज्योतिर्गमय मृत्योर्मांमृतं गमय। बृहद०उप०१.३.१८ अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा
विद्ययाऽमृतमश्नुते। यजु०ईश०वा०४०.१४

convocation देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्। मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यो देवो भव^{१०} Through this sentence the Upanisad gives high respect not only to the Āc'ārya but also to the ancestors and parents. Āc'ārya says-do not neglect your duties to the deities and ancestors. Treat your mother as deity. Treat your father as deity and treat your Āc'ārya as deity. In the Praśnopanisad has been described the highly respect to the Āc'ārya. Six disciples pay their cordial regards to the Guru Pippalad saying that father has given the physical body but you have given liberation to us is greater.^{११} Chhāndogyopanisad says that when a person has Nisthā i.e. faith to his Guru, parents and elders, he attains Śraddhā. Without having Nisthā one cannot have Śraddhā.^{१२} This shows that a śiṣya's or sons can have progress in the life only if they have unflinching faith in their Guru and Parents.

In the Kathopanisad, Yamāchārya feels and accepts stating it that a person loses his fame, hopes, expectations, the fruit of good deeds, religious acts, beneficial speech, children, cattle's and all type of wealth in case a guest resides without food and respect in his house.^{१३} In the chhāndogyopanisad there is a description of yajña, adhyayana and dana which are considered as duties of a householder or g,hastha^{१४}. Thus g,sthāsam is regarded as primary stage of dharma for the sake of welfare of the society, mankind and creatures.

Message of truth-

In the ,gveda ,ta i.e. satya is said to be dharma-suga ,tasya panthah (सुगा ऋतस्य पन्थाः). It is clear that it is easy to follow dharma. Truth is accorded a higher status, it leading one to cross the ocean, i.e. the world^{१५}. The B, hadāraṇyakopanisad is concerned with his sentence" yo vai sa dharmah satyam vai tat. i.e. to keep to truth is dharma in the real sense^{१६}. (यतोऽभ्युदय निःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः) So truth is dharma and dharma is truth, it is this that leads to good fortune and final beatitude, this is the view of sage Kaṇāda in the Vaiśeṣik Darśan^{१७}. Sage manu accepts truth as one of the constituents of dharma among the ten of them.^{१८} The Upanisad has defined satya in various ways. Vedic Ṛṣi expresses the secrecy of Satya in Upanisad^{१९}. Satya & Ṛta are used parallel in the

१० तैत्ति०उप०१-११

११ ते तमर्चयन्तस्त्वं हि नः पिता योऽस्माकमविद्यायाः परं पारं तारयसीति। नमः परम ऋषिभ्यो नमः परम ऋषिभिः॥
प्रश्न०उप०६.८

१२ यदा वै निस्तिष्ठत्यथ श्रद्धधाति, नानिस्तिष्ठन् श्रद्धधाति, निस्तिष्ठन्नैव श्रद्धधाति, निष्ठा त्वेव विजिज्ञासितव्येति॥
छा०उप०७.२०

१३ आशाप्रतीक्षे सङ्गतं सुनृतां च, इष्टापूर्ते पुत्रपशून् च सर्वान्। एतत् वृद्धे पुरुषस्याल्पमेधसो, यस्यानश्नन् वसति ब्राह्मणो गृहे॥कठ०उप०२

१४ त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमः॥छा०उप०२.२३.१

१५ सत्यस्य नावः सुकृतमपीपरन्। ऋ०१.७३.१

१६ यो वै स धर्मः सत्यं वै तत्॥ बृहद्०उप०१.४.१४

१७ वैशे० द०-१-१-२

१८ धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः। धीर्विद्या सत्यमक्रोधोऽदमश्चैव ऋषिर्वातामनसश्चैव॥मनु०स्मृ०६.१२

१९ हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्। तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥ ईशा०उप०१५

santipātha hymn of the taitiriopaniṣad²⁰ *Āc'ārya śankar'*²¹ has put an easy and assimilable commentary on Rta and Satya. Rta is that as told by the śāstra and it is also that which to be practised, and that when converted into speech and action, is called Satya.

Satya is reflected in the taitiriopaniṣad as Brahman and also as a way of life. The ,Si emphasizes don't deviate from Satya, don't deviate from Dharma.²² The Bṛhadāranyakopaniṣad explains Satya through a more lucid example " चक्षुर्वै सत्यम्, चक्षुर्हि वै सत्यम् "²³ Here, Satya is stated to be based on the strength of knowledge. According to the Mundakopaniṣad²⁴ -Satya alone prevails, not falsehood. Satya is the path leading to God. The Motto सत्यमेव जयते from the mundakopaniṣad is adopted in the constitution of India.

Excellence of human life differencing from path of Śreya and preya

According to Vedic doctrine of Karman, the human life is said to be an amalgam of happiness and unhappiness. A human being, however, through excessive desire, anger, greed, pride and every turns it into a bed of sorrow. The Veda however, takes life to be a battle and exhorts being to go in for continuous exertion with the further rider that everyone who has taken birth has done so to make his life ennobled because the wise people through this power of discrimination impart purity to their action.²⁵ Whatever action is pure is dharma and whatever is not so is Adharma. The Veda sends out a clear message that unless a man doesn't give up bad conduct and bad habits, it is impossible for him to cultivate human qualities. As a result of bad conduct and depravity the mind of a man becomes the store-house of bad qualities that go with animals and demons.²⁶ It is necessary, therefore, not to allow bad impressions, feelings and actions in life whatever state a man be, whether awakened, asleep or a state of knowledge or non-knowledge were he to aspire to cultivate human qualities.²⁷ Above-cited these values are depicted in the Upanisads in the form of śreya and preya marg. Amplifying this idea Yamāc'ārya says in the kothopaniṣad that "Both śreya and preya approach man, the dhēra (wise man) examining the two,

२० तैत्ति०उप० ३.१०

२१ ऋतं, यथाशास्त्रं यथाकर्तव्यं बुद्धौ, सुपरिनिश्चितमर्थम्। सत्यमिति स एव वाक्कायाभ्यां सम्पाद्यमानोऽर्थः॥तैत्ति०उप०१.१

२२ तैत्ति० उप०-१.११

२३ बृहद्०उप०५.१४.४

२४ सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः। येनाक्रमन्ति ऋषयो ह्यासकामाः यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम्॥मु०उप०३.१.६

२५ जातो जायते सुदिनत्वे अहो' सम्यं आ विदधे वर्धमानः। पुनन्ति धीरा अपसौ मनीषा देव्या विप्र उदियति वाचम्॥

ऋ०३.८.५

२६ श्रेष्ठो जातस्य रुद्र श्रियासि त्वस्तमस्तुवसां वज्रबाहो। पर्षिणः पारमंहसः स्वस्ति विश्वा अभूति रपसो युयोधि॥

ऋ०२.३३.३

२७ यदाशा निःशसाभिःशसोपागमि आशो मत् स्वपन्त्य, उभिति शसो दुःखं उज्ज्वल्यो अस्मद् देधातु॥

ऋ०१०.१६४.३

discriminates between them. The wise man verily prefers śreya to preya, but the foolish man chooses preya through love of gain and attachment.

The term preya means that which is pleasant, immediately attractive and the term śreya means that which conduces to true welfare, which ultimately beneficial. Ethics and religion divide all objects and experiences into these two categories. The ,Si of Kathopaniṣad says that one thing is śreya and different indeed is preya. Leading to different ends as they do. The good befalls him who accepts the good, but falls he away from the goal who chooses the pleasant.³⁰ Life under the preya idea can never advance beyond its elementary forms, because there is a stifling of spiritual awareness by the tyranny of the immediate present the lure of profit and pleasure. śreya is characterized by far-sight and for-sight, whereas preya is characterized by short-sight, with flowing stream of life arrested and stagnant. Hence the Upaniṣad identifies śreya with vidyā (knowledge), and preya with avidyā-(ignorance). Both social welfare and spiritual realization are the products of far-sight and for-sight which are two important characteristics of both the Vedic and Upaniṣadic out looks.

Non-Malignity-friendship and universal brotherhood-

The Veda has laid emphasis on the fact that all people in this world have the same rights and are equal and share the same tendency to organize themselves. If all the people have the same opportunity and get the motherly feeling, then every body would get justice.³¹ The Veda has clearly indicated that every human being has equal right on food, water and other natural objects and that people have to be so in united as are the spokes in the navel of the wheel of the chariot. The thought of co-existence has been enjoined here for sure.³² All should utter unitedly good, pleasant and useful words that could result in prosperity. All should share in their minds happiness or unhappiness of everybody.³³

The mind of everybody should be actuated by the same resolve, thought, decision and effort, this is the message that the Veda delivered from the very beginning. In the Veda hatred is said to be that human evil that does not lead to anything other than enmity. That is why in the *manasa parikrama* mantras of the *Atharvaveda* it is enjoined to put the tendency of hatred under the law of justice of the Lord.³⁴ In the *Yajurveda* after the advice to people to protect each other in a spirit of oneness, to have food together and study together it is emphasized that they be friends with each other and that they keep away from hostility.³⁵ In the ,gvedic hymn hatred and jealousy

२८ श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतः तौ संपरीत्य विविनक्ति धीरः। श्रेयो हि धीरो अभिप्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योग क्षेमात् वृणीते॥
कठ० उप० १.२.२॥

२९ अन्यत् श्रेयो अन्यदुतैव प्रेयः ते उभे नानार्थे पुरुषं सिनीतः। तयो श्रेयः आददानस्य साधु भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते॥ कठ० उप० १.२.१

३० स वः पृथ्यन्तां तुन्नः सं मनांसि समुवृता। स वोऽयं ब्रह्मणस्पतिर्भगुः सं वो अजीगमत्। अथर्व० ६.७४.१

३१ समानी प्रपा सह वौऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वौ युनज्मि। सुम्यञ्जोऽग्निं संपर्यतारा नाभिर्मिवाभितः॥ अथर्व० ३.३०.६

३२ संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्। देवा भागं यथा पूर्वं सज्जानाना उपार्सते॥ ऋग० १०.१९१.२॥ मा वियौष्ट

अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त। अथर्व० ३.३०.४ समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः। समानमस्तु वो मनो यथा वः

सुसुहासति॥ ऋग० १०.१९१.४ समानो मन्त्रः समितिः समानो समानं मनः सह चित्तमेषाम्। समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः

समानेन वो हविषा जुहोमि॥ ऋग० १०.१९१.२

३३ योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विषस्तं वो जम्भे दध्मः॥ अथर्व० ३.२७.१

३४ सह नाववतु। सह यो धुनक्तु। सह वीर्यं करवावह। तेजस्विनावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै। तैत्ति० आ० ९/१

are treated at par. At the base of these lies mental weakness that propels a man to sin and crime.³⁴ That is why the *Yajurveda* considers it necessary for living beings to make friends with each other to put hatred under control.³⁵ That is the spirit of universal brotherhood which is the mainspring of the world renowned slogan *vasudhaiva kutumbakam* (वसुधैव कुटुम्बकम्), "the earth is just (one) family". This was the lofty vision of the Vedic thought which asks one to protect the other.³⁶ It is not that it is the protection, well-being and good of just the human beings is enjoined here but also even of all the beings, be they bipeds or quadrupeds.³⁷ Recognizing the nature of Desires the *Isopanisad* teaches us to learn to enjoy through renunciation³⁸, once one has this detachment one acts without *rāge* (attachment) and *dveṣa* (malignity) and *avarice rati* (affection) and *moha* (infatuation). This concept protects men and women from uttering falsehood, commit thefts, debaucheries, murder and entertain wicked thoughts.

śānti-mantra is prescribed in the several *Upanisads*, points out the harmony of the thoughts, words and deeds. It also prays for good things to be heard, seen and told. There is a cordial pray for the good for all. The ancient scriptures considered the entire universe as a big family and proper aim is mentioned the universal good and welfare for all beings in it. *Taittiriyaopanisadic* education aimed at instilling a spirit of humanism in the minds of *Brahmachari-pupils* and establishing a feeling of universal brotherhood among them. Thus *Upanisadic* thoughts convey a social outlook as well as humanistic approach. The positive tradition of our wisdom, knowledge and culture is indicated in the *Upanisads* in the form of three basic value-universality, non-aggressiveness and humanism. Today in the modern world, people talk about globalization, universal peace and harmony. This universal message of the vision of our scriptures and culture is- सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः । सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दुःखभाग्भवेत्॥

Education of humanism from *Brahmacharyakaal*-

Today it is said that our country is young India now. But fact is-India is always remained young. In that context our scriptures and seers established the basic and necessary human education from childhood and study period for all without any distinction. The highest aim of *Upanisadic* education was man-mankind, character-building and the realization of the supreme spirit. Without an intensive ethical discipline it would not be possible for the students to preserve and develop the culture which they inherit from their predecessors. In the *Taittiriyaopanisad*³⁹ we find that the *Ācārya* in his valedictory address gives instructions to the *Brahmacharies* about the rules of conduct at home, social obligation and duty to the society.

Non-violence-

३५ इन्द्रासोमा समुघशंसमभ्ययद्दृघं तपुर्वयस्तु चरुरग्निवाँ इव । ब्रह्मद्विषे क्रुव्यादै घोरचक्षसे द्वेषो घतमनवायं किमोदितैः॥

ऋग्वे० ७.१०४.२॥

३६ दूते दुःहं मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम् । मित्रस्याऽहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे । मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे॥ यजु० ३६.१८

३७ पुमान्पुमांसं परि पातु विश्वतः । ऋग्वे० ६.७५.१४॥

३८ शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे । ऋग्वे० ७.५४.१

३९ तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा वा गृध्रोऽपि न विलसन्तम्॥ ईश० उप० १॥

४० तैत्ति० उप० १-९

The Vedic literature and the sages, saints and preceptors have proclaimed *ahimsa* (non-violence, non-injury to beings) as an ennobling human quality. *Ahimsa paramo dharmah* (अहिंसा परमो धर्मः), *ahimsa* is the highest *dharma* is the great postulation of Vedic culture. It is a message for the people of the world not to cause hurt to others. According sage Patanjali with the feeling of *ahimsa* the feeling of enmity towards all the living beings of the world vanishes for good.

Ahimsa is that pure quality and activity by which a man can live in peace and happiness all his life. To cause mental, verbal or physical hurt like killing or causing injury through action is what violence is. That is why has proclaimed the Veda "Do not kill any being or cause him hurt." "The *gveda* has the word *avrka* for the non-violent." Elsewhere it is urged to turn into such a devotee as to be without violence, blemishless and sinless. "Let all beings be *adabdhā*, non-violent is the message of the Veda." That is why the author of the *Mahabharata* has described non-violence and the feeling of it as the supreme *dharma*, the supreme austerity, the supreme truth, the supreme charity, the supreme sacrifice, the best of the friends, the best of the holy places and the supreme happiness. "That is why the sage Manu has proclaimed that one who does not put a man in confinement, does not cause hurt and thinks of the good of them attains unlimited happiness."

The Message of Global peace-

Today the whole world seems uneasy. Generally in every society, nation and natural phenomena the environmental disturbance is in its extreme form. Imbalance is growing even in natural objects. The Veda had cautioned man with its worry on this score from the very beginning. Today the cause of restlessness in the world is man himself. That is why the Veda's message for man is: If you want to save your existence and with the existence of the entire creation, then try ceaselessly in achieving peace in the heaven, the earth, the mid-regions, the waters, the herbs, the plants, the celestial elements and Brahman. "Upanisads also consider same theory of the global peace."

Spiritual Message-

Veda is said to be the repository of all kinds of true knowledge that has enough of spiritual matter. In later literatures the development of all types of knowledge is traced to the Veda. Many of the aspects of spiritual development assumed different dimensions later. There are thousands of *mantras* in the Veda which deal with individual and supreme self, mind, intellect and fruit of actions. In 1.164 30 the *gveda* mentions that the soul is immortal. Even death cannot

४१ अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः। योग० २/३५॥

४२ मा हिंसीस्तन्वा प्रजाः। यजु० ४.१॥

४३ असुं य ईयुरवृकाः। ऋग्० १०.१५.१

४४ यथा चित्पूर्वं जितारं आसुरनैद्या अनवद्या अरिष्टाः। ऋग्० ६.१९.४॥

४५ ऋग्० १.८९.१॥

४६ अहिंसा परमो धर्मस्तथा हिंसा परं तपः। अहिंसा परमं सत्यं यतो धर्मः प्रवर्तते॥ अहिंसा परमं दानमहिंसा परमं तपः।

अहिंसा परमो यज्ञश्चाहिंसा परमं फलम्॥ अहिंसा परमं मित्रमहिंसा परमं सुखम्। सर्वदानफलं वापि नैतत् तुल्यमहिंसाया॥ महा० अनु० पर्व ११५.२३-३०॥

४७ यो बन्धनवधक्लेशान् प्राणीनां न चिकीर्षति। स सर्वस्य हितप्रेप्सुः सुखमत्यन्तमश्नुते॥ मनु० स्मृति-५.४६॥

४८ द्यौः शान्तिरन्तरिक्षं शान्तिः पृथिवी शान्तिः आन्तरिक्षं शान्तिः वायुः शान्तिः अग्निः शान्तिः शान्तिः सर्व शान्तिः शान्तिर्व शान्तिः सा मा शान्तिरधि॥ यजु० ३६.१७॥

snatch it away. The creator of this creation The Supreme Being is omniscient and the individual self has little knowledge but when he through Yoga realizes the Supreme Self, he finds himself permeated in him. To attain Moksa, deliverance, by realizing that Supreme Being is what is needed. There is no way other than that.

When the Vedas were revealed and Upanisads were composed, the entire human-being was inspired by them, they inspired people a thousand years later and today they still inspired us. Neither the phenomenal progress of science and technology, nor the wealth and power of the modern world, has been able to reduce the relevancy of these ideas of the Vedas and Upanisads, they have only increased it. Now the world is seeking for precisely this spiritual growth for man. The Vedas and Upanisads provide access to higher planes which unites science and spirituality. To achieve great things in life one must have to rise in status which is possible only through a solid value-based education and humanity as the one provided by our Vedic seers. From what has been stated above, it would be clear that while the Vedas have left their imprint on entire later literature, culture and civilization, the Upanisads have influenced deeply each and every man. The unique contribution and message of both the scriptures for the overall development of mankind and has a kind of divinity in it and will ever remain fresh and shining.

Thus the Vedas and the Upanisads show us the way to creative living and life fulfillment, otherwise नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।



४९ य इति हि दुस्त इमे समासते। ऋग० १. १६४. ३९॥

५० वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्षातमसं ससृजत। तमेव विदित्वाऽतिं पृत्यामं वि नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥

यजु० ३१. १८॥

Vedic Samskars in relation to modern Medical science

Dr Neetu Mago¹
Dr Vishal Mago²

Introduction

Sanskars are rituals through which the life of a person receives holiness or becomes better and worthy of greater respect. There are sixteen sacraments specified by Vedic teaching and involve the various important events in a person's life. They extend from the moment of conception until the death of the person. The medical literature provides a detailed account of the fetal development in-utero and also gives a clinical account of the signs and symptoms associated with pregnancy. A correlation of the account given in this scripture, written at the time when microscopic or imaging techniques were non-existent, with the modern day texts of embryology and fetal development brings forward two nearly identical descriptions. This attempt is intended to promote and encourage a detailed exploration of the vast ocean of knowledge contained in ancient Indian Ayurvedic Literature in order to obtain pearls of wisdom.

The origin of Vedic sacraments is in the four Vedas from where the verses of prayer have been extracted. The sacraments were observed by custom from the Vedic period. The sixteen sanskars are performed under guidance of a learned Guru who knows Vedas because in every sanskar the havan is performed with Vedic mantras. These were performed in Satyug, Dwapur, treta yuga and too by Shri Ram, Shri Krishna etc.

1. Garbhadhan Sanskar --- which is performed just after marriage and before pregnancy to have a good baby.
2. Punsvan sanskar --- which is performed just after pregnancy of second or third month.
3. Seemantonnayan sanskar --- in 4th, 6th or in 8th month of pregnancy.
4. Jaatkaram Sanskar --- just after birth of a baby i.e., the same day.
5. Naamkaran sanskar --- after 101 days of birth in which name of the baby is announced.
6. Nishkraman sanskar --- when the mother and baby comes out of the house. In the 3rd or 4th month to travel or to go anywhere.
7. Annprasahn sanskar --- in the 6th month of the baby after birth on the same day of birth. In this sanskar the baby is allowed to take solid food because up to 5th month baby had been taking milk/water only.
8. Churakaram sanskar i.e., Mundan sanskar --- in the first or third year.
9. Karanvedh sanskar --- ear piercing ceremony.
10. Upnayan sanskar i.e., allowing baby to go school for the first time.
11. Vedaarambh sanskar i.e., to start study of Vedas in 6 to 8 years.
12. Samavartan sanskar --- i.e., the baby has attained the knowledge of Vedas. It is performed in the age of fourteen years.
13. Vivah sanskar i.e., marriage ceremony.
14. Vanprasth sanskar --- in the age of 51 plus.

1 Assistant Professor, Deptt of Obstetrics & Gynecology U.F.H.T Medical College & Dr.S.T.M Forest Hospital, Haldwani.

2 Head Plastic Surgery Unit, U.F.H.T Medical College & Dr.S.T.M Forest Hospital, Haldwani.

15. Sanyas sanskar --- in the age of 75 plus or at any age when anyone becomes ascetic.
 16. then the last, Anteshti sanskar when death comes. This sanskar is of dead body i.e., cremation.

The wisdom regarding the general management of pregnancy is found in both the Charaka and Sushruta Samhitas under the subject of "Garbhini Vyakarana". Guidelines regarding diet, activities, behavior and mental activity (ahar, vihar, achar and vichar, respectively) are also detailed, which are similar as outlined in medical texts. Ayurveda advises the same degree of care and attention in the management of a pregnant woman. The goal is the protection and nourishment of both the growing fetus and the mother.

This paper describes the scientific basis of performing these vedic rituals in relation to modern obstetrics and plastic surgery.

SIMANTONNAYAN SACRAMENT (Development of mental powers)

This sacrament is the third Vedic Sacrament and is performed when the pregnancy of the mother is fairly well established; it is performed during the fourth, sixth and eighth months of pregnancy. It is aimed at the integral growth and development of the foetal brain and its mental processes, as well as at the mental and physical well-being of the mother.

The healthy development of the mental faculties can only occur if the mother herself is in sound physical and mental health. Therefore, in a Vedic family, all possible measures are taken to provide a congenial environment for a sound healthy development of the mother and child.

In a similar manner, the child in the mother's womb also requires consistent nourishment through psychological and spiritual endowments to enable him/her to attain the maximum developments in brain, mental and psychic faculties. The Simantonnayan sacrament is directed towards these attainments.

Scientific basis for this sacrament is found in medical literature. The fourth month of pregnancy marks the beginning of the second trimester. During the fourth month, baby's teeth have formed and hair has grown on the baby's head.

The Vedic scriptures say that when the child (foetus) is four months old in the mother's womb it begins to develop its mental faculties; and by the fifth month, its perceptive faculties (sense organs) are fairly well developed. By the sixth month the intellectual faculties begin to develop. During the seventh month the foetal body parts are well developed and defined. And beginning in the eighth month and through to the end of the ninth month, the intuitive faculties and ability to differentiate and respond become comparatively functional; and the hormones that have been in the embryonic forms in the earlier stages have now comparatively attained their functional endowments and virility, and the child is now ready to respond appropriately to the stimulations of the external world when born. Therefore it is crucial that this sacrament is performed for the sound and healthy development of the child's mind and the physical body.

It is highly recommended in medical books that during these months of the pregnancy the mother herself is fairly well exposed to a healthy environment, both for her psychological well-being and for her spiritual satisfaction.

JAAT KARAM SANSKAR (THE NEW BORN)

This is the fourth sacrament and it is performed immediately after the child is born. Whereas the first three sacraments deal with the mother's mental and psychic attributes as well as the parental hereditary endowments, the fourth and the remainder of the sacraments bear direct relationship with the child's environment be it at home or beyond the home.

As has been stated in the previous issues, the purpose of the sacraments is to endow the growing child with human positive values and to influence and inspire the child towards attainment of noble characteristics and behaviours. The ultimate aim is to create a society of exemplary qualities wherein the growing child has the capabilities to play an active role.

At birth the child's mouth, nose, ears and the whole body are cleansed. This activity stimulates the child's five perceptual functions - hearing, vision, smell, taste and touch. The child is then bathed in fresh water, the body is dried with a clean piece of cloth, and attired with new set of clothes. At the completion of this cleansing process, the child is ready to receive the JAAT KARMA sacrament.

Psychologists maintain that whatever education is provided to the child during the first five years of the child's life it becomes his/her life-long legacy. The Vedic literature is in complete accord with this philosophy.

For the first five years the child stays in an environment which had already been created and moulded by the parents-that is, the home becomes the initial environment where the child grows and nurtures.

NISHKAMAN SACRAMENT (Taking child out in fresh air)

Nishkraman Sacrament is the sixth sacrament. 'Nishkraman' means to take outside(the house).

Physiologists say that for the balanced development of our body there is need for calcium and phosphorous to be absorbed in diet. A person becomes restless and irritable in proportion to the amount of calcium lacking in the blood. Without Vitamin D, calcium would not be absorbed in the body. Neither milk nor curd contains Vitamin D. It is only available in sun light hence it is necessary to expose the body to sunlight so that there is no weakness due to lack of Vitamin D and also that calcium and phosphorous are absorbed by the body through the effect of sunlight.

Annaprāsana

This sanskar is related to the time when the child is to be given solid food apart from the mother's milk. This emphasizes the importance of proper health care and nutrition for the child.

It is performed when the child is six months old which is the weaning time. Susruta commends this weaning time as best for both the mother and the child. Offerings are made to the goddess of speech and vigour. Prayers are offered so that the child's senses have their full gratification and live a happy and contented life. The father feeds a little of the sweet food and anoints the child with Mantras that say he feeds the child with food that may ensure a healthy life to the child and prevent ill-health. Apart from the efficacy or otherwise of this ceremony, its observance

creates in all concerned an awareness of the cumulative needs of the child at that age in a scientific and tender manner. Its systematic observance therefore ensures the results expected especially when fortified by Mantras. The Annaprashana ceremony should be performed at the time when the child gains strength to digest cereal and preparations made from cereals. The first feeding of cereal commences with this ceremony.

Things to include in pregnant woman's diet as per allopathic schedule

- | A folic acid supplement.
- | Iron rich foods (your doctor may prescribe iron supplements).
- | Plenty of calcium-rich foods and drinks plus a daily walk to help make vitamin D and help your body absorb calcium.
- | Omega 3 fatty acids- choose oily fish two or three times weekly if you can.
- | Zinc-rich foods.
- | Plenty of water to help prevent tiredness and keep you well hydrated.
- | Ginger, which may help relieve nausea.

Things to avoid

- | Vitamin A supplements and foods concentrated in vitamin A such as liver.
- | Soft cheese, pate, unpasteurised milk and milk products because of the risk of listeria.
- | Uncooked or softly cooked eggs (this includes fresh mayonnaise and home made ice cream) because of the risk of salmonella poisoning.
- | Restrict alcohol to just one drink per day occasionally or cut it out altogether.
- | Watch intake of caffeine-containing coffee to no more than four cups a day - also find caffeine in cola and chocolate.
- | Ensure food (especially meat) is piping hot before serving. Wash your hands before handling raw meat and all fresh vegetables carefully. Always wear gloves when gardening to prevent infection with toxoplasmosis.
- | Don't change cat litter as this can also transmit toxoplasmosis.
- | If there is a history of severe allergies in the family, it may be best to avoid nuts and foods that contain them for the future health of your baby and child.

Ayurved also describes nine diseases peculiar to pregnancy and are called garbhopadravas. They are: nausea, anorexia, vomiting, dryness of mouth, fever, edema, anemia, diarrhea and retention of urine. Their specific treatments are also elaborately described.

As far as possible, medication should be avoided during the first three months of pregnancy. Only symptomatic treatment with very mild herbs and a suitable diet should be offered. The physician is advised to take into account the severity of the disease, the resistance power of the mother and the stage of the pregnancy, and choose the middle path so that the disease or the treatments do not result in complications for the mother or the foetus. For example, the use of Dashamularishta in vatic fever, hima (cold infusion) of Yastimadhu, lotus and Sariva in paittic fever and Guduchi kwath in kapha fever to bring down temperature. Similar special treatments are advised for other diseases. Several substances are absolutely contraindicated in pregnancy such as vacha (calamus root), kumari (aloe), or myrrh and substances like garlic and hing are to be used with extreme caution if at all.

The development of the fetus in the uterus is discussed in the Charaka Samhita in the section called Garbhava Kranti, and special regimens are prescribed for each month in the subsection

Garbhini Paricharya. The basic wisdom to be understood is to take greater care during the first three months of pregnancy and during the eighth and ninth months.

During the first trimester, stress is laid on stabilizing the pregnancy and nurturing the uterine bed through rasa and rakta dhatus. The embryo gets nourishment directly by percolation (upsnehan). Hence more jaleeya (liquid) substances such as juicy fruits, coconut water, milk, and so on are advocated.

Scientific basis is found in medical text where Food concerns during pregnancy include raw vegetables, unpasteurized juices, liver, and undercooked meat, poultry, or eggs. Be ware of food poisoning. Raw vegetables, unpasteurized juices, and undercooked meat, poultry, or eggs have been linked with *Salmonella* species and *Escherichia coli* (including the dangerous *E coli* 0157).

Cooking properly kills bacteria; the proper temperature can be determined by a meat thermometer, although cooking until well done is safe for most meat. Ground beef should be cooked to at least 160°F, roasts and steaks to 145°F, and whole poultry to 180°F. Eggs should have a firm yolk and white after cooking. Eggnog and hollandaise sauce have raw or partially cooked eggs and are not considered safe. Liver can contain extremely high levels of vitamin A and is probably safe, but it should be eaten in moderation.

Folic acid supplementation prevents both the occurrence and recurrence of neural tube defects and significantly reduces the incidence of low birth weight. Previously, folic acid supplementation was started relatively late in pregnancy but now in the United States, the Food and Drug Administration requires folic acid fortification of most grain products, and intakes have dramatically increased. The recommended intake for folate during pregnancy is 600 µg/d.

Maternal anemia is associated with perinatal maternal and infant mortality and premature delivery. To preserve maternal stores and to prevent the development of iron deficiency, the recommended iron intake during pregnancy is increased by 9 mg to a total of 27 mg/d. This level cannot normally be obtained from foods, and supplementation is required to achieve recommended intakes.

Maternal iodine deficiency leading to fetal hypothyroidism results in cretinism, characterized by severe mental retardation. Thyroid hormones are critical for normal brain development and maturation. The World Health Organization estimates that 20 million people worldwide have brain damage resulting from maternal iodine deficiency that could be prevented by iodine supplementation. The recommended iodine intake is 220 µg/d during pregnancy.

Additional protein is needed during pregnancy to cover the estimated 21 g/d deposited in fetal, placental and maternal tissues during the second and third trimesters. Energy needs during pregnancy are currently estimated to be the sum of total energy expenditure of a nonpregnant woman plus the median change in total energy expenditure of 8 kcal/gestational week plus the energy deposition during pregnancy of 180 kcal/d. Because total energy expenditure does not change greatly and weight gain is minimal in the first trimester, additional energy intake is recommended only in the second and third trimesters. Approximately an additional 340 and 450 kcal are recommended during the second and third trimesters, respectively.

Vitamin D deficiency during pregnancy is associated with several disorders of calcium metabolism in both the mother and her infant, including neonatal hypocalcemia and tetany, infant hypoplasia of tooth enamel and maternal osteomalacia. Supplementation of 10 µg (400 IU)/d in affected women

lowered the incidence of neonatal hypocalcemia and tetany and maternal osteomalacia whereas higher amounts (25 µg/d) increased weight and length gains in infants postnatally

Ayurveda advocates in the first month, sipping cold milk along with meals and eating only in the morning and evening (i.e breakfast and dinner). Tandulodaka (rice milk) During the second month, the intake of warm milk decoctions medicated with sweet herbs like Vidari, Sarkara (Cane juice), Shatavari, Yasthimadhu, Brahmi, all of which are jivaneeya (life-supporting) and garbhasthapak (helping maintain implantation). Honey and ghee are also recommended. During the third month Ayurveda recommends warm milk with added honey and ghee. Also, the ground rind of amalaki fruits with coldwater.

During the fourth month, the head, torso and extremities start to become differentiated, the motor and sensory nervous tissues start to develop, the heart takes its place, and the fetus makes known its needs and desires via the mother's physiology. This is the period when the woman craves for certain foods and tastes. Normally, the needs of both the fetus and the mother are the same. Therefore, Ayurveda recommends that the mother's cravings be fulfilled as far as possible, as long as they are not absolutely unreasonable (i.e. a diabetic mother craving excessive ice creamæ a hypertensive mother craving excessive salt, etc.). Shankhpushpi, gulkand, and brahmi help in calming the nerves and are also good prajasthapans (maintainers of pregnancy).

From the fifth to the seventh months, plant preparations which give strength to the uterine muscles and nourishment to the embryo, are advised. Ashwagandha and Guduchi are particularly good in this regard. They help to ensure optimal condition of the placenta and uterine tissues as well as of the umbilical cord. The diet should be one of rice, milk, butter and gee. Fruits which are orange or yellow in color are advocated such as mangoes, apples, carrots, amalaki etc. Leafy vegetables are also advised. During the seventh month, hairs form on the fetus and the abdominal skin begins to become stretched giving rise to itching and striations (kikkisas). This can be treated by taking sips of the infusion of jujube berries or butter medicated with manjistha, the application of the pulp of sandalwood and lotus or of a paste made of neem, turmeric and manjistha, or oil medicated with tulsi leaves or jasmine.

From the eighth month forward, there should be less fat, less salt and less water in the diet. Ayurveda recommends rice kanji cooked in milk with a little ghee. After the completion of the eighth month, herbs which are mild diuretics and urinary antiseptics, such as punarnava, gokshuru and sariva, are advised. Fennel seed powder in small quantities is also recommended for its mild carminative and anti-spasmodic actions.

As soon as the pregnant woman enters the ninth month, she is supposed to move to the Sootikagar (delivery area) which is specially prepared for delivery. The door should be facing to the north or east. After an asthapan basti (simple enema), she should undergo anuvasan basti (retention enema of oil boiled with sweet herbs) which may be repeated. A swab soaked in the same oil is used to anoint the vagina and supporting structures to make the pelvis soft and elastic and enhance the downward-moving functions of apana vayu and delivery of the fetus. The mother's complexion becomes rosy, her strength returns as she prepares for the final days of pregnancy.

Ayurveda prescribes specific nutritional measures for the growth and protection of the woman to keep her vital and pure. In one of its most famous teaching analogies, Ayurveda compares human conception to the germination and sprouting of a seed and its transformation into a sapling. When the male and female seeds unite and the soul enters the union, an embryo (garbha) is created.

Ayurved gives great importance to the quality of the seed (ovum). In addition to the female seed, the mother also provides the 'ideal terrain' (i.e. the uterus) into which the seed is to be planted. Guidelines for correct sexual intercourse are also generally outlined. Young women less than sixteen years of age and boys under twenty should not bear children. Nature does not support pregnancy nor family life begun during the *brahmacharya* period (student years, ages birth to 20). The general rules of pre-natal care are also given and are perhaps the most provocative of all. The husband, parents, siblings, and other family members are advised to oversee the pregnant woman's diet and encourage activities that are healthy and enjoyable to her and beneficial for the child developing in her body. Similar to its strategy to promote longevity, the Ayurvedic approach towards motherhood, that is pregnancy and childbirth, is indeed a holistic one. Ayurvedic recommendations touch upon the diet, behavior, activities, and even the spiritual actions of not only the mother but the entire family into which the child will be born.

According to Ayurveda, the gradual and proper development of foetus is most important for the child's health. The development of foetus depends totally on mother's health. During the crucial stages of foetal development, it is said that a woman needs to have a sound mind and be in good physical condition. Everything a mother experiences - whether it is pleasant thought or a negative one, the fetal development is directly affected by her. The recurring anxieties of the mother about pregnancy are unknowingly passed onto the unborn child. One should never underestimate the power of transferring these emotions into the make-up of the unborn child.

The growing fetus gets all the nutrition from the umbilical cord connected to it, which in turn is attached to the *rasvaha nadi* (maternal part of the placenta) of the mother. This way, the nutrition is indirectly supplied to the fetus. From the time of conception until the zygote is attached to uterus, the nutrition depends on the nutritive parts carried by sperms and ovum. Charaka, one of the renowned Ayurvedic texts, says that the fetus obtains its nourishment from *rasa* that is supplied by mother. The nourishment of the fetus depends upon all the six factors of conception, use of appropriate diet and lifestyle of the pregnant woman.

Given the achievements of 21st century technological and medical sciences and a more detailed and sophisticated understanding of the physiological processes, modern medicine has made great strides in promoting healthy pregnancies. Today we can now recognize and treat many pathological conditions in the fetus or the mother. We also recognize the importance of regular antenatal check ups to detect any changes as early as possible and take appropriate medical interventions. Yet, although it lacks the technological sophistication of modern obstetrics, Ayurvedic wisdom can certainly contribute to this field in important and meaningful ways

डा० महावीर अग्रवाल

प्रोफेसर संस्कृत विभाग

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

उपाध्यक्ष, उत्तराखण्ड संस्कृत अकादमी, हरिद्वार (उत्तराखण्ड)

हमारा यह सुदृढ़ विश्वास है कि परमात्मा ने मानवमात्र के कल्याण के लिये ऋषियों के पावन अन्तःकरणों में चारों वेदों का ज्ञान प्रकाशित किया। यह वैदिक ज्ञान गङ्गा श्रवण परम्परा से अद्यापि अक्षुण्ण है, इसीलिये वेद को श्रुति भी कहा जाता है।

वेदों की महिमा वर्णित करते हुए महर्षि मनु ने कहा- 'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्' 'सर्व वेदात् प्रसिध्यति' अर्थात् वेद समस्त धर्म का मूल है और संसार के सभी कार्य वेद से सिद्ध होते हैं। वेद व्याख्याकारों ने मनु के इस कथन को सत्य सिद्ध किया है। संसार की विविध विद्याओं का मूल वेद मन्त्रों में प्राप्त है। विज्ञान के सूत्रों को मनीषियों ने वेद में खोजा है। राजधर्म की जो चर्चा वाल्मीकि रामायण तथा मनुस्मृति आदि ग्रन्थों में की गई है वह भी वैदिक संहिताओं में विद्यमान है। वेदों की व्याख्या के रूप में ब्राह्मण ग्रन्थों का विकास हुआ। ऐतरेय ब्राह्मणमें-साम्राज्य, भौज्य, स्वराज्य, वैराज्य, राज्य, पारमेष्ठ्य, महाराज्य, आधिपत्य आदि शासन प्रणालियों का वर्णन प्राप्त होता है। इनमें से कुछ प्रजातन्त्रात्मक थी और कुछ लोकतन्त्रात्मक। वेदों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि वैदिक काल में राजनीतिक अवस्था समुन्नत थी। उस समय राजा का निर्वाचन राजा के कर्तव्यों का निर्धारण, मंत्रिमंडल का गठन, सभा-समितियों के कर्तव्यों का निर्देशन, विविध शासन प्रणालियाँ, अर्थ व्यवस्था, कर निर्धारण आदि का उल्लेख समुन्नत राजनीतिक अवस्था का परिचायक है।

वेदों में यत्र-तत्र राष्ट्र और देश शब्दों का प्रयोग मिलता है। यजुर्वेद में आदर्श राष्ट्र के तीन गुण बताये गये हैं।

1. स्वराजस्थ (राष्ट्र स्वतन्त्र हो)।
2. जनभृतस्थ (वह जनहितकारी हो)।
3. विश्वभृतस्थ (वह विश्व के कल्याण के लिए प्रयत्नशील हो)।

अथर्ववेद के एक मन्त्र में राष्ट्र की उन्नति के दो श्रेष्ठ साधन बताये हैं- तप (अनुशासन Discipline) और दीक्षा (समर्पण- Dedication) इन दो गुणों को

अपनाने से राष्ट्र उन्नत होता है।

राजा का निर्वाचन- वेद कालीन शासन व्यवस्था को प्रजातन्त्र मूलक राजतन्त्र कहा जाता है। राजा के निर्वाचन के विषय में ऐतरेय ब्राह्मण⁹ में एक रोचक प्रसंग आया है कि देवता और असुर निरन्तर युद्ध करते थे। असुर देवों को हरा देते थे। देवों ने विचार किया कि राजा न होने के कारण हम पराजित होते हैं अतः उन्होंने इन्द्र को अपना राजा बनाया और वे विजयी हुए।

ऋग्वेद और अथर्ववेद के कई सूक्तों में प्रजा के द्वारा राजा के निर्वाचन का उल्लेख है।¹⁰ अथर्ववेद के एक मंत्र में स्पष्ट उल्लेख है कि पाँचों दिशाओं से आई हुई ये प्रजाएं तुझे राज्य के लिये निर्वाचित करती हैं।¹¹ राजा की नियुक्ति का कार्य समिति करती थी।¹² अथर्ववेद के अध्ययन से ज्ञात होता है कि राजा का निर्वाचन सर्वसम्मति से किया जाता था। इस निर्वाचन का आधार होता था गुणों और वीरता आदि में सर्वोत्कृष्टता। इन्द्र को गुणों में सर्वोत्कृष्ट पाया गया। अतः उसे राजा बनाया गया।¹³ राजा के रूप में चयन हो जाने पर राज्याभिषेक के समय जो शपथ ली जाती थी वह बड़ी मार्मिक होती थी और उस समय की राज्य व्यवस्था के गौरवशाली स्वरूप को अभिव्यक्त करती थी। राजा शपथ लेते हुए कहता था- मैं सत्य निष्ठा के साथ शपथ लेता हूँ कि “जिस रात्रि में मेरा जन्म हुआ और जिस रात्रि में मेरी मृत्यु होगी, उन दोनों के मध्य में मैंने जो भी इष्टपूर्त (पुण्य कर्म) किए हों वे सब नष्ट हो जाए और मैं, स्वर्ग, समस्त शुभ कर्म, आयु और संतान से वंचित हो जाऊँ, यदि मैं किसी भी प्रकार से देश और जनता के प्रति द्रोह-करूँ।”¹⁴ इससे स्पष्ट होता है कि देशद्रोह और जनता के साथ विश्वासघात राजा के लिए अक्षम्य अपराध था।

राजा के कर्तव्य- राज्याभिषेक के साथ ही राजा को कर्तव्यों का निर्देश दिया जाता था। राजा से कहा गया था तुमको यह राष्ट्र दिया जा रहा है- तुम इसके नियन्ता हो तुम दृढ़तापूर्वक इस उत्तरदायित्व को संभालो यह राष्ट्र तुम्हें इन कार्यों के लिए दिया जा रहा है- कृषि की उन्नति, जनकल्याण, आर्थिक समुन्नति और राष्ट्र की सुदृढ़ता।¹⁵

सभा और समिति- वेदों में मन्त्रिमण्डल के लिये ‘समिति’ शब्द का प्रयोग है।¹⁶ कौटिल्य ने इसके लिये ‘मन्त्रिपरिषद्’ शब्द का प्रयोग किया है। अथर्ववेद में सभा और समिति को प्रजापति (राजा) की दो पुत्रियाँ कहा गया है। सभा छोटी इकाई होती थी, परन्तु इसका स्वरूप व्यापक था, यह ग्राम सभा से लेकर केन्द्रीय सभा तक होती थी। सभा के सदस्य को सभ्य, सभेय और सभासद कहा जाता था। सभा के अध्यक्ष को ‘सभापति’ कहते थे। सभा का मुख्य कार्य न्याय की ठीक व्यवस्था करना था। विवादग्रस्त विषयों का निराकरण और उन पर अपना अन्तिम

निर्णय भी सभा द्वारा किया जाता था। सभा में राजा, धनवान् एवं विद्वज्जन सम्मिलित होते थे। कुछ भी करने से पूर्व राजा सभा से विचार विनिमय अवश्य करता था।

समिति- यह राष्ट्रीय स्तर की महासभा (National Assembly) होती थी। इसमें राष्ट्र के सभी वर्गों का प्रतिनिधित्व होता था और इसमें सार्वजनिक जीवन से सम्बद्ध सभी महत्वपूर्ण विषयों पर विचार विनिमय किया जाता था। इसका कार्य क्षेत्र न्याय विधान तक ही सीमित न होकर पूरे राष्ट्र की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक आदि सभी व्यवस्थाओं से संबद्ध था।

वेदकालीन राज्य व्यवस्था में ऐसे भी संकेत प्राप्त होते हैं कि यदि राजा अपने कर्तव्य से विमुख हो जाता है, चरित्र भ्रष्ट होकर प्रजा का शोषण करता है, तो उसे अपने पद से हटाया जा सकता है। राज्य व्यवस्था पर धर्म का, विद्वानों का एवं श्रेष्ठजनों का नियन्त्रण था। राष्ट्र को महान् वैभवशाली बनाना, विविध विद्याओं का प्रचार-प्रसार, देश भक्ति का संचार, सुदृढ़ अर्थव्यवस्था, न्यायप्रियता आदि वैदिक लोकतन्त्र की विशेषताएं थी। राष्ट्रहित सर्वोपरि था। राजा और प्रजा में परस्पर पिता-पुत्र जैसा पवित्र सम्बन्ध था। न्याय, स्वास्थ्य रक्षा एवं शिक्षा-पद्धति में चरित्र, श्रम एवं देशभक्ति की प्रतिष्ठा थी। आचार्य-शिष्य परम्परा का उज्ज्वलतम स्वरूप तत्कालीन साहित्य में देखा जा सकता है। उच्चपदों पर आसीन व्यक्तियों को अपराध करने पर अधिक दण्ड दिया जाता था। प्रजा का पालन, रंजन, संरक्षण एवं संवर्धन ही राज्य का सर्वोपरि कार्य था। प्रजापालन हेतु ही राजा का अभ्युदय माना गया है।¹¹ क्षत्रियों के लिए न्याय से राष्ट्र पालन ही अश्वमेघ है।¹² इस प्रकार राष्ट्र की सर्वांगीण उन्नति वैदिक लोकतन्त्र का लक्ष्य था।

भारतवर्ष में पुनः वही लोकतन्त्र प्रतिष्ठित हो, सर्वत्र सुख, शान्ति, प्रेम एवं विश्वबन्धुत्व की धारा प्रवाहित हो, देश में ज्ञान, विज्ञान शिल्प एवं विविध विद्याओं का प्रचार-प्रसार हो। राज्य सरकारें तथा भारत सरकार न्याय पूर्वक प्रजा का पालन करें और महाकवि कालिदास का स्वप्न साकार हो तभी लोकतन्त्र की विजय होगी।

प्रवर्ततां प्रकृति हिताय पार्थिवः,

सरस्वती श्रुतिमहती महीयताम्।

ममापि च क्षपयतु नीललोहितः,

पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्मभूः॥

सन्दर्भ

१. यजुर्वेद १.४
२. भद्रमिच्छन्तः ऋषयः स्वर्विदस्तपोदीक्षामुपनिषेदुरग्रे ।
ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं तदस्मै देवा उपसंनमन्तु ॥ अथर्ववेद १६.४१.१
३. ऐतरेय ब्राह्मण १.१४
४. ऋग्वेद १०.१७३.१ से ६ तक अथर्ववेद ३.४.१ से ७ तक ।
५. त्वां विशो वृणतां राज्याय त्वामिमाः प्रदिशः । अथर्ववेद. ३.४.२
६. ध्रुवाय ते समितिः कल्पतामिह । अथर्ववेद. ६.८८.३
७. विश्वाःपृतना अभिभूतरं नरं, सजूस्ततक्षुरिन्द्र जजनुश्च राजसे । अथर्ववेद २०.५४.१
८. ऐतरेय ब्राह्मण ५.१५
९. इयं ते राड् यन्ताऽसि यमनो ध्रुवोऽसि धरुणः ।
कृष्यै त्वा क्षेमाय त्वा, रय्यै त्वा पोषाय त्वा ॥ यजुर्वेद ६.२२
१०. ध्रुवाय ते समितिः कल्पताम् । अथर्ववेद ६.८८.३
११. यजुर्वेद ६.३०
१२. शतपथब्राह्मण १३.१.६१

विद्वत्-परिचय

१. प्रो. ज्ञान प्रकाश शास्त्री अध्यक्ष श्रद्धानन्द वैदिक शोधसंस्थान, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
२. प्रो० वेद प्रकाश शास्त्री आचार्य उपकुलपतिश्च गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालयः, हरिद्वारम्
३. डॉ० वेदपाल रीडर, संस्कृत विभाग, जनता वैदिक कॉलेज, बड़ौत जि० बागपत (उ०प्र०)
४. डॉ. अरुणिमा रानी प्रवक्त्री संस्कृतविभागे, एस० डी० महाविद्यालयः, मुजफ्फरनगरम्
५. डॉ० सुधीर कुमार आर्य असिस्टेण्ट प्रोफेसर, वेद विभाग, गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार उत्तरखण्ड
६. प्रो० राजेश्वर मिश्र प्रोफेसर संस्कृत विभाग, कु०वि० कुरुक्षेत्र
७. डॉ. सत्यदेव निगमालंकार रीडर, श्रद्धानन्द वैदिक शोध संस्थान, गुरुकुल कांगड़ी, विश्वविद्यालय
८. डॉ० अनिता सेनगुप्ता एसोसिएट प्रोफेसर संस्कृत, ईश्वर शरण डिग्री कालेज, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
९. डॉ० नरेश कुमार प्रोजेक्ट फैलो, वेद विभाग, गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार उत्तराखण्ड।
१०. डॉ० विजयलक्ष्मीः संस्कृत-प्रवक्त्री, सनातनधर्ममहाविद्यालयः, मुजफ्फरनगरम् (उ.प्र.)
११. डॉ० दिनेशचन्द्र शास्त्री रीडर, वेद विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार
१२. डॉ० अमित कुमार अंशकालिक प्रवक्ता, श्रद्धानन्द वैदिक शोध संस्थान गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार
१३. डॉ० तुलसी देवी रीडर-संस्कृत-विभाग, म०गाँ०बा० पी०जी० कॉलेज, फिरोजाबाद उ०प्र०
१४. डॉ० राजेन्द्र विद्यालंकार एसोसिएट प्रोफेसर, संस्कृत एवं प्राच्यविद्या संस्थान, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र
१५. डॉ. ईश्वर भारद्वाज प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, मानव चेतना एवं योग विज्ञान विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
१६. डॉ. उषा लोहान शारीरिक शिक्षा विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र

१७. प्रो० मनुदेव बन्धु अध्यक्ष वेद विभाग, अधिष्ठाता प्राच्य विद्या संकाय, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
१८. डॉ० बीना कुमारी गुप्ता रीडर एवं अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग, बैकुण्ठी देवी कन्या महाविद्यालय, आगरा। ७४ फेस-२, पुष्पांजली बाग दयाल बाग, आगरा। मो० ९७५९११७८९९
१९. डॉ. (श्रीमती) सुरचना प्रवक्ता - संस्कृत, भगवानदीन आर्य कन्या, स्नातकोत्तर त्रिवेदी महाविद्यालय, लखीमपुर-खीरी
२०. डॉ० दीपा गुप्ता प्रवक्ता, प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति तत्त्व विभाग कन्या गुरुकुल कांगड़ी महाविद्यालय, हरिद्वार उत्तराखण्ड
२१. डॉ. देवी सिंह संस्कृत, पालि एवं प्राकृत विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र
२२. डॉ० सन्ध्या कुमारी वरिष्ठ प्रवक्ता, संस्कृत विभाग, पी०सी० बागला पी०जी० कॉलेज, हाथरस (उ०प्र०) दूरभाष: ०९४११९८०१७९
२३. डॉ. मंजुलता शर्मा अध्यक्ष संस्कृत-विभाग, सैण्ट जॉन्स कालेज, आगरा.
२४. डॉ. राकेश शास्त्री अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग, राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, बांसवाडा (राज.) ३२७००१
२५. डॉ० रेखा सिंह प्रवक्ता तदर्थ प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, कन्या गुरुकुल महाविद्यालय गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
२६. डॉ० ऋतु शुक्ला प्रवक्ता संस्कृत, राजकीय महाविद्यालय, तालबेहट, ललितपुर उ०प्र०
२७. डॉ० मौहर सिंह असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार (उत्तराखण्ड।)
२८. डॉ. कृष्णा आचार्य एसोशियेट प्रोफेसर, संस्कृत-विभाग, महर्षि दयानन्द वि०वि० रोहतक
२९. डॉ० ब्रजेश कुमार पाण्डेय उपाचार्य, संस्कृत विभाग, राजकीय महिला महाविद्यालय, हल्द्वानी नैनीताल, उत्तराखण्ड।
३०. डॉ० सुनील कुमार जोशी अपर चिकित्साअधीक्षक, राजकीय आयुर्वेदिक कॉलेज एवं चिकित्सालय, गुरुकुल कांगड़ी हरिद्वार
३१. डॉ. ब्रह्मदेव JK Sanskrit Academy, उमाचार्म, Dairwar, b683 Foundation USA, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय,

हरिद्वार

३२. डॉ. रूपकिशोर शास्त्री

उपाचार्य, वेद विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

३३. डॉ. नीतू मागो

Deptt of Obstetrics & Gynecology U.F.H.T Medical College & Dr.S.T.M Forest Hospital, Haldwani.

३४. डॉ. विशाल मागो

Head Plastic Surgery Unit, U.F.H.T Medical College & Dr.S.T.M Forest Hospital, Haldwani.

३५. डॉ० महावीर अग्रवाल

प्रोफेसर संस्कृत विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
उपाध्यक्ष, उत्तराखण्ड संस्कृत अकादमी, हरिद्वार (उत्तराखण्ड)

शोधलेख विषयक दिशानिर्देश

- ❑ गुरुकुल-शोध-भारती गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय की षाण्मासिक शोध-पत्रिका है। यह प्रमुख रूप से वेद, वैदिक एवं लौकिक साहित्य, धर्म, दर्शन, संस्कृति, योग, आयुर्वेद तथा अन्य प्राच्यविद्या से सम्बन्धित शोधपरक आलेखों को प्रकाशित करने के लिये कृतसङ्कल्प है।
- ❑ गुरुकुल-शोध-भारती में शोधनिबन्ध मूल्याङ्कन कराने के पश्चात् प्रकाशित किये जाते हैं। अतः विद्वान् लेखकों से अनुरोध है कि वे वही निबन्ध इस पत्रिका के लिये प्रस्तुत करें, जो सब प्रकार से शोध की कसौटी पर खरे हों।
- ❑ शोध-निबन्ध मौलिक होना चाहिये। किसी अन्य विद्वान् की पुस्तक अथवा निबन्ध की नकल करके निबन्ध भेजना बौद्धिक अपराध तथा अपनी प्रतिभा का हनन है।
- ❑ गुरुकुल-शोध-भारती में केवल शोध-निबन्ध ही प्रकाश किये जायेंगे। जिनमें शोध-प्रविधि का प्रयोग नहीं किया गया है, ऐसे लेखों को प्रकाशित करना सम्भव नहीं होगा।
- ❑ किसी अन्य पत्रिका में पूर्व प्रकाशित निबन्ध को पुनः प्रकाशित करने के लिये कृपया न भेजें।
- ❑ शोध-निबन्ध में लेखक का निष्कर्ष सुसङ्गत, प्रमाणिक एवं तथ्यों पर आधारित तथा परम्परा से पोषित होना चाहिये। साथ ही उसमें अपने कथन या निष्कर्ष को पुष्ट करने के लिये न्यूनतम १५ से अधिक प्रमाण देने चाहिये।
- ❑ अन्धविश्वास को बढ़ावा देने वाले निबन्धों को प्रकाशित करना सम्भव नहीं हो सकेगा, अतः अन्धविश्वास का समर्थन करने वाले निबन्ध कृपया न भेजें।
- ❑ गुरुकुल-शोध-भारती में प्रकाशन हेतु शोधनिबन्ध की मूलप्रति प्रेषित करें, फोटो स्टेट प्रति स्वीकार्य नहीं होगी। साथ ही हस्तलिखित लेख भी स्वीकार नहीं होंगे। अतः विद्वानों से अनुरोध है कि टंकण के उपरान्त शोधन करके लेख प्रेषित करें, जिससे लेख शुद्धतम रूप में प्रकाशित किया जा सके।
- ❑ अधिक उचित होगा कि आप अपना निबन्ध माइक्रोसोफ्ट वर्ड डाक्यूमेंट में टाइप करायें और फुटनोट ALT+CTRL+F के माध्यम से डालें। इस प्रकार फुटनोट डालने में त्रुटि की सम्भावना नहीं रहती है। यदि उक्त उपाय अपनाना संभव न हो तो फुटनोट निबन्ध के अन्त में दें, जिससे उनको यथास्थान प्रस्तुत किया जा सके।
- ❑ टंकण कराते समय यह ध्यान रखना अपेक्षित है कि निबन्ध 'कृतिदेव ०१०' अथवा वॉकमैन चाणक्य के साइज १४ में टाइप कराया जाए। टंकण के उपरान्त, शोधन करके सी.डी. अथवा ईमेल से प्रेषित करें।
- ❑ विद्वान् ईमेल से भी अपने निबन्ध प्रेषित कर सकते हैं। ईमेल का पता है- gyanprakashshastri@gmail.com or gyanprakashshastri@live.com
- ❑ सी.डी. अथवा ईमेल के साथ-साथ लेखक को अपने शोधलेख की हार्ड कॉपी प्रेषित करना भी आवश्यक है, जिससे मूल्यांकन के लिये शोधलेख प्रेषित किया जा सके।

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

श्री स्वामी श्रद्धानन्द अनुसंधान प्रकाशन केन्द्र के प्रकाशन

क्र.सं.	पुस्तक का नाम	कीमत रु.
1.	स्वामी श्रद्धानन्द	500 रु.
2.	वेद का राष्ट्रिय गीत	200 रु.
3.	श्रुतिपर्णा	95 रु.
4.	वैदिक साहित्य संस्कृति एवं समाज दर्शन	500 रु.
5.	वेद और उसकी वैज्ञानिकता	300 रु.
6.	शोध सारावली	220 रु.
7.	भारतवर्ष का इतिहास (दो खंडों में)	350 रु. प्रति खंड
8.	क्लासिकल राइटिंग ऑन वैदिक एण्ड संस्कृत लिट्रेचर	80 रु.
9.	दीक्षालोक	500 रु.
10.	स्वामी श्रद्धानन्द के सम्पादकीय लेख	500 रु.
11.	स्वामी श्रद्धानन्द की सम्पादकीय टिप्पणियां	450 रु.
12.	कुलपुत्र सुनें	300 रु.
13.	गिल्मस आफ़ इनवायरमेन्टल परसेप्ट्स ऑफ़ वैदिक लिट्रेचर	50 रु.
14.	स्वामी श्रद्धानन्द समग्र मूल्यांकन	300 रु.
15.	पं० इन्द्रविद्यावाचस्पति कृतित्व के आयाम	300 रु.
16.	बातें मुलाकातें	125 रु.
17.	वेदों की वर्णन शैलियां	50 रु.
18.	हिन्दी काव्य को आर्यसमाज की देन	400 रु.
19.	श्रुति विचार सप्तक	500 रु.
20.	स्तूप निर्माण कला	55 रु.
21.	ईशोपनिषद्भाष्य	40 रु.
22.	इन्द्रविद्यावाचस्पति	40 रु.
23.	भारतवर्ष का इतिहास (तृतीय खंड)	55 रु.
24.	अग्निहोत्र	25 रु.
25.	वेद विमर्श	25 रु.
26.	आधुनिक भारत में वक्तृत्व कला की प्रगति	25 रु.
27.	आहार	35 रु.
28.	वैदिक वन्दना गीत	25 रु.
29.	ऋषिदेव विवेचन	25 रु.
30.	विष्णु देवता	25 रु.
31.	सोम	20 रु.
32.	ऋषि दयानन्द का पत्र व्यवहार	25 रु.
33.	अध्यात्म रोगों की चिकित्सा	40 रु.
34.	गुरुकुल की आहुति	12 रु.
35.	ब्राह्मण की गौ	25 रु.
36.	ऋषि-रहस्य	25 रु.
37.	धर्मोपदेश (भाग प्रथम और द्वितीय)	25 रु. प्रति खंड
38.	वैदिक कर्तव्य शास्त्र	40 रु.
39.	मेरा धर्म	500 रु.
40.	गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय कलेण्डर भाग-1	250 रु.

विश्वविद्यालय से प्रकाशित होने वाली पत्रिकाओं का विवरण

1.	गुरुकुल पत्रिका	वार्षिक मूल्य 100 रु.
2.	वैदिक पांथ	वार्षिक मूल्य 100 रु.
3.	प्राकृतिक एवं भौतिकीय शोध विज्ञान पत्रिका	वार्षिक मूल्य 500 रु.
4.	आर्य भट्ट	वार्षिक मूल्य 100 रु.
5.	गुरुकुल बिजनेस रिव्यू (GBR)	वार्षिक मूल्य 100 रु.

नोट :- ये सभी पुस्तकें कुलसचिव, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय के नाम डाफ़्ट भेजकर निम्न पते से प्राप्त की जा सकती है। क्रमांक १ से १२ एवं क्रमांक १८ तथा १९ पर ५० प्रतिशत तथा अन्य सभी पुस्तकों पर २० प्रतिशत की छूट देय है।

पुस्तकें भंगाने का पता :- पुस्तकालयाध्यक्ष/व्यवसाय प्रबन्धक, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार-२४१४०४ (उत्तराखण्ड)